

श्री चन्द्रधि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[संक्रम आदि करणन्नय-प्ररूपणा अधिकार]

(सूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दौ व्याख्याकार

प्रमणसर्वे प्रवर्तक भरुधरके सरी
श्री मिश्रीमल जी महाराज

दिशा निदेशक

मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्दजी म० रजत

सम्प्रेक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझान हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वागीण तथा प्रायाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक श्लोकों से आज उनकी मार्ग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तारपूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन हुआ है।

पुज्य गुरुदेव श्री मस्तिष्केसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रीड़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी बुद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीगुरु श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३६ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया । गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व संपते हुए फरमाया—
 ‘मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर
 लो ।’ उस समय यह बात सामान्य लग रही थी । किंसे ज्ञात था कि
 गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे । किन्तु क्रूर काल
 की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि
 १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वव
 एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई । गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे
 संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय
 क्षति अनुभव करने लगा ।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना शम किया और
 जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य
 गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधरामूषण श्री सुकन्तमुनि जी महाराज
 के मार्गशीर्ण में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है । श्रीयुत
 सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण
 सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों
 के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है ।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ
 को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है ।

भाषा है जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे ।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान

जोधपुर

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ सूतिमान बनकर अशुद्धदशा में संसार में परिघ्रनण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दवल्लभ होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में दिन रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रबाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसमाप्ति है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण को विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कर्म च जाई मरणस्त सूलं। भगवान् श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसके साथ संबद्ध कर्म को है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुढ़गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवतीं आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान् और शक्तिसमाप्त बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नीकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत् के समस्त परिवर्तनों का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है । जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है । वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वदभोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है । थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गृथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है ।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पञ्चसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान है । इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मबाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रत्युत कर दिया गया है । ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं । गुजराती में भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है । हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम थद्वेय गुरुदेवथी के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ । पूज्य गुरुदेवथी के मार्गदर्शन में पञ्चसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नहीं आ सका, यह कभी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवथी की मावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों को समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इससे सभी लाभान्वित होंगे ।

—सुकन्तमुनि

सम्पादकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसङ्ग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रघि महत्तरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। तरनु विचार हो या ही और गाली (मारवाड़) में विराजित पूज्य गुरुदेव महादरकेसरी, अमण्डूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

मने ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो ही ही चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया— विचार प्रशंसत है और चाहता भी है कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी जारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से समर्पण होगा ही, आपकी की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक धम को तियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनै-कंथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनयुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवकी ने प्रमोद व्यक्त कर फरमाया— चरैवेति-चरैवेति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कर्मपयङ्गी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया।

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले सूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समरक काव्य की उभयगमता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थ कृतज्ञ है। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधरामूषण श्री सुकनमुनिजी का हादिक आभार मानता है कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की गूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृत विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का स्वनेह आभारी है। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि संदान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपण भी न हो जाये। किर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्वल्पना मानकर श्रुटि का संशोधन, परिमार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे ज्ञानचुद्धि में सहायता होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनम्र अद्वाजलि के रूप में—

त्वदीर्घं वस्तु गोविन्द ! कुम्भमेल समर्प्यते ।

के अनुसार उन्होंने सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला

बीकानेर, ३३४००१

विनीत

देवकुमार जैन

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिथ्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भाँति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-बृद्ध, नारी-गुरु, श्रमण-धर्मजी एवं लालूर सुए हैं और सब उस महान् विराट् व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिथ्रीमल जी महाराज !

पता नहीं वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पृण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भाँति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेज-स्वता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न वाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यौवन की नदी बुद्धांगे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, रीमाएँ व्यापक बनती गईं, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएँ बनकर गांव-नगर-बन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य दूधने की अंतिम घड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणों को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिथ्रीमल जी महाराज

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलविन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा। उनके जीवन-सागर की गहराई में उत्तरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियाँ हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव-जीवन का ऐसा कौन सा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था। उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्व-शक्ति, प्रबन्धनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्वशमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, म जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे। उनकी गणना करता असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है। महान् ताविक आचार्य शिद्धसेन के शब्दों में—

कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्
मीयेत केन जलधोर्नेन रत्नराष्ट्रः

फल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उच्चालं खाकर वाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियाँ सामने दीखती जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से वाहर होते हैं।

जीवन रेखाएँ

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि. सं० १८४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली जहर में हुआ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया। १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ। उस समय श्रद्धेय गुरु-देव श्री मानमलजी म. एवं रवि गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। काल का ग्रास बनते-बनते बच गये।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड़ आई। उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कंठा जग पड़ी। इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १८७५, माघ वदी

७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया । वि. सं. १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के करन्कमलों से आपने दीक्षा रत्न प्राप्त किया ।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी । प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी । छोटी उम्र में आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया । प्रबन्धनशैली की ओजस्विता और प्रभाववाता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया ।

वि. सं. १९८५ पौष बदि प्रतिपदा को मुहूर्देव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया । अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का भमस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा । किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे । गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे । इस हाट से स्थानांगसूत्र-विणित चार जिष्यों (पुत्रों) में आपको अभिजात (अंगठतम्) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त कृद्धि-बंभव को दिन दूना रात चौमुना बढ़ाता रहता है ।

वि. सं. १९९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरु-शरकेसरी पद से विभूषित किया गया । वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी यिह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं ।

रथानवावासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास धर्मणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे । समय-समय पर टूटती कड़ियां जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदर्शिता के साथ निवारण करता, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता वा नमूना है कि बहुत धर्मणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये ।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-प्रहण के लिए आम्रह हुआ तो जगरी ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्यसम्माट (उस समग्र उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की बृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टबादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसंघ के गैरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकड़ों काव्य, हजारों पद-छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव पशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कविता, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल ग्रन्थ गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अनुठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के सान्निध्य में ही पंचसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के मुयोग्य जिया थी सुकनमुनि जी के निदेशन में सम्पन्न हो रहा।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आपश्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदृशिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोकाशाह गुरुकुल (सादड़ी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अपेक्ष स्थानों इन स्थापित 'पुस्तकालय, प्रकाशन संस्थाएँ' शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी महाराज भासाशाह और खिमा देदराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज-सेवा की, आप एक अर्किचन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी संस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से गुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्संकोच, विना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुँच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्ची को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्ची के प्रति अद्वादनत रहते। यही है सच्चे संत की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा में उन्नि रख, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में उत्त प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरकेसरी जो म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियाँ होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

थ्रमणसंघ और मरुधर के उस महान मंत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का हृष्य, शब्दात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद ज्ञातादियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जेतारण के उत्तिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-सूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार ती अपार जनमेदिनी से संकुल शब्दात्रा का वह जल्स लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने ट्रैक्टरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर आये थे। इस प्रकार उस महापुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा, उससे भी अधिक व्यापक और अद्वा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणों में शत-शत बनदन !

—श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'

प्राक्कृथिन्

जैन दर्शन में कर्मवाद के विचार की आद्य इकाई कर्म का स्वरूप है और कर्म के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों के विभिन्न भत हैं। कोई कर्म को चेतननिष्ठ और कोई अचेतन का परिणाम मानते हैं। इस मतभिन्नता का परिणाम यह हुआ कि कर्म के सद्भाव को स्वीकार करते हुए भी वे दार्शनिक कर्मवाद के अन्तर्हस्य का दिग्दर्शन नहीं करा सके। इसके साथ ही अन्य दर्शनों के साहित्य में आत्मा की विकसित दशा का वर्णन विशद रूप में किया गया वेखने को मिलता है। लेकिन विकसित दशा में इसकी क्या स्थिति होती है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के पूर्व किन-किन अवस्थाओं को पार किया और उन अवस्थाओं में आत्मा की क्या स्थिति होती है आदि एवं विकास का मूल आधार क्या है? इसका वर्णन ग्रामः जहूत ही अत्य प्रमाण में देखने को मिलता है। जबकि जैन दर्शन की कर्म-विचारणा में यह सब वर्णन विपुल और विशद रूप में किया गया है। इस वर्णन के बहुत से आयामों का निरूपण ग्रंथ के पूर्व अधिकारों में किया जा चुका है। और धारे के अधिकारों में भी अन्य प्रश्नों पर विचार चर्चा की जायेगी। किन्तु प्रकृत अधिकार में आत्म-परिणामों के हारा कर्म दलिकों में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं और वे परिवर्तित कर्म दलिक किस रूप में अपना विपाक वेदन करते हैं, आदि का वर्णन किया जा रहा है। इस प्रक्रिया को शास्त्रीय शब्दों में संक्षम कहते हैं और इस संक्षम में आत्म-परिणाम कारण हैं। अतएव इन परिणामों का बोध करने के लिये 'करण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस संक्षमकरण का ग्रंथकार आचार्य ने जिस क्रम से वर्णन किया है, उसका विषय परिचय के रूप में संकेत करते हैं।

अधिकार को ग्रामम् करते हुए सर्वप्रथम आचार्य ने संक्षम का सामर्थ्य लक्षण बतलाया है कि परस्पर एक का बदलकर दूसरे रूप में हो जाना। जिसका आशय यह हुआ कि वध्यमान प्रकृतियों में अवध्यमान प्रकृतियों का

अपने स्वरूप को छोड़कर मिल जाता, वध्यमान प्रकृति रूप में परिणमन होना संक्रम कहलाता है। वध्यमान प्रकृतियों का भी परस्पर में संक्रम होता है। इनके कुछ अपवाद भी हैं। जैसे कि मूल प्रकृतियों का परस्पर में संक्रम नहीं होता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय तथा आशु कर्म की उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होता है।

इस प्रकार सामान्य से संक्रम का लक्षण निर्देश करने के बाद पूर्व की तरह प्रकृति, रिथर्ति, धगुआद और प्रदैह इन चार से दो गोपनीय विस्तार से विचार करना प्रारम्भ किया है।

प्रकृति संक्रम में संक्रम का पूर्वोक्त सामान्य लक्षण बटित करके एवं तत्संबन्धी अपवादों का कारण सहित स्पष्टीकरण करके जिन प्रकृतियों में प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं उनकी संज्ञा का निर्देश किया है कि वे पतदग्रह प्रकृति कहलाती हैं एवं इन प्रकृतियों सम्बन्धी आवादों को भी बतलाया है।

तत्पश्चात् संक्रमापेक्षा मूल कर्म प्रकृतियों के सादि-अनादि भंग नहीं होने से उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्रलृपणा का विचार किया है। और इसके बाद संक्रम्यमाण प्रकृतियों के स्वामित्व की प्रलृपणा की है।

विस प्रकार से पूर्व में संक्रम्यमाण उत्तर प्रकृतियों की साद्यादि प्रलृपणा का विचार किया है, उसी तरह पतदग्रह प्रकृतियों की भी साद्यादि प्रलृपणा का कथन किया है। फिर संक्रम और पतदग्रह स्थानों का विचार किया है। प्रत्येक कर्म की एक साथ कितनी प्रकृतियाँ संक्रमित हो सकती हैं, और ऐ कितनी प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। एतदविषयक मोहनीय और नामकर्म की प्रकृतियों का विस्तार से वर्णन किया है।

इसके बाद संक्रम और पतदग्रहस्थानों की साद्यादि प्रलृपणा की है। इसके साथ ही मोहनीय कर्म के संक्रमस्थानों एवं पतदग्रहस्थानों के बारे में विस्तार से चर्चा की है।

तत्पश्चात् नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतदग्रहस्थानों की विस्तार से चर्चा की है और उसके बाद अन्त में प्रकृतिसंक्रम आदि के आशय को साझा किया है।

इस भवार से प्रहृतिसंक्रम संदर्भों उत्तर सम्म पर्यन्त आदि की ३४ गाथाओं में किया है और उसके बाद स्थितिसंक्रम के भेद, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट-जघन्य-स्थितिसंक्रम प्रमाण, और सान्नादि-प्ररूपणा इन पाँच अर्थात्-कारों का यथाक्रम से विचार किया है। उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिसंक्रम की प्ररूपणा करने के प्रसंग में स्वामित्व का भी विचार किया है तथा स्थिति-संक्रम को बताने के लिये प्रकृतियों का बंधोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा इस प्रकार से वर्णकरण किया है।

इसके अनन्तर स्थितिसंक्रम की अपेक्षा मूल और उत्तर-प्रकृतियों की सान्नादि-प्ररूपणा की है और इसके साथ ही स्थितिसंक्रम विषयक विवेचन पूर्ण हुआ।

अनुभागसंक्रम का विचार भेद, विशेष लक्षण, स्पर्धक, उत्कृष्ट और जघन्य अनुभागसंक्रमप्रमाण, स्वामित्व और सान्नादि-प्ररूपणा इन सात अनुयोगद्वारों से किया है। स्पर्धक प्ररूपणा में रसम्पद्धतियों के सर्वधाति, देशधाति और अधाति यह तीन प्रकार एवं स्थान संज्ञा की अपेक्षा एक-स्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुरस्थानक यह चार भेद किये हैं। इन धाति और स्थान संज्ञा में कौन-कौन प्रकृतियाँ गम्भित हैं। इसका कारण सहित वर्णन किया है। तदनन्तर संक्रमापेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य रस का प्रमाण बतलाकर उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग संक्रम के स्वमित्यों का निरूपण किया है। तत्पश्चात् अनुभाग संक्रम की अपेक्षा मूल एवं उत्तर प्रकृतियों की सान्नादि प्ररूपणा पूर्वक अनुभागसंक्रम संबन्धी निरूपण पूर्ण हुआ।

इसके बाद क्रम-प्राप्त प्रदेशसंक्रम का विवेचन किया है। इस विवेचन के भेद, लक्षण, सान्नादि-प्ररूपणा, उत्कृष्ट-जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामी यह पाँच अर्थात्-कार हैं।

भेद अधिकार में विध्यात, उद्वलन, यथात्रवृत्त, गुण और सर्वसंक्रम इन पाँच प्रकार के प्रदेशसंक्रमों का विस्तार से एवं संक्रम के रूप में मान्य स्तिवृक संक्रम का विवेचन किया है। इन पाँचों प्रकारों में कौन किसका आधक है, किस क्रम से इनकी प्रवृत्ति होती है और कौन-कौन प्रकृतियाँ कब किस संक्रम के पोम्य होती हैं, आदि का विस्तार से विचार किया है। तत्पश्चात् सान्नादि

प्रस्तुपणा एवं स्वामित्व विचारणा के प्रसंग में गुणित कमीश और क्षणित कमीश जीवों की विशद् व्याख्या की है। जो कमीशः उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशसंक्रम के अधिकारी हैं।

इस प्रकार से प्रदेशसंक्रम के अधिकृत विषयों का विवेचन करने के साथ संक्रमकरण का वर्णन समाप्त हुआ। संक्रमकरण के अधिकृत विषयों का वर्णन ११६ गाथाओं में किया है।

इसके पछास् एक प्रकार से संक्रम के भेद जैसे उद्वर्तना और अपवर्तना इन दो करणों का वर्णन किया है। संक्रम और इन दो करणों में यह अन्तर है कि संक्रम तो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चारों का होता है, किन्तु उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण स्थिति और अनुभाग के विषय में होते हैं। इन उद्वर्तना और अपवर्तना के स्थिति और अनुभाग के भेद से दो मुख्य प्रकार हैं और इन दो प्रकारों में से प्रत्येक के निष्पत्तित, व्याघ्रत के भेद से दो-दो प्रकार हो जाते हैं।

संखेय में यह संक्रम आदि तीन करणों के विचारणीय विषयों की रूपरेखा है। यह तो सकेत मात्र है। विस्तृत और विशद् ज्ञानकारी के लिये पाठकगण पूरे अधिकार का अध्ययन करें, यही अपेक्षा है।

—बेवकूफार जैन

विषयानुक्रमणिका

संक्षमकारण

| | |
|--|-------|
| गाथा १ | ३-६ |
| संक्षम का लक्षण | ३ |
| संक्षम विषयक स्पष्टीकरण | ४ |
| गाथा २ | ६-७ |
| संक्षमित प्रकृतियों की आधारभूत प्रकृतियों की संज्ञा | ६ |
| गाथा ३, ४ | ७-१२ |
| संक्षम लक्षण सम्बन्धी अपवाद | ८ |
| संक्षम, पतदग्रह के दो-दो प्रकार होने के हेतु | १० |
| गाथा ५ | १२-१४ |
| संक्षम सम्बन्धी विशेष अपवाद | १३ |
| गाथा ६, ७ | १४-१६ |
| पतदग्रह विषयक अपवाद | १५ |
| गाथा ८ | १६-१८ |
| प्रकृति संक्षमापेक्षा उत्तर प्रकृतियों की सांख्यादि प्रलृपणा | १७ |
| गाथा ९ | १८-२३ |
| संक्षम्यमाण प्रकृतियों का स्वामित्व | १८ |
| गाथा १० | २२-२३ |
| पतदग्रहापेक्षा प्रकृतियों की सांख्यादि प्रलृपणा | २२ |

| | |
|---|-------|
| गाथा ११, १२ | २३-४३ |
| दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान | २५ |
| ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान | २५ |
| वेदनीय और गोत्र कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान | २६ |
| मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान | २८ |
| मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थान | ३४ |
| उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्रहिट की मोहनीय की संक्रम-पतद्ग्रह विधि | ३७ |
| उपशमश्रेणि में वर्तमान ज्ञायिक सम्यग्रहिट की मोहनीय की संक्रम-पतद्ग्रह विधि | ४० |
| क्षपकश्रेणि में वर्तमान ज्ञायिक सम्यग्रहिट की मोहनीय की संक्रम-पतद्ग्रह विधि | ४२ |
| गाथा १३ | ४८-४९ |
| ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों के सादादि भंग | ४८ |
| वेदनीयकर्म के सादादि भंग | ४९ |
| गोत्रकर्म के सादादि भंग | ४९ |
| मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह-संक्रमस्थानों के सादादि भंग | ४६ |
| गाथा १४ | ४७-४८ |
| दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों के सादादि भंग | ४७ |
| गाथा १५ | ४६ |
| दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों को जानने की विधि | ४६ |
| गाथा १६ | ५० |
| मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान जानने की विधि | ५० |
| गाथा १७ | ५१-५२ |
| गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान | ५१ |

| | |
|---|-------|
| गाथा १८ | ५२-५३ |
| मोहनीयकर्म के अठारह पतदग्रहस्थान होने में युक्ति | ५२ |
| गाथा १९, २० | ५४-५७ |
| श्रेणी की अपेक्षा मोहनीयकर्म के पतदग्रहस्थानों में संकरम- स्थान | ५४ |
| गाथा २१, २२, २३, २४ | ५८-६१ |
| मिद्याद्विट आदि गुणस्थानों तथा औषधमिक सम्याहस्ति के उपशमश्रेणि में मोहनीय के पतदग्रहस्थानों में संकरमस्थान | ५८ |
| गाथा २५ | ६१-६२ |
| क्षपकश्रेणि के पतदग्रहस्थानों में मोहनीयकर्म के संकरमस्थान | ६२ |
| गाथा २६, २७, २८ | ६३-६६ |
| क्षायिक सम्याहस्ति के उपशमश्रेणि में मोहनीयकर्म के पतद- ग्रहस्थानों में संकरमस्थान | ६३ |
| गाथा २९ | ६६-७० |
| अविरत आदि गुणस्थानों के पतदग्रहस्थान नामकर्म के संकरमस्थान और पतदग्रहस्थान | ६७ |
| गाथा ३०, ३१, ३२ | ७०-७१ |
| नामकर्म के पतदग्रहस्थानों में संकरण | ७१ |
| गाथा ३३ | ७१-७५ |
| प्रकृतिसंकरम में प्रकृतिसंकरम का रूपका | ७१ |
| गाथा ३४ | ७५-७६ |
| प्रकृतिसंकरम विषयक कथन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर | ७५ |
| गाथा ३५ | ७७-७८ |
| स्थितिसंकरम के अर्थाधिकारों के नाम | ७७ |
| स्थितिसंकरम का लक्षण व भेद | ७७ |
| गाथा ३६ | ७८-८० |
| प्रकृतियों का वर्गीकरण एवं बंधोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा प्रकृ- तियों के नाम | ८८ |

| | |
|--|---------|
| गाथा ३७ | ६१-६३ |
| पूर्वोत्तर उत्कृष्टा वर्गद्रव्य की प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का परिभास ६५ | ६५ |
| गाथा ३८, ३९ | ६६-६७ |
| तीव्रंकरनाम, आहारकसप्तक एवं आयुचतुष्क का बंध, संक्रम उत्कृष्टत्व विषयक समाधान ६४ | ६४ |
| गाथा ४०, ४१ | ६७-१०१ |
| पतद्वयह प्रकृति के बंधाभाव से भी संभव संक्रमवाली प्रकृतियों की स्थिति के संकेत का प्रमाण ६६ | ६६ |
| गाथा ४२ | १०१-१०३ |
| बंधोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की यत्स्थिति १०१ | १०१ |
| उत्कृष्ट संक्रमस्थिति एवं यत्स्थिति का प्रारूप १०३ | १०३ |
| गाथा ४३ | १०३-१०५ |
| आयुकर्म की यत्स्थिति १०३ | १०३ |
| जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण १०४ | १०४ |
| गाथा ४४ | १०५-१०६ |
| जघन्य स्थितिसंक्रम-हवामी १०६ | १०६ |
| गाथा ४५ | १०६-१०७ |
| जघन्य स्थिति संक्रम का लक्षण १०७ | १०७ |
| गाथा ४६ | १०८-१०९ |
| संज्वलनलोभ, ज्ञानावरणपञ्चक, अंतरायपञ्चक, दशानावरण चतुष्क, आयुचतुष्क का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण १०८ | १०८ |
| गाथा ४७ | १०९-११० |
| सम्पदत्वमोहनीय का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण ११० | ११० |
| गाथा ४८ | १११-११२ |
| निहाद्रिक, हास्पषट्क का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण १११ | १११ |

| | |
|--|---------|
| गाथा ४६ | ११३-११८ |
| पुरुषवेद, संज्वलनश्चिक, सथोगिगुणस्थान में अंत होने वाली प्रकृतियों का जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण | ११३ |
| स्त्यानद्विशिक आदि बत्तीस प्रकृतियों का जघन्य स्थिति संक्रमप्रमाण | ११६ |
| मिष्यात्व और मिश्रमोहनीय, अनन्तानुबंधिचतुष्क, स्त्यानद्विशिक आदि प्रकृतियों के जघन्य स्थिति संक्रम के स्वामी | ११६ |
| गाथा ५७ | ११८-१२० |
| स्थितिसंक्रमापेक्षा मूल प्रकृतियों की सादादि प्रलृपणा | ११८ |
| गाथा ५१ | १२०-१२३ |
| स्थितिसंक्रमापेक्षा उत्तर प्रकृतियों की सादादि प्रलृपणा | १२२ |
| अनुभाग संक्रम प्रलृपण के अर्थाधिकार | १२३ |
| गाथा ५२, ५३ | १२३-१२८ |
| अनुभाग संक्रम के भेद, विशेष लक्षण और स्पर्धक की प्रलृपणा एवं तत्संबन्धी स्पष्टीकरण | १२४ |
| गाथा ५४ | १२८-१२६ |
| मिश्रमोहनीय, आतप, मनुप्य-तिर्यचायु, सम्यक्त्वमोहनीय का अनुभाग संक्रम की अपेक्षा रस | १२८ |
| गाथा ५५ | १२६-१३० |
| संक्रमापेक्षा उत्कृष्ट रस का प्रमाण | १३० |
| गाथा ५६ | १३०-१३२ |
| संक्रमापेक्षा पुरुषवेद, सम्यक्त्वमोहनीय, संज्वलनचतुष्क एवं शेष प्रकृतियों का जघन्यरस का प्रमाण | १३१ |
| गाथा ५७ | १३३-१३५ |
| अणुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का स्वामित्व | १३३ |

| | |
|---|---------|
| गाथा ५८ | १३५—१३७ |
| आत्म, उद्योग, औदारिकसप्तक, प्रथम संहनन, मनुष्यादिक, आयुचतुष्क एवं शेष शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का स्वामित्व | १३५ |
| उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम-स्वामित्व वर्णक प्रारूप | १३७ |
| गाथा ५९, ६० | १३८—१४० |
| जघन्य अनुभाग संक्रम स्वामित्व की सामान्य भूमिका | १३८ |
| गाथा ६१ | १४०—१४१ |
| अशुभ और शुभ प्रकृतियों के विषय में सम्यग्दृष्टि हारा किया जाने वाला कार्य | १४० |
| गाथा ६२ | १४२—१४३ |
| धाति एवं आयु चतुष्क प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग संक्रम का स्वामित्व | १४२ |
| गाथा ६३ | १४३—१४५ |
| अनन्तानुवंधिचतुष्क, तीर्थकरनाम और उद्वलन कथाय प्रकृतियों के अधन्य अनुभाग संक्रम का स्वामित्व | १४४ |
| गाथा ६४, ६५ | १४५—१४६ |
| अनुभाग संक्रमापेक्षा मूल प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा | १४५ |
| गाथा ६६ | १४६—१५१ |
| अनुभाग संक्रमापेक्षा अनन्तानुवंधिचतुष्क, संज्ञलन कथाय चतुष्क, नवनोक्तयाय की साद्यादि प्ररूपणा | १५० |
| गाथा ६७ | १५२—१५७ |
| शुभ धूबंधिनी चौबीस एवं उद्योग, प्रथम संहनन और औदारिक सप्तक की साद्यादि प्ररूपणा | १५२ |
| मूल एवं उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा का प्रारूप | १५५ |
| गाथा ६८ | १५८—१५९ |
| प्रदेशसंक्रम के अर्थादिकारों के नाम | १५८ |
| प्रदेशसंक्रम के भेद और लक्षण | १५९ |

| | | |
|--|--|---------|
| गाथा ६६ | | १५६—१६३ |
| विद्यातसंक्रम का लक्षण | | १५६ |
| विद्यातसंक्रम योग्य प्रकृतियाँ | | १६० |
| विद्यातसंक्रम योग्य प्रकृतियों का दलिक प्रमाण | | १६१ |
| विद्यातसंक्रम योग्य प्रकृतियों का स्वामित्व एवं प्रत्यय का प्रारूप | | १६२ |
| गाथा ६० | | १६३—१६४ |
| उद्वलना संक्रम का लक्षण एवं स्पष्टीकरण | | १६४ |
| गाथा ७१ | | १६५—१६७ |
| स्थिति खंडों के संक्रम के विषय में विशेष कथन | | १६५ |
| गाथा ७२ | | १६७—१७० |
| त्रिवरमस्थिति खंड के संक्रम का स्पष्टीकरण | | १६८ |
| गाथा ७३ | | १७१—१७२ |
| चरम खंड के निर्मल होने का समय प्रमाण | | १७१ |
| गाथा ७४, ७५ | | १७३—१७६ |
| उद्वलना संक्रम के स्वामी | | १७३ |
| गाथा ७६ | | १७६—१७८ |
| यथाप्रवृत्त संक्रम का लक्षण एवं सम्बन्धित स्पष्टीकरण | | १७६ |
| गाथा ७७ | | १७६—१८१ |
| गुणसंक्रम का लक्षण | | १७६ |
| गाथा ७८ | | १८२ |
| सर्वसंक्रम का लक्षण एवं संबन्धित स्पष्टीकरण | | १८२ |
| गाथा ७९ | | १८३—१८४ |
| परस्पर वाधक संक्रम सम्बन्धी स्पष्टीकरण | | १८३ |
| गाथा ८० | | १८५—१८६ |
| तितुक्ष संक्रम का लक्षण एवं तद्योग्य प्रकृतियाँ | | १८५ |
| गाथा ८१ | | १८७—१८८ |
| विद्यात आदि संक्रमों के अपहार काल का अवलम्बन | | १८७ |

| | |
|---|---------|
| गाथा ८२ | १६६-१६० |
| यथाप्रवृत्तसंक्रम के अपहार काल का प्रमाण | १६० |
| गाथा ८३, ८४ | १६१-१६४ |
| प्रदेशसंक्रमांकों उत्तरप्रकृतियों की साथादि प्ररूपणा | १६१ |
| साथादि अर्थ प्ररूपणा का प्रारूप | १६४ |
| गाथा ८५, ८६, ८७, ८८ | १६५-२०१ |
| उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व प्ररूपणा के प्रसंग में गुणित कर्मीश का स्वरूप निर्देश | १६६ |
| गाथा ८९ | २०१-२०८ |
| ओदारिकसंपत्क आदि इक्कीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व | २०२ |
| सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | २०३ |
| गाथा ९१ | २०३-२०४ |
| दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की बल्लीस अशुभ प्रकृ- तियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व | २०३ |
| गाथा ९२ | २०४-२०५ |
| दर्शनभोग्यिक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | २०४ |
| गाथा ९३ | २०५-२०६ |
| अनन्तानुबंधि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | २०५ |
| गाथा ९४, ९५, ९६, ९७ | २०६-२११ |
| भेदकिक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | २०६ |
| संज्वलनविक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | २११ |
| गाथा ९८ | २१२-२१४ |
| संज्वलनलोभ, गोत्रद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | २१२ |
| गाथा ९९ | २१४-२१७ |
| पराधात आदि शुभ श्रूतबंधिनी तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट ^१ प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | २१५ |

| | | |
|---|--|---------|
| गाथा १०० | | २१७-२१८ |
| नरकद्विक, स्थावर, उद्गोत, आतप, एकेन्द्रियजाति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २१७ |
| गाथा १०१ | | २१८-२१९ |
| मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २१९ |
| गाथा १०२ | | २२०-२२१ |
| तीर्थकरनाम, आहारकसप्तक आदि शुभधूवर्दधिनी प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २२० |
| गाथा १०३, १०४, १०५ | | २२१-२२५ |
| क्षणित कर्माण का स्वरूप | | २२२ |
| गाथा १०६ | | २२५-२२७ |
| हास्यद्विक, भय, जुगुप्सा, श्रीणमोहगुणस्थान में क्षय होने वाली प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २२५ |
| गाथा १०७ | | २२७-२२८ |
| स्थानद्वित्रिक, स्त्रीबेद, मिथ्यात्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २२७ |
| गाथा १०८ | | २२८-२३० |
| अरति, शोक, मठ्यम आदि कथाय, शुभवर्दधिनी अशुभ नाम प्रकृति, अस्थिरत्रिक, असातावेदनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २२८ |
| गाथा १०९ | | २३०-२३१ |
| मिश्र व सम्यकरवभोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २३० |
| गाथा ११० | | २३१-२३२ |
| अनन्तानुबंधिचतुर्ज का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २३२ |
| गाथा १११ | | २३२-२३४ |
| आहारद्विक, तीर्थकरनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व | | २३३ |

| | |
|--|---------|
| गाथा ११२, ११३ | २३४—२३६ |
| वैकियएकादशक, मनुष्यद्विक, उच्चगोच का जघन्य प्रदेशसंकम स्वामित्व | २३५ |
| गाथा ११४ | २३७—२३८ |
| सातावेदनीय, पंचेन्द्रियजाति आदि पैतीस घुभ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंकम स्वामित्व | २३७ |
| गाथा ११५ | २३८—२४० |
| तिर्यंचद्विक, उचोत नाम का जघन्य प्रदेशसंकम स्वामित्व | २३९ |
| गाथा ११६ | २४१—२४२ |
| जातिचतुष्क, आतप, स्थावरचतुष्क का जघन्य प्रदेशसंकम स्वामित्व | २४१ |
| गाथा ११७ | २४२—२४३ |
| सम्यग्हटिक्षेष्ठ-अयोग्य सोलह अणुष्ठ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंकम स्वामित्व | २४३ |
| गाथा ११८ | २४३—२४४ |
| आवुचतुष्क, औदारिकसप्तक का जघन्य प्रदेशसंकम स्वामित्व | २४४ |
| गुरुष्वेद, संज्वलनविक का जघन्य प्रदेशसंकम स्वामित्व | २४५ |

उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण

| | |
|---|---------|
| उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण की उत्थानिका | २४७ |
| गाथा १ | २४७—२५१ |
| निष्ठ्यधात स्थिति-उद्वर्तना का निष्पत्ति | २४७ |
| गाथा २ | २५२—२५४ |
| निष्केत्र प्रस्तुपणा | २५३ |
| गाथा ३, ४ | २५४—२५६ |
| जघन्य और उद्कृष्ट निष्केत्र का निष्पत्ति प्रमाण | २५५ |

| | | |
|---|--|---------|
| गाथा ५ | | २५६-२६० |
| उद्वर्तना योग्य स्थितियां | | २५६ |
| गाथा ६, ७, ८ | | २६०-२६६ |
| अ्याधातभाविनी स्थिति उद्वर्तना का स्पष्टीकरण | | २६१ |
| गाथा ९, १० | | २६६-२६८ |
| विवर्धितभाविनी स्थिति-अपवर्तना का निरूपण | | २६६ |
| गाथा ११, १२ | | २६६-२७० |
| स्थिति अपवर्तना का सामान्य नियम | | २६६ |
| उत्कृष्ट और जघन्य निक्षेप | | २६६ |
| गाथा १३ | | २७०-२७१ |
| निक्षेप और अपवर्तना की विषयभूत स्थितियां | | २७१ |
| गाथा १४ | | २७२ |
| अ्याधातभाविनी स्थिति अपवर्तना की व्याख्या | | २७२ |
| गाथा १५ | | २७३-२७५ |
| कंहक निरूपण | | २७३ |
| गाथा १६ | | २७५-२७६ |
| निवृद्धितिनी अनुभाग उद्वर्तना का लक्षण | | २७६ |
| अनुभाग-उद्वर्तना सम्बन्धी निक्षेप प्रमाण | | २७७ |
| विवर्धितभाविनी अपवर्तना की व्याख्या | | २७८ |
| गाथा १७ | | २७६-२८१ |
| अनुभाग उद्वर्तना और अपवर्तना में स्पर्धक कथन का २८० | | |
| नियम | | |
| अनुभाग अपवर्तना में अस्पष्टद्वय | | २८० |

| | |
|---|---------|
| गाथा १८, १९ | २८१-२८३ |
| अनुभाग उद्वर्तना-अपवर्तना का संयुक्त अल्पबहुत्व | २८२ |
| गाथा २० | २८३-२८५ |
| काल और विषय का नियम | २८४ |

परिशिष्ट

| | |
|--|-----|
| संक्षेप आदि कारणश्रम-प्ररूपणा अधिकार की सूल गाथाएँ | २८६ |
| गाथाओं का अवारादि अनुक्रम | २८८ |
| प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा आयु व नामकर्म के अतिरिक्त ज्ञाना-वरणादि छह कर्मों के संक्रमस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा | ३०२ |
| प्रकृति....छह कर्मों के पतद्यग्रहस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा | ३०४ |
| प्रकृति....मोहनीय कर्म के संक्रमस्थानों में पतद्यग्रहस्थान | ३०६ |
| प्रकृति....पतद्यग्रह प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा | ३१२ |
| प्रकृति—संक्रमण १५४ प्रकृतियों के संक्रमस्थानी | ३१३ |
| प्रकृति....संक्रमण १५४ प्रकृतियों के संक्रम की साद्यादि प्ररूपणा | ३१४ |
| प्रकृति....मोहनीय कर्म सम्बन्धी पतद्यग्रहस्थानों में संक्रमस्थान | ३१६ |
| (क) अश्रेणिगत पतद्यग्रहस्थानों में संक्रमस्थान | ३१६ |
| (ख) उपशमश्रेणिवर्ती उपशम सम्यग्रहिति | ३२० |
| (ग) उपशमश्रेणिवर्ती धायिक सम्यग्रहिति | ३२४ |
| (घ) क्षपकश्रेणि | ३२६ |
| प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा नामकर्म के पतद्यग्रहस्थानों में संक्रमस्थान | ३२८ |
| प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा नामकर्म के संक्रमस्थानों में पतद्यग्रहस्थान | ३३५ |
| स्थितिखण्डों की उत्कीरण विष्टि का प्रारूप | ३४० |
| उत्कृष्ट-जघन्य स्थितिसंक्रम वत्स्थिति प्रमाण एवं स्वामी दर्शक प्रारूप | १ |
| अनुभाग संक्रम प्रमाण एवं स्वाभित्व दर्शक प्रारूप | ४ |
| प्रदेशसंक्रम रवाभित्व दर्शक प्रारूप | ७ |
| विद्यात आदि पंच प्रदेश संकर्मों में संकलित प्रकृतियों की सूची | १३ |

७. : संक्रम आदि करणत्रय-प्रलृपणा अधिकार

यथाक्रम निर्देश करने के न्यायानुसार बंधनकरण के अनन्तर अब प्रथकार आचार्य बंधसापेक्ष संक्रम आदि तीन करणों का निरूपण करते हैं। उनमें भी संक्रमकरण का विवेचन प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम संक्रम का लक्षण कहते हैं।

संक्रम का लक्षण

बज्जंतियासु इयरा ताओवि य संक्रमंति अन्नोन्नं ।

जा संतयाए चिट्ठाहि बंधाभावेवि दिट्ठीओ ॥१॥

शब्दर्थ—बज्जंतियासु—बंधने वाली प्रकृतियों में, इयरा—दूसरी—अन्य, ताओ—उनका, वि—भी, य—और, संक्रमंति—संक्रमण होता है, अन्नोन्नं—परस्पर—एक दूसरे का, जा—जो, संतयाए—सत्ता से, चिट्ठाहि विद्यमान हैं, बंधाभावेवि—बंध का अभाव होने पर भी, दिट्ठीओ—हड्डियों का।

गाथार्थ—जो प्रकृतियां सत्ता में विद्यमान हैं, उन अब्द्यमान प्रकृतियों का बंधने वाली प्रकृतियों में संक्रमण होता है। उसे संक्रम कहते हैं तथा अब्द्यमान प्रकृतियों का परस्पर एक-दूसरे में जो संक्रम होता है, वह भी संक्रम कहलाता है। बंध का अभाव होने पर भी दृष्टियों (दर्शनमोहनीय की हड्डियिक) का संक्रम होता है।

विशेषार्थ—गाथा में संक्रम का लक्षण बतलाया है। जिसका विशदता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

बंध की तरह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग-रस और प्रदेश रूप विषय के भेद से संक्रम भी चार प्रकार का है।

सामान्य से तो संक्रम का लक्षण है कि परस्पर एक का बदलकर दूसरे रूप हो जाना। लेकिन विशेषता के साथ इसका आशय यह हुआ कि बध्यमान प्रकृतियों में अबध्यमान प्रकृतियों का जो संक्रम होता है अर्थात् बध्यमान प्रकृति रूप में परिणमन होता है, अपने स्वरूप को छोड़कर बंधने वाली प्रकृति के रूप में परिवर्तित होकर उसके स्वरूप को प्राप्त करती है, उसे संक्रम कहते हैं। जैसे कि बध्यमान सातावेदनीय में अवध्यमान असातावेदनीय संक्रमित होती है बथवा बंधने हुए उच्चगोत्र में महां बंधते हुए नीचगोत्र का संक्रम होता है, वह संक्रम है। जो प्रकृति जिसमें संक्रांत होती है, वह प्रकृति उस रूप हो जाती है। असातावेदनीय जब सातावेदनीय में संक्रांत होती है तब सातावेदनीय रूप हो जाती है यानी वह सातावेदनीय का ही सुख उत्पन्न करने रूप—कार्य करती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये तथा बध्यमान प्रकृतियों का भी, जैसे कि बध्यमान श्रुतज्ञानावरण में बध्यमान मतिज्ञानावरण का और बध्यमान मतिज्ञानावरण में बध्यमान श्रुतज्ञानावरण का परस्पर जो संक्रम होता है, वह भी संक्रम कहलाता है।

यहाँ यह जानना चाहिये कि बध्यमान प्रकृतियों में संक्रमकरण के द्वारा जो प्रकृतियाँ संक्रांत होती हैं, वे उस रूप में हो जाती हैं। यानि कि जिसमें संक्रमित होई, उसका कार्य करती है। जैसे नीचगोत्र जब उच्चगोत्र में संक्रांत होता है, तब जितना दलिक उच्चगोत्र के रूप में हुआ वह उच्चगोत्र का ही कार्य करता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि सत्तागत सभी दलिक संक्रांत नहीं होता है, अमुक भाग ही संक्रांत होता है। यथा नीचगोत्र जब उच्चगोत्र में संक्रमित होता है तब नीचगोत्र सर्वथा संक्रमित होकर अपनी सत्ता ही नहीं छोड़ देता है, किन्तु नीचगोत्र का अमुक भाग ही संक्रांत होता है, जिससे उसकी सत्ता बनी रहती है। जितना संक्रांत होता है, उतना ही उस रूप में होता है। यह नियम सर्वत्र ध्यान में रखना चाहिये।

अब किस स्वरूप वाली अवध्यमान प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं, इसको बताते हैं—जिस प्रकृति के दलिक सत्ता में हों, वह संक्रान्त होती है, जिसका क्षय हो गया हो और जिसने अभी अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं किया है अर्थात् जो अभी सत्तारूप में नहीं हुई हो उसका संक्रम नहीं होता है। क्योंकि अनुक्रम से नष्ट हुई होने से और उत्पन्न हुई नहीं होने से उसके दलिकों का ही अभाव है।

बध्यमान प्रकृतियों के दलिक तो सत्ता में होते ही हैं, क्योंकि वे बंधते हैं, इसलिये बंधादलिका के जाने के बाद वह तो संक्रमित हो सकती है, जिससे उनके सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ नहीं उठता है, परन्तु अबध्यमान जो प्रकृतियाँ संक्रान्त होती हैं उनके दलिक जो सत्ता में हैं, वे संक्रमित होते हैं। जो दलिक भोगकर क्षय हो चुके हों, वे क्षय हो जाने से संक्रान्त नहीं होते हैं और जिन्होंने अपने स्वरूप को प्राप्त ही नहीं किया हो, स्वरूप से ही सत्ता में न हों, वे सत्ता में ही नहीं होने से संक्रान्त नहीं होते हैं। तात्पर्य यह कि सत्ता में विद्यमान अबध्यमान प्रकृतियों के दलिक बध्यमान प्रकृति रूप होते हैं।

अबध्यमान प्रकृतियों का बध्यमान प्रकृतियों में अथवा बध्यमान का बध्यमान में जो संक्रम होता है, वह संक्रम कहलाता है, ऐसा जो संक्रम का लक्षण कहा गया है, वह परिपूर्ण नहीं है। क्योंकि मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय बंधती नहीं हैं, लेकिन उनमें मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का संक्रम होता है, इस बात को ध्यान में रखकर विशेष कहते हैं—‘बंधाभावेवि दिद्ठीओ’ अर्थात् पतदग्रह रूप मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय के बंध का अभाव होने पर भी उसमें मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का संक्रम होता है। चौथे गुणस्थान से लेकर चारहवें गुणस्थान तक मिथ्यात्वमोहनीय का मिथ्र और सम्यक्त्वमोहनीय इन दोनों में तथा मिथ्र का सम्यक्त्वमोहनीय में जो संक्रम होता है, उसे भी संक्रम कहा जाता है।

संक्रम का यह लक्षण १. प्रकृतिसंक्रम २. स्थितिसंक्रम ३. अनुभाग (रस) संक्रम और ४. प्रदेशसंक्रम इन चारों में सामान्य रूप से समझना चाहिये। जिससे संक्रम का सामान्य लक्षण यह हुआ—अन्य स्वरूप में वर्तमान प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेशों से तंष्ट्री हुई रवज्ञातीय प्रकृति आदि रूप करना तथा मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय के नहीं बंधने पर भी मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय रूप में करना संक्रम कहलाता है।

१. प्रकृतिसंक्रम

इस प्रकार संक्रम का सामान्य लक्षण कहने के बाद अब जिन प्रकृतियों में संक्रम होता है उनका संज्ञान्तर-अन्य नाम कहते हैं—

संक्रमह जासु दलियं ताओ उ पडिगगहा समखाया ।

जा संरुमआदलियं करणासज्जं भवे दलियं ॥२॥

शब्दार्थ—संक्रमह—संक्रमित होते हैं, जासु—जिनमें, दलियं—दलिक, ताओ उ—वे, पडिगगहा—पतदग्रह, समखाया—कही गई हैं, जा—यावत्, तक, संक्रमआदलियं— संक्रमावलिका, करणासज्जं—करणासाध्य, भवे—होते हैं, दलियं—दलिक ।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियों में दलिक संक्रमित होते हैं, वे प्रकृतियां पतदग्रह कहलाती हैं। संक्रान्त दलिक संक्रमावलिका पर्यन्त करणासाध्य होते हैं ।

विशेषार्थ—जिन प्रकृतियों में अन्य प्रकृतियों के दलिक आकर संक्रान्त होते हैं, उन प्रकृतियों की संज्ञाविशेष का तथा संक्रम कब होता है ? यह संकेत गाथा में किया गया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

बंधती हुई जिन कर्मप्रकृतियों में संक्लेश अथवा विशृङ्खि रूप जीव के धीर्घव्यापार रूप असाधारण कारण के द्वारा बंधती हुई अथवा नहीं बंधती हुई कर्मप्रकृतियों के सत्ता में विद्यमान दलिक—कर्मपरमाणु—संक्रान्त होते हैं, वे प्रकृतियां पतदग्रह कहलाती हैं। पतदग्रह का

ब्रुत्पत्तिमूलक अर्थ इस प्रकार है—पतद् अथात् संक्रमित होने वाले दलिकों का ग्रह—आदार पतद्यग्रह है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्ता में विद्यमान दलिक ब्रह्ममान जिस प्रकृति रूप होते हैं, वह ब्रह्ममान प्रकृति पतद्यग्रह कहलाती है।

संक्रान्त हुआ वह दलिक जिस समय संक्रमित हुआ उस समय से लेकर एक आवलिका काल तक करणासाध्य—उद्वर्तना, अपवर्तना आदि किसी भी करण के अयोग्य होता है, यानि उस दलिक में किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है। एक आवलिका काल तदवस्थ ही रहता है। उसके पश्चात् किसी भी करण के योग्य होता है। इसी प्रकार जिस समय बंधा उस बद्धदलिक में भी बद्धसमय से लेकर एक आवलिका काल पर्यन्त किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है। संक्रान्त दलिक में भी संक्रम का सामान्य लक्षण घटित होता है, इसलिये संक्रम समय से लेकर एक आवलिका काल वह दलिक करण के असाध्य होता है—‘करणासज्जं भवे दलियं’ यह कहा है।

इस प्रकार से संक्रमित होने वाली प्रकृति की आधार बनने वाली प्रकृति की संज्ञा निर्धारित करने और आवलिका पर्यन्त करणा-साध्यत्व का कारण स्पष्ट करने के बाद अब पूर्वोक्त संक्रम के लक्षण के अतिव्याप्ति दोष का परिहार करने के लिये आचार्य अपवाद का विधान करते हैं।

संक्रम लक्षण : अपवाद विधान

नियनिय दिद्वि न केइ दुइयतइज्जा न दंसणतिगंपि ।

मीसंमि न सम्मतं दंसकसाया न अशोन्तं ॥३॥

संकामंति न आजं उवसंतं तहय मूलपगईओ ।

पगद्धाणविभेदा संकमणवडिभ्महा दुविहा ॥४॥

शब्दार्थ—नियनिय—अपनी-अपनी, दिद्वि—दृष्टि, न—नहीं, केइ—कोई, दुइयतइज्जा—दूसरे-तीसरे, न—नहीं, दंसणतिगंपि—दर्शनत्रिक को भी, मीसंमि—मिश्र में, न—नहीं, सम्मतं—सम्यक्त्व को, दंसकसाया—दाहनमोहनीय, कषायमोहनीय का, न—नहीं, अशोन्तं—परस्पर में।

संकार्त्ति—संक्रमित करता है, न—नहीं, आर्च—आयु का, बवसंत—उपशांत, तह—तथा, य—और, मूलपर्यावरो—मूल प्रकृतियाँ, पराइडाण-विशेषा—प्रकृति और स्थान के भेद से, संक्रमणपरिग्रहा—संक्रमण और पतद्वयह, दुविहा—दो-दो प्रकार।

गाथार्थ—कोई जीव अपनी-अपनी हृष्टि को अन्यत्र संक्रमित नहीं करता है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान वाले दर्शनत्रिक को संक्रान्त नहीं करते हैं। मिश्रमोहनीय में सम्यक्त्वमोहनीय का संक्रम नहीं होता तथा दर्शनमोहनीय और कषायमोहनीय (चारित्रमोहनीय) का परस्पर संक्रम नहीं होता है।

आयु का परस्पर संक्रम नहीं होता तथा उपशांत दलिक का एवं मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रम नहीं होता है। प्रकृति और स्थान के भेद से संक्रम और पतद्वयह के दो-दो प्रकार होते हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में संक्रम के लक्षण के अपबाद और संक्रम तथा पतद्वयह के दो-दो प्रकार होने का संकेत किया है। उनमें से पहले अपबाद विषयक स्पष्टीकरण करते हैं—

‘नियनिय दिदिठ न केई’ अर्थात् कोई भी जीव अपनी-अपनी हृष्टि का अन्यत्र संक्रमित नहीं करता है, यानि कोई भी जीव जिन्हें जिस दर्शनमोहनीयत्रिक का उदय हो, वे उस दर्शनमोहनीय को अन्य प्रकृति रूप नहीं करते हैं। जैसे कि मिथ्याहृष्टि जीव मिथ्यात्व-मोहनीय को अन्यत्र संक्रमित नहीं करता है। इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्याहृष्टि मिश्रमोहनीय को और सम्यग्-हृष्टि सम्यक्त्वमोहनीय को अन्य प्रकृति में संक्रान्त नहीं करता है।

‘दुइयतद्वज्जा न दंसणतिगंणि’—दूसरे सासादनगुणस्थान और तीसरे सम्यग्मिथ्याहृष्टिगुणस्थान वाले जीव दर्शनमोहनीयत्रिक में से किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं करते हैं तथा मिश्रमोहनीय में सम्यक्त्वमोहनीय का संक्रमण नहीं होता है—‘यीसंमि न सम्मतो’।

दर्शनमोहनीय और कषायमोहनीय (चारित्रमोहनीय) इन दोनों का परस्पर संक्रमण नहीं होता है, अर्थात् दर्शनमोहनीय का चारित्र-

मोहनीय में और चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय में संक्रमण नहीं होता है—‘दसकसाया न अन्नोन्न’। परन्तु इस सम्बन्ध में एक विचारणीय प्रश्न यह है—

यद्यपि यहाँ की तरह कर्मप्रकृति संक्रमकरण में भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम न होने का स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु नव्यशास्त्र के गाथा ६६ को वृत्ति में थीमद् देवेन्द्रसूरि ने तथा विशेषावश्यक वृहद्वृत्ति, आवश्यकचूंगि आदि में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने हुए अनन्तानुबंधि का क्षय करने वाला जीव अनन्तानुबंधि(चारित्रमोहनीय की प्रकृति) का अनन्तवां भाग मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रान्त करता है और उसके बाद अनन्तानुबंधि सहित मिथ्यात्वमोह का क्षय करता है, इस प्रकार अनन्तानुबंधि का मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रम होता है—ऐसा सूचित किया है। विद्वान् इसका समाधान करने की कृपा करें।

इसका सम्भव समाधान यह हो सकता है कि पहले यह जान लेना चाहिये कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की प्रकृतियाँ कौन-कौन हैं। क्योंकि इसी ग्रन्थ के तीसरे अधिकार, कर्मग्रन्थ और आचारांगवृत्ति आदि ग्रन्थों में मिथ्यात्वादिकृतिक को दर्शनमोहनीय की और शेष अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क आदि पञ्चोंस प्रकृतियों को चारित्रमोहनीय की प्रकृति बतलाया है, जबकि तत्त्वार्थ की टीका में अनन्तानुबंधिचतुष्क और दर्शनत्रिक इन सात प्रकृतियों को दर्शनमोहनीय और शेष इकीस प्रकृतियों को चारित्रमोहनीय में परिगणित किया है तथा अनन्तानुबंधिचतुष्क भी दर्शनगुण का ही धार करती है, जिससे अन्य ग्रन्थों में भी इन सात प्रकृतियों को ‘दर्शनसप्तक’ के रूप में बताया है। प्रव यदि दर्शनमोहनीय यानि अनन्तानुबंधि आदि सात प्रकृतियों को ग्रहण करें तो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है, यह पाठ और ‘अनन्तानुबंधि का मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रम हुआ’ यह पाठ संगत हो सकता है तथा भाव दर्शनत्रिक की दर्शनमोहनीय से ग्रहण किया

जाये तो अनन्तानुबंधि का मिथ्यात्व में जो संक्रम होता है, वह अल्प होने से उसकी विवक्षा न की हो अथवा मतान्तर हो, ऐसा संभव है।

अब आवृकर्म आदि विषयक अपवादों का कथन करते हैं—कोई भी जीव आयु की चार उत्तर प्रकृतियों में से किसी भी आयु का परस्पर संक्रम नहीं करता है। यानि सत्तागत कोई भी आयु बध्यमान किसी आयुरूप नहीं होती है—‘संकामति न आउ’।

इसी प्रकार जिस-जिस चारित्रमोहनीय का सर्वथा उपशम होता है, उसका किसी भी अन्य प्रकृति में संक्रम नहीं होता है। मात्र उपशमित दर्शनमोहनीय का संक्रम होता है, यानि मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय रूप हो सकती है तथा ज्ञानावरणादि मूल कर्म प्रकृतियों का परस्पर संक्रम नहीं होता है—‘तद्य मूलपगद्भिर्भावोऽस्मि’। जैसे कि ज्ञानावरण रूप मूल प्रकृति दर्शनावरण रूप में और दर्शनावरण ज्ञानावरण आदि रूप अन्य भूल प्रकृति में संक्रमित नहीं होती है। इसी प्रकार सभी मूल कर्म प्रकृतियों के लिये ज्ञानना चाहिये।

इन अपवादों के सिवाय संक्रम का पूर्वोक्त सामान्य लक्षण समीचीन है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार से संक्रम विषयक अपवादों का विचार करने के पश्चात् संक्रम और पतद्यग्रह के भेद कहते हैं—प्रकृति और स्थान के भेद से संक्रम और पतद्यग्रह के दो-दो प्रकार होते हैं—

१. प्रकृतिसंक्रम, २. प्रकृतिस्थानसंक्रम और १. प्रकृतिपतद्यग्रह,
२. प्रकृतिस्थानपतद्यग्रह—‘पगद्याणविभेद्या संक्रमणपडिगाहा दुविहा।’

प्रकृतिसंक्रम आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

जब एक प्रकृति एक में संक्रमित हो, जैसे कि साता असाता में अथवा असाता साता में तब जो प्रकृति संक्रान्त होती है, उस एक प्रकृति का संक्रम होने से प्रकृतिसंक्रम और एक में संक्रम होता है इसलिये वह प्रकृति पतद्यग्रह है और जब दो, तीन आदि अनेक प्रकृतियाँ अनेक

में संक्रमित होती हैं, तब वर्मणः प्रकृतिस्थानसंक्रम और प्रकृतिस्थान-पतदग्रह कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब एक प्रकृति संक्रान्त होती हो तब प्रकृतिसंक्रम तथा अनेक संक्रान्त होती हों तब प्रकृतिस्थानसंक्रम और संक्रम्यमाण प्रकृति का आधार जब एक प्रकृति हो तब प्रकृतिपतदग्रह और अनेक हों तब प्रकृतिस्थानपतदग्रह कहलाता है।

उसमें भी जब बहुत सी प्रकृतियाँ एक में संक्रान्त हों, जैसे कि एक यशकीर्तिनाम में नामकर्म की शेष प्रकृतियाँ, तब वह प्रकृतिस्थान-संक्रम कहलाता है और जब बहुत सी प्रकृतियों में एक प्रकृति संक्रमित हो, जैसे कि मिथ्र और सम्यवत्व मोहनीय में मिथ्यात्वमोहनीय का संक्रम हो तब वह प्रकृतिस्थानपतदग्रह कहलाता है तथा जब अनेक प्रकृतियों में अनेक प्रकृतियाँ संक्रमित हों, जैसे कि ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियाँ पांचों प्रकृतियों में संक्रमित हों तब वह प्रकृति-स्थानसंक्रम और प्रकृतिस्थानपतदग्रह कहलाता है।

यथार्थतः तो यद्यपि अनेक प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं और पतदग्रह भी अनेक प्रकृतियाँ होती हैं, लेकिन जब संक्रम और पतदग्रह रूप में एक-एक प्रकृति के संक्रम की और एक-एक प्रकृतिरूप पतदग्रह की विवक्षा की जाये तब उसे प्रकृतिसंक्रम और प्रकृतिपतदग्रह कहा जाता है, ऐसा होने से आगे भी जहाँ एक-एक प्रकृतिसंक्रम और एक-एक प्रकृतिरूप पतदग्रह का विचार करेंगे वहाँ प्रकृतिस्थानसंक्रम और प्रकृतिस्थानपतदग्रह का सद्भाव होने पर भी उसका प्रकृतिसंक्रम और प्रकृतिपतदग्रह रूप में प्रतिपादन किया जाना विरोधी नहीं होगा। जैसे कि ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियों का बंध दसवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त होता है जिससे पांचों प्रकृतियाँ पतदग्रहरूप हैं और संक्रमित होने वाली भी पांचों हैं। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणादि चार में संक्रमित होता है। इस प्रकार प्रत्येक समय ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियाँ संक्रमरूप और पतदग्रहरूप होने पर भी जब एक-एक के संक्रम की और एक-एक प्रकृतिरूप पतदग्रह की विवक्षा की जाये, जैसे कि मतिज्ञानावरण

श्रुतज्ञानावरण में, मतिज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण में तब उसे प्रकृतिसंक्रम और प्रकृतिपतदग्रह कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ विवेका प्रभाग है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

इन प्रकृतिसंक्रम, प्रकृतिस्थानपतदग्रह आदि की इस प्रकार चतुर्भाँगी हो सकती है—१. संक्रम्यमाण प्रकृति एक, पतदग्रहप्रकृति भी एक, २. संक्रम्यमाण प्रकृति अनेक पतदग्रहप्रकृति एक, ३. संक्रम्यमाण प्रकृति एक, पतदग्रह अनेक और ४. संक्रम्यमाण प्रकृति अनेक, पतदग्रहप्रकृति भी अनेक। यथा—बृद्धमान सातावेदनीय में जब असातावेदनीय संकांत होती है तब संक्रमित होने वाली और पतदग्रह एक-एक प्रकृति होने से पहला भंग घटित होता है। आठवें गुणस्थान के सातवें भाग से दसवें गुणस्थान तक बंधने वाली यशकीर्ति में नामकर्म की बहुत सी प्रकृतियाँ संक्रमित होने से द्विसरा भंग घटित होता है। प्रथमोपज्ञम सम्बन्धित की प्राप्ति के समय मिथ्यात्व के तीन पुंज किये जाते हैं, वहाँ से लेकर एक आवलिका काल पर्यन्त मिश्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता है, इसलिये उस समय मात्र मिथ्यात्वमोहनीय का मिश्र और सम्बन्धित मोहनीय इस प्रकार दो में संक्रम होने से तीसरा भंग और बांधती हुई नामकर्म की तेईस आदि प्रकृतियों में संकांत होने वाली नामकर्म की बहुत-सी प्रकृतियाँ होने से वहाँ चतुर्थ भंग घटित हो सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भंगों को घटित होने की योजना कर लेनी चाहिये।

इस प्रकार से संक्रम विषयक अपवाद आदि का कथन करने पश्चात् इसमें और भी जो विशेष है, उसको बतलाते हैं—

ख्यउद्यसभदिट्ठीणं सेष्टोए न चरिमलोभसंकमणं ।

खवियट्ठगस्स इयराद्य जं कमा होति पंचण्हं ॥५॥

शब्दार्थ— ख्यउद्यसभदिट्ठीण—धार्यिक अथवा उपशम सम्याहृष्टि जीवों के, सेष्टोए—अणि में, न—नहीं, चरिमलोभसंकमण—चरम (संज्वलन) लोभ का संकमण, खवियट्ठगस्स—क्षपकश्रेणि वाले के आठ क्षायार्थों का, इयराद्य—इतर, जं—क्योंकि, कमा—क्रम से, होति—होता है, पंचण्हं—पांच का।

गाथार्थ—क्षायिक अथवा उपशम सम्यग्हटि जीवों के श्रेणि (उपशमश्रेणि) में (अन्तरकरण करें तब) और इतर क्षपक-श्रेणि में आठ कषायों का क्षय करने के बाद (अन्तरकरण करें तब) चरम—संज्वलनलोभ का संक्रम नहीं होता है। क्योंकि पांच प्रकृतियों का संक्रम क्रम से होता है।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यग्हटि अथवा उपशम सम्यग्हटि जीवों के उपशमश्रेणि में जब अन्तरकरण करें तब तथा इतर—क्षपकश्रेणि में आठ कषायों का क्षय करने के बाद अन्तरकरण करें तब संज्वलन-लोभ का संक्रम नहीं होता है।

इसका कारण यह है कि उपशमश्रेणि में अथवा क्षपकश्रेणि में अन्तरकरण करने के बाद पुरुषवेद और संज्वलनक्रोधादि कषाय-चतुष्क इन पांच प्रकृतियों का क्रमपूर्वक यानि पहले जिसका बंध-विच्छेद होता है, उसका उसके बाद बंधविच्छेद होने वाली प्रकृति में संक्रम होता है, उत्क्रम से नहीं होता है। अर्थात् जिसका बंध-विच्छेद बाद में होता है, उसका पहले बंधविच्छेद होने वाली प्रकृति में संक्रम नहीं होता है।

जैसे कि पुरुषवेद का संज्वलन क्रोधादि में संक्रम होता है, परन्तु संज्वलन क्रोधादि का पुरुषवेद में संक्रम नहीं होता है। इसी प्रकार संज्वलन क्रोध का संज्वलन मान में संक्रमण किया जाता है, परन्तु पुरुषवेद में संक्रम नहीं होता है। संज्वलन मान को संज्वलन मायादि में संक्रमित किया जाता है परन्तु संज्वलन क्रोधादि में संक्रमित नहीं किया जाता है और संज्वलन माया का संज्वलन लोभ में संक्रम होता है परन्तु संज्वलन मानादि में नहीं। इसी बात को कर्मप्रकृति संक्रम-करण गाथा ४ में भी इसी प्रकार कहा है—‘अन्तरकरण करने पर चारित्रमोहनीय की पांच प्रकृतियों का क्रमपूर्वक संक्रमण होता है।’^१ अतएव उक्त न्याय से अन्तरकरण होने के बाद संज्वलनलोभ

^१ ‘अन्तरकरणमि कए चरित्तमोहेणपुष्टिव संक्रमण ।’

का संक्रम वर्ठित नहीं हो सकता है। किन्तु अन्तरकरण से अन्यत्र अर्थात् अन्तरकरण करने से पूर्व इन पांच प्रकृतियों का अनुक्रम अथवा व्युत्क्रम से—विना क्रम के इस तरह दोनों प्रकार से संक्रम प्रवर्तित होता है। यानि क्रोध का लोभ में और लोभ का क्रोध में भी संक्रम हो सकता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उक्त प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों का अन्तरकरण करने के बाद या पहले क्रम अथवा अक्रम दोनों प्रकार से भी संक्रम होता है।

इस प्रकार से संक्रम विषयक अपवादों का निर्देश करने के बाद अब पतद्वय्रह सम्बन्धी अपवादों का कथन करते हैं।

पतद्वय्रह विषयक अपवाद

मिष्ठ्ले खविए मीसस्स नत्थ उभए वि नत्थ सम्मस्स ।

उव्वलिएसु वोसु, पडिगह्या नत्थ मिष्ठ्लस्स ॥६॥

तुसुतिसु आवलियासु समयविहीणासु आइमठिइए ।

संसासु पुंसंजलणयाण न भवे पडिगह्या ॥७॥

शब्दार्थ—मिष्ठ्ले—मिथ्यात्वमोहनीय का, खविए—क्षय होने पर, मीसस्स—गिश मोहनीय की, नत्थ—नहीं रहती है, उभए—दोनों का क्षय होने पर, वि—भी, नत्थ—नहीं होती है, सम्मस्स—सम्यक्त्वमोहनीय की, उव्वलिएसु—उद्वलित होने पर, वोसु—दोनों की, पडिगह्या—पतद्वय्रहता, नत्थ—नहीं रहती, मिष्ठ्लस्स—मिथ्यात्व की।

तुसुतिसु—दो अथवा तीन, आवलियासु—आवलिका, समयविहीणासु—समयन्यून, आइमठिइए—आदि—प्रथम स्थिति में, सेसासु—शेष रहने पर, पुंसंजलणयाण—पुरुषवेद और संज्वलन की, न भवे—नहीं होती, पडिगह्या—पतद्वय्रहता।

गाथार्थ—मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होने पर मिथ्यमोहनीय की पतद्वय्रहता नहीं रहती है। मिथ्यात्व और मिश्र दोनों का क्षय होने के बाद सम्यक्त्वमोहनीय की पतद्वय्रहता नहीं होती।

सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना होने पर मिथ्यात्वमोहनीय पतदग्रह रूप नहीं रहती है।

प्रथम स्थिति की समय न्यून दो और तीन आवलिका शेष रहे तब क्रम से पुरुषवेद और संज्वलन की पतदग्रहता नहीं होती है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में से पहली में सामान्य पतदग्रह संबन्धी और दूसरी में श्रोणि संबन्धी पतदग्रह विषयक अपवाद का निर्देश किया है। इनमें से पहले सामान्य अपवादों को स्पष्ट करते हैं—

क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होने के बाद मिश्रमोहनीय पतदग्रह नहीं होती है—‘मिच्छे खविए मीसस्स नत्थि।’ अर्थात् मिश्रमोहनीय में किसी भी अन्य प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं। वयोंकि मिश्रमोहनीय में मात्र मिथ्यात्व मोहनीय के ही दलिक संक्रमित होते हैं, अन्य किसी भी प्रकृति के संक्रमित नहीं होते हैं। उसका (मिथ्यात्वमोहनीय का) तो क्षय हुआ कि जिससे मिश्रमोहनीय की पतदग्रहता नष्ट हो गई।

‘उभए वि नत्थि सम्मस्स’ अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन दोनों का क्षय होने के बाद सम्यक्त्वमोहनीय की भी पतदग्रहता नहीं रहती है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय में मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय का ही संक्रम होता है और इन दोनों का तो क्षय हो गया है, जिससे अन्य दूसरी किसी भी प्रकृति का संक्रम असंभव होने से सम्यक्त्वमोहनीय भी पतदग्रह रूप नहीं रहती है।

मिथ्यात्वगुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना होने के बाद मिथ्यात्वमोहनीय पतदग्रह नहीं रहती है। वयोंकि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्वमोहनीय में मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय का ही संक्रम होता है। किन्तु चारित्रमोहनीय की किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होता है। इसका कारण यह है कि

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है और सम्यक्त्व तथा मिश्रमोहनीय की तो उद्वलना हो गई, जिससे अन्य किसी भी प्रकृति के संक्रम का अभाव होने से मिथ्यात्वमोहनीय की पतदग्रहता नहीं रहती है—‘उच्चलिएसु दोसु पड़िगगहया नत्थि मिच्छस्स ।

इस प्रकार सामान्य पतदग्रहता विषयक अपवाद का कथन करने के बाद अब श्रेणि विषयक अपवाद कहने हैं—

‘दुसुतिसु’ इस प्रकार गाथा में ग्रहण किये हुए दो और तीन शब्द के साथ पुरुषवेद और सञ्जलनचतुष्क की क्रमपूर्वक योजना करना चाहिये और योजना करने पर यह अर्थ हुआ कि अन्तरकरण करने के बाद समयन्यून दो आवलिका प्रमाण प्रथमस्थिति शोषण हो जाएं तब पुरुषवेद की पतदग्रहता नहीं रहती है। अर्थात् पुरुषवेद में अन्य किसी भी प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं तथा समयन्यून तीन आवलिका प्रमाण प्रथमस्थिति शेष रहे तब सञ्जलनचतुष्क--क्रोध, मान, माया और लोभ पतदग्रह रूप नहीं रहते हैं। प्रथमस्थिति उतनी-उतनी शेष रहे तब उनमें अन्य किसी भी प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं।

इस प्रकार से पतदग्रह संबंधी अपवाद जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है—
१—भूल प्रकृति विषयक और २—उत्तर प्रकृति विषयक। किन्तु मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होने से उनमें तो सादि-अनादि प्ररूपणा संभव नहीं है। इसलिये उत्तर प्रकृतियों में विचार करते हैं।
उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा

धुवसंतीरणं चउहेहु संक्रमो मिच्छणीयवेयणीए ।

साईअधुवो बंधोव्व होइ तह अधुवसंतीरणं ॥८॥

शब्दार्थ—धुवसंतीरण—धुव सत्तावाली प्रकृतियों का, चउहेहु—चार प्रकार का, संक्रमो—संक्रम, मिच्छणीयवेयणीए—मिथ्यात्व, नीचगोत्र और

वेदनीय का, साई अधुबो—सादि, अधुव, बंधोत्त्व—बंध की तरह, होइ-होता है, तह—तथा, अधुबसंतीण—अधुबसत्ता वाली प्रकृतियों का ।

गायार्थ—धुबसत्ता वाली प्रकृतियों का संक्रम सादि आदि चार प्रकार है, मिथ्यात्व, नीचगोत्र और वेदनीय का संक्रम तथा अधुबसत्ता वाली प्रकृतियों का बंध की तरह सादि और सांत, इस तरह ही गायार्थ का है ।

विशेषार्थ—सत्ता की हृष्टि से प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—धुबसत्ताका और अधुबसत्ताका । इन दोनों प्रकारों की प्रकृतियों की सादि-अनादि प्रलृपणा इस प्रकार है—

सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तीर्थकरनाम, उच्चगोत्र तथा आयुचतुष्क, कुल मिलाकर अट्ठाईस प्रकृतियों अधुबसत्ता वाली हैं और शेष एक सौ तीस प्रकृतियों की धुबसत्ता है ।

अब इनके सादि आदि भंगों का विचार करते हैं—मिथ्यात्व-मोहनीय, नीचगोत्र, साता-असाता वेदनीय के सिवाय शेष एक सौ छब्बीस धुबसत्कर्म वाली प्रकृतियों का संक्रम साद्यादि रूप चार प्रकार का है । वह इस प्रकार—उपर्युक्त धुबसत्कर्म, प्रकृतियों का—संक्रम की विषयभूत प्रकृतियों का—पतदग्रहप्रकृति का बंधविच्छेद होने के बाद संक्रम नहीं होता है । तत्पश्चात् संक्रम की विषयभूत प्रकृतियों का अपने-अपने बंधहेतु मिलने पर पुनः बंध होता है तब संक्रम होता है, इसलिये सादि, बंधविच्छेदस्थान जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है, उनको अनादिकाल से संक्रम होता है, इसलिये अनन्त (धुब) और भव्य के किसी भी काल बंधविच्छेद नहीं, इसलिये अनन्त (धुब) संभव होने से सांत (अधुब) संक्रम होता है ।

मिथ्यात्वमोहनीय, नीचगोत्र, साता-असाता वेदनीय का संक्रम सादि और सांत (अधुब) इस प्रकार दो तरह का है । वह इस तरह

कि मिथ्यात्वमोहनीय का संक्रम विशुद्ध सम्यग्गृहिणि के होता है और विशुद्ध सम्यग्गृहिणि का दाचित्क-अमुक काल में होता है, अनादि काल से नहीं होता है। इसलिये जब उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त हो तब मिथ्यात्वमोहनीय का संक्रम होता है, जिससे सादि और उसके बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जायवा गिरकार मिथ्यात्व में आये तब संक्रम का अन्त होता है, जिससे अध्रुव (सांत) है। इस प्रकार मिथ्यात्व का संक्रम सादि, सान्त (अध्रुव) भंग वाला है।

साता-असाता-वेदनीय और उच्च-नीच-गोत्र प्रकृतियों के परावर्तमान होने से ही उनका संक्रम सादि-अध्रुव भंग वाला है। वह इस प्रकार—सातावेदनीय के बंध होने पर असातावेदनीय का संक्रम होता है तथा जब असातावेदनीय का बंध होता हो तब साता का संक्रम होता है। इसी प्रकार उच्चगोत्र का जब बंध तब नीचगोत्र का और जब नीचगोत्र का बंध हो तब उच्चगोत्र का संक्रम होता है। नैयमान प्रकृति पतद्यग्ह है और नहीं बंधने वाली संक्रम्यमाण है। इस प्रकार ये प्रकृतियां परावर्तमान होने से उनका संक्रम सादि और सांत (अध्रुव) भंग वाला है।

अध्रुवसत्कर्म प्रकृतियों का बंध की तरह संक्रम भी सादि-सांत समझना चाहिये। क्योंकि उनकी सना ही अध्रुव है। सन्ता हो तब संक्रम होता है और सन्ता के न होने पर संक्रम नहीं होता है। सुगमता में बोध करने के लिये प्रारूप परिणिष्ट में देखिये।

इस प्रकार से प्रकृतिसंक्रम संबन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब संक्रम्यमाण प्रकृतियों के स्वामित्व का कथन करते हैं।
संक्रम्यमाण प्रकृतियों का स्वामित्व

साअणजसदुविहकसाय सेस दोदंसणाण जडपुष्का ।

संकामर्गत कमसो सम्मुच्चाणं पठमतुइया ॥६॥

शब्दार्थ—साअणजस—सातावेदनीय, अनन्तानुवंशि, यशकीति,
तुविहकसाय—दो प्रवार की कमाय, सेस—शेष प्रकृतियों, दोदंसणाण—

मिथ्यात्व और मिश्र वे दो दर्शनमोहनीय, जाइपुर्खा—अनुक्रम से प्रमत्त-संमतादि गुणस्थानवर्ती, संकामगत—संक्रम करने वाले, क्रमसो—क्रम से, सम्मुच्छान—सम्यक्त्वमोहनीय और उच्चगोत्र का, पदमवृद्धा—प्रथम और द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव ।

गाथार्थ—सातावेदनीय, अनन्तानुवंधि, यशःकीर्ति, कथाय और नोकषाय इस प्रकार जो प्रकार की कथाएँ शेष प्रकृतियों और मिथ्यात्व एवं मिश्र दर्शनमोहनीय, इन प्रकृतियों के संक्रम करने वाले अनुक्रम से प्रमत्तसंयतादि गुणस्थान तक के जीव हैं तथा सम्यक्त्वमोहनीय और उच्चगोत्र के अनुक्रम से पहले और दूसरे गुणस्थानवर्ती जीव हैं ।

दिशेषार्थ—इस गाथा में संक्रम के स्वामियों का निर्देश किया है ।
वह इस प्रकार—

सातावेदनीय, अनन्तानुवंधि, यशःकीर्ति, अनन्तानुवंधि के सिवाय शेष बारह कषाय और नोकषाय इस तरह दो प्रकार की कथाय, शेष कर्मप्रकृति और सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीय रूप दो दर्शन-मोहनीय, इन सभी कर्मप्रकृतियों के संक्रम करने वाले अनुक्रम से प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती जीव हैं । अर्थात् उक्त प्रकृतियों के संक्रम-स्वामी उस-उस गुणस्थान तक के जीव हैं तथा सम्यक्त्वमोहनीय और उच्चगोत्र को अनुक्रम से पहले और दूसरे गुणस्थान तक के जीव संक्रमित करते हैं ।

उक्त संक्षिप्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सातावेदनीय के संक्रम के स्वामी मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीव हैं, उससे उपरिवर्ती गुणस्थान वाले जीव नहीं हैं । क्योंकि अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में असातावेदनीय का बंध नहीं होता है, साता का ही बंध होता है, जिससे असाता का साता में संक्रम होता है । पतदग्रह का अभाव होने से सातावेदनीय का संक्रम नहीं होता है । इसलिये सातावेदनीय का संक्रम करने वालों में अंतिम प्रमत्तसंयत जीव ही समझना चाहिये ।

इसी प्रकार सर्वेत्र संक्रम करने वालों में पर्यन्तवर्ती कौन है, यह जान लेना चाहिये। अर्थात् जिस गुणस्थान तक पतदग्धप्रकृति का सद्भाव होने से जिस प्रकृति का संक्रम होता हो, उस गुणस्थान वाला जीव उस प्रकृति का अंतिम संक्रमक-संक्रमित करने वाला समझना चाहिये।

इसी तरह अनन्तानुबंधि के संक्रमस्वामी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक के जीव समझना चाहिये। आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबंधि का सर्वथा उपशम या क्षय होने से संक्रम नहीं होता है।

यशःकीर्ति के मिथ्यादृष्टि से लेकर अपुर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग तक के जीव संक्रम के स्वामी हैं, ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव नहीं हैं। क्योंकि मात्र यशःकीर्ति का ही बंध होने से वह पतदग्धप्रकृति है, संक्रान्त होने वाली नहीं है।

अनन्तानुबंधि के सिवाय बारह कषाय और नव नोकषाय के संक्रम के रवामी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान तक के जीव जानना चाहिये। अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान में कषाय और नोकषाय का सर्वथा उपशम अथवा क्षय हो जाने से आगे के गुणस्थानों में उनका संक्रम नहीं होता है।

जिन प्रकृतियों का नागोल्लेख किया गया है और बाद में जिनका नाम कहा जायेगा उनके सिवाय ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय,^१ यशःकीर्ति के सिवाय नामकर्म की सभी प्रकृति, नीचगोत्र और अंतरायपंचक इन सभी प्रकृतियों के मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक के जीव संक्रमस्वामी जानना चाहिये, ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव नहीं। क्योंकि उपशांतमोहादि

१. यद्यपि यारहके से तेरहवें गुणस्थान तक में साता का बंध होता है, परन्तु उस बंध को कषायनिमित्तक नहीं होने से उसकी पतदग्ध के रूप में विवक्षा नहीं बी है। जिससे उसमें असाता का संक्रम नहीं होता।

गुणस्थानों में बंध का अभाव होने से प्रकृति पतदग्रह रूप नहीं रहती है, जिससे किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होता है।

मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपराहनीहै गुणस्थान तक के द्वीप संक्रम के स्वामी हैं। क्षीण-मोहादि गुणस्थानों में उनकी सत्ता का अभाव होने से संक्रम नहीं होता है।

मिश्रमोहनीय का मिथ्यादृष्टि भी संक्रमक है, किन्तु सासादन और मिश्रदृष्टि जीव तो किसी भी दर्शनमोहनीय का किसी भी प्रकृति में संक्रम नहीं करते हैं। क्योंकि गाथा ३ में कहा है—दूसरे और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव दर्शनत्रिक का संक्रम नहीं करते हैं। मिथ्यादृष्टि तो मिथ्यात्वमोहनीय के पतदग्रह होने से स्वभावतः संक्रमित नहीं करता है। क्योंकि गाथा ३ में कहा है—जिस दृष्टि का उदय हो उस दृष्टि को कोई जीव संक्रमित नहीं करता है। इसलिये मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय के संक्रम के स्वामी अविरतसम्यग्दृष्टि आदि कहे हैं।

सम्यक्त्वमोहनीय के संक्रम का स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय को मिथ्यात्व में वर्तमान जीव ही संक्रमित करता है, किन्तु सासादन या मिश्र संक्रमित नहीं करता है। क्योंकि दूसरे, तीसरे गुणस्थान में किसी भी दृष्टि का संक्रम नहीं होता है और चतुर्थ आदि गुणस्थानों में विशुद्ध परिणाम है, इसलिये सम्यक्त्वमोहनीय के संक्रम का स्वामी अविशुद्ध मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

उच्चगोत्र के संक्रम का स्वामी सासादनगुणस्थान तक का जीव है। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानवर्ती जीव ही नीचगोत्रकर्म बांधते हैं। जहाँ और जब तक नीचगोत्र का बंध हो वहाँ तक और तभी उच्चगोत्र का संक्रम होता है। बध्यमान प्रकृति पतदग्रह है और पतदग्रहप्रकृति के बिना संक्रम होता नहीं। नीचगोत्र दूसरे गुणस्थान तक ही बंधने वाला होने से वहाँ तक ही

उच्चगोत्र का संक्रम होता है। ऊपर के गुणस्थानों में मात्र उच्चगोत्र बंधने से नीचगोत्र का ही संक्रम होता है। उक्त समय कथन का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार से प्रकृतिसंक्रम के स्वामियों को जानना चाहिये। अब पतद्वय्रह की अपेक्षा प्रकृतियों की साधादि प्रखण्डणा करते हैं।

पतद्वय्रहायेक्षा सादि-आदि प्रखण्डणा

चउहा पडिग्गहसं ध्रुवबंधिणं विहाय मिच्छत्तं ।

मिच्छाध्युवबंधिणं साई अधुवा पडिग्गहया ॥१०॥

शब्दार्थ——चउहा—चार प्रकार का, पडिग्गहत्तं—पतद्वय्रहत्व, ध्रुवबंधिणं—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, विहाय—छोड़कर, मिच्छत्तं—मिथ्यात्व को, मिच्छाध्युवबंधिणं—मिथ्यात्व और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, साई—सादि, अधुवा—अध्रुव, पडिग्गहया—पतद्वय्रहत्व।

गाथार्थ—मिथ्यात्व को छोड़कर शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का पतद्वय्रहत्व चार प्रकार का है तथा मिथ्यात्व और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का पतद्वय्रहत्व सादि और अध्रुव है।

विशेषार्थ—बंध की अपेक्षा प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—ध्रुवबंधिनी, अध्रुवबंधिनी और बंधप्रकृतियाँ पतद्वय्रह रूप होती हैं। उनकी यहाँ सादि-अनादि आदि प्रखण्डणा की है—

'विहाय मिच्छत्त' अर्थात् मिथ्यात्वमोहभीय को छोड़कर शेष ज्ञानावरणपञ्चक, दर्शनावरणनवक, कषायषोडश, भय, जुगुप्सा, तैजस-सप्तक, वर्णादिवीशक, निमणि, अग्रहलघु, उपघात और अंतराय-पञ्चक—इस तरह सङ्गठ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की पतद्वय्रहता सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इस तरह चार प्रकार की है।

वह इस प्रकार—उपर्युक्त ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का अपना-अपना जब बंधविच्छेद होता है तब वे पतद्वय्रह नहीं रहती हैं। यानि उनमें

अन्य किसी भी प्रकृति के दलिक संक्रमित नहीं होते हैं, किन्तु जब उन-उन प्रकृतियों का अपने-अपने बंधहेतुओं के मिलने से बंध प्रारंभ होता है, तब वे पुनः पतदग्रह रूप होती हैं। इस प्रकार पतदग्रहता नष्ट होने के बाद पुनः पतदग्रह रूप होने से सादि है। उन प्रकृतियों का बंधविच्छेदस्थान जिन्होंने प्राप्त वहीं किया, उनका पतदग्रहत्व अनादि है। अभव्य के बंधविच्छेद होता ही नहीं है, इसलिये अनुव है और भव्य ऊपर के गुणस्थान में जाकर उन-उन प्रकृतियों का बंधविच्छेद करेगा—पतदग्रहत्व का नाश करेगा, उस अपेक्षा अनुव है।

मिथ्यात्वमोहनीय और अनुवबंधिनी प्रकृतियों की पतदग्रहता सादि, अनुव है। वह इस प्रकार—मिथ्यात्वमोहनीय यद्यपि अनुवबंधिनी है, परन्तु जिस जीव के सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय की सत्ता ही, वही इन दो प्रकृतियों के दलिकों को मिथ्यात्वमोहनीय में संक्रान्त करता है, दूसरा कोई संक्रमित नहीं करता है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय दो उच्चा तर्जना होती नहीं, इसलिये मिथ्यात्वमोहनीय की पतदग्रहता सादि, अनुव है।

अनुवबंधिनी शेष छियासी प्रकृतियों की पतदग्रहता अनुवबंधिनी होने से ही सादि और अनुव समझना चाहिये।

चारों आयु का परस्पर संक्रम नहीं होने से उनमें सादि आदि भंगों का विचार नहीं किया जाता है। उक्त कथन का मुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप परिणिष्ठ में देखिये।

इस प्रकार से एक-एक प्रकृति की संक्रम और पतदग्रहत्व की अपेक्षा साद्यादि प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब प्रकृतिस्थान की साद्यादि प्ररूपणा करते हैं। परन्तु उससे पूर्व संक्रम और पतदग्रह के विषय में उनके स्थानों की संख्या का निर्देश करने के लिये गाथासूत्र कहते हैं।

प्रकृतियों के संक्रम और पतदग्रह स्थान

संतटाणसमाइं संकमठाणाइं दोगिण बीयस्य ।

बंधसमा पडिगाहुगा अट्ठहिया दोवि मोहस्स ॥११॥

पश्चरससोलससरअडचउबीसा य संकमे नत्थि ।

अट्ठदुबालससोलसबीसा य पडिग्गहे नत्थि ॥१२॥

शब्दार्थ—संतद्वाणसमाई—सत्तास्थानों के समान, संकमठाणाई—संक्रमस्थान, दीणि—दो, बीयस्स—दूसरे दर्शनावरण के, बंधसमा—बंधस्थान के समान, पडिग्गहगा—पतद्यग्रहस्थान, अट्ठहिया—आठ अधिक, बोवि—दोनों, मोहस्स—मोहनीयकर्म के ।

पन्नरससोलसत्तरस- -पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अष्टुचउबीसा—आठ और चार अधिक बीस, य- -और, संकमे—संक्रम में, नत्थि—नहीं होते हैं, अट्ठदुबालस- सोलसबीसा—आठ, बारह, सोलह और बीस, य—जनुकत अर्थबोधक अव्यय, पडिग्गहे—पतद्यग्रह में, नत्थि— नहीं होते हैं ।

गाथार्थ—सत्तास्थानों के समान प्रत्येक कर्म के संक्रमस्थान हैं, किन्तु दूसरे दर्शनावरणकर्म के दो हैं । बंधस्थानों के समान पतद्यग्रहस्थान है, परन्तु मोहनीयकर्म में बंधस्थानों और सत्तास्थानों से आठ-आठ अधिक पतद्यग्रहस्थान और संक्रमस्थान हैं ।

पन्द्रह, सोलह, सत्रह, आठ और चार अधिक बीस इस तरह पांच स्थान संक्रम में तथा आठ, बारह, सोलह और बीस ये चार स्थान पतद्यग्रह में नहीं होते हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में ज्ञानावरण आदि आठों भूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के संक्रमस्थानों और पतद्यग्रहस्थानों की संख्या का निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

सत्तास्थान के समान संक्रमस्थान होते हैं—‘संतद्वाणसमाई- संकमठाणाई’ अर्थात् जिस कर्म के जितने सत्तास्थान होते हैं, उस कर्म के उतने संक्रमस्थान भी होते हैं । किन्तु दूसरे दर्शनावरणकर्म में नी और छह की सत्ता रूप दो ही संक्रमस्थान हैं । सत्तास्थान की तरह तीसरा चार प्रकृतिक सत्ता रूप संक्रमस्थान नहीं है । जिसका आशय इस प्रकार है—-

यद्यपि दर्शनावरणकर्म के तीन सत्तास्थान हैं—चक्रुदर्शनावरणादि चार प्रकृतिक, निद्राद्विक के साथ छह प्रकृतिक और स्त्यान-द्वित्रिक सहित नौ प्रकृतिक और इसी प्रकार तीन बंधस्थान भी हैं। किन्तु इनमें से संक्रमस्थान छह प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये दो ही हैं। क्योंकि चारहवें गुणस्थान के चरम समय में दर्शनावरणचतुष्क की सत्ता होती है परन्तु दर्शनावरण का बंध नहीं होता है, बंध नहीं होने से पतद्यग्रहता भी नहीं। जिससे चार प्रकृति रूप तीसरा संक्रमस्थान घटित नहीं होता है। अर्थात् चार की सत्ता चारहवें गुणस्थान के चरम समय में होती है किन्तु वहाँ कोई पतद्यग्रह न होने से चार प्रकृतिक संक्रमस्थान नहीं है।

यद्यपि बंधस्थान के समान पतद्यग्रहस्थान होते हैं—‘बंधसमा पडिग्रहगा’। किन्तु मोहनीयकर्म इसका अपवाद है। क्योंकि मोहनीयकर्म के संक्रम और पतद्यग्रह ये दोनों स्थान सत्तास्थानों और बंधस्थानों से आठ-आठ अधिक हैं। वे इस प्रकार—मोहनीयकर्म के सत्तास्थान पन्द्रह हैं, उनमें आठ अधिक करने पर संक्रमस्थान तेर्इस और जो बंधस्थान दस हैं, उनमें आठ अधिक करने पर पतद्यग्रहस्थान अठारह होते हैं। जिसका विस्तार से स्पष्टीकरण यथाप्रसंग आगे किया जा रहा है।

इस प्रकार सामान्य से संक्रमस्थानों और पतद्यग्रहस्थानों की संख्या का संकेत करने के बाद अब प्रत्येक कर्म के संक्रमस्थानों और पतद्यग्रहस्थानों की संख्या बतलाते हैं।

ज्ञानावरण, अन्तराय कर्म के संक्रम और पतद्यग्रह स्थान

ज्ञानावरण और अन्तराय इनका पांच-पांच प्रकृति रूप एक-एक सत्तास्थान और एक-एक संक्रमस्थान है तथा पांच-पांच प्रकृति रूप एक-एक ही बंधस्थान और एक-एक ही पतद्यग्रहस्थान है। इसका कारण यह है कि बंध और सत्ता में से इनकी पांचों प्रकृतियाँ एक साथ ही व्युचित्वन होती हैं। बंध में से एक साथ जाने वाली होने से

पांचों प्रकृतियां एक साथ पतद्वयरूप और सत्ता में से पांचों के एक साथ व्युचित्त होने से संक्रम करने वाली भी पांचों घटित होती हैं। वह इस प्रकार—

शानावरण की पांचों प्रकृतियों का परस्पर संक्रम होता है। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण में संक्रमित होता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण भी मतिज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण में संक्रमित होता है। इसी तरह अवविज्ञानावरणादि के लिये भी और अंतरायकर्म की प्रकृतियों के लिये भी समझ लेना चाहिये कि उनका भी परस्पर एक दूसरे में संक्रमण होता है। क्योंकि इसबें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त वे सभी प्रकृतियां निरन्तर बंधती रहती हैं और बारहबें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त वे निरन्तर सत्ता में रहती हैं। ध्रुवबंधिनी होने से ये प्रत्येक प्रकृतियां एक साथ पतद्वयरूप से घटित होती हैं तथा ध्रुवसत्ता होने से पतद्वय प्रकृति होने तक एक साथ संक्रमित होने वाली भी होती हैं। इस प्रकार इन दोनों कर्मों का पांच-पांच प्रकृति रूप एक ही पतद्वयस्थान और पांच-पांच प्रकृति रूप एक संक्रमस्थान है।

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्वयरूप स्थानों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। अतएव शेष कर्मों के संक्रम और पतद्वयरूप स्थानों की संख्या बतलाते हैं।

वेदनीय और गोत्रकर्म के संक्रम और पतद्वयरूप स्थान

वेदनीय और गोत्र कर्म हन दोनों में से प्रत्येक कर्म के दो-दो सत्तास्थान हैं। वे इस प्रकार—दो प्रकृति रूप और एक प्रकृति रूप। यद्यपि वेदनीय और गोत्र कर्मों का दो प्रकृति रूप सत्तास्थान है, लेकिन दो प्रकृतियों का एक साथ संक्रम नहीं होने से एक-एक प्रकृति रूप एक-एक संक्रमस्थान ही होता है। क्योंकि परावर्तमान होने से गोत्र और वेदनीय की दो-दो प्रकृतियों में से मात्र एक-एक का ही बंध

होता है। जिससे बंधने वाली प्रकृति पतद्ग्रहरूप है और नहीं बंधने वाली प्रकृति संक्रम करने वाली है। यदि दोनों प्रकृतियाँ एक साथ बंधती होती तो ज्ञानावरण की तरह परस्पर संक्रम हो सकता था, अर्थात् दोनों प्रकृतियाँ पतद्ग्रहरूप और संक्रमरूप घटित हो सकती थीं, किन्तु वैसा नहीं होने से एक-एक प्रकृति रूप ही संक्रमस्थान समझना चाहिये।

वह इस प्रकार—सातावेदनीय और असातावेदनीय इन दोनों की सत्ता वाले सातावेदनीय के बंधक मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त के जीव जब सातावेदनीय का बंध करते हैं तब पतद्ग्रहरूप उस प्रकृति में असातावेदनीय को संक्रमित करते हैं। इसी प्रकार साता-असातावेदनीय इन दोनों की सत्ता वाले असातावेदनीय के बंधक मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसंघ्रह वर्णन्तवर्ती जीव जब असातावेदनीय वांधे तब पतद्ग्रह रूप उस प्रकृति में सातावेदनीय को संक्रमित करते हैं। इस प्रकार साता-असातावेदनीय का एक प्रकृति-रूप संक्रमस्थान और एक प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान होता है।

उच्चगोत्र के बंधक मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसंपराय पर्यन्तवर्ती जीव जब उच्चगोत्र का बंध करें तब पतद्ग्रह रूप उस प्रकृति में नीचगोत्र संक्रमित करते हैं और उच्च-नीच दोनों की सत्ता वाले नीचगोत्र के बंधक मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव जब नीचगोत्र का बंध करें तब बंधने वाली उस प्रकृति में उच्चगोत्र संक्रमित करते हैं। इस प्रकार गोत्रकर्म में भी एक संक्रमस्थान और एक पतद्ग्रहस्थान संभव है।

आयुकर्म की प्रकृतियों में परस्पर संक्रम नहीं होता है। अतः उनमें पतद्ग्रहादित्व भी संभव नहीं है।

वामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों का पृथक् से आगे विचार किया जायेगा। अतएव अब मोहनीयकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का विचार करते हैं।

मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान

मोहनीयकर्म के पन्द्रह सत्तास्थान इस प्रकार हैं—अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौबीस, तेर्ईस, बाईस, द्वकीस, तेरह, बारह, ग्यारह, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक। किन्तु संक्रमस्थान तेईस हैं। वे इस प्रकार—एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, अठारह, उन्नीस, बीस, द्वकीस, बाईस, तेर्ईस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस प्रकृतिक।

यद्यपि सत्तास्थान में अट्ठाईस और चौबीस प्रकृतिक का भी ग्रहण किया है, लेकिन संक्रम में नहीं होने से उन दोनों सत्तास्थानों को संक्रमस्थानों में नहीं गिना है। इसका कारण यह है कि अट्ठाईस की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के मिथ्यात्व मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय का पतद्यग्रह है, इसलिये मिथ्यात्व के सिवाय शेष सत्ताईस प्रकृतियां ही संक्रमित होती हैं, किन्तु अट्ठाईस संक्रान्त नहीं होती है। उनमें से चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियां चारित्रमोहनीय में परस्पर संक्रमित होती हैं और मिथ्यात्वमोहनीय में मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय संक्रमित होती हैं। क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है।

इसी प्रकार अनन्तानुबंधि का विसंयोजक चौबीस की सत्ता वाले सम्यग्हृष्टि के सम्यक्त्वमोहनीय मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय की पतद्यग्रह होने से उसके बिना शेष तेर्ईस प्रकृतियां ही संक्रमित होती हैं, चौबीस नहीं। इसलिये चौबीस प्रकृति रूप संक्रमस्थान नहीं है तथा पन्द्रह, सोलह और सत्रह प्रकृतिक रूप तीन संक्रमस्थान नहीं होने का कारण जब सभी संक्रमस्थानों का विचार करेंगे, उससे ज्ञात होगा, अतएव उनको यहाँ स्पष्ट नहीं किया है।

अब शेष संक्रमस्थानों का विचार करते हैं—

सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना होने के पश्चात् सत्ताईस की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के मिथ्यात्व मिश्रमोहनीय का पतद्यग्रह होने

से, उसके बिना शेष छब्बीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं तथा मिश्र-मोहनीय की उद्वलना होने के बाद छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं, अथवा छब्बीस की सत्ता वाले अनादि मिथ्याहृष्टि के भी पच्चीस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं। मिथ्यात्वमोहनीय का संक्षम नहीं होता है। कारण यह है कि वह चारित्रमोहनीय में संक्रमित नहीं होती है। क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के परस्पर संक्षम का अभाव है।

अथवा अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता वाले औपशमिक सम्यग्हृष्टि के सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् आवलिका वीतने के बाद सम्यक्त्व-मोहनीय में मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का संक्षम होता है, जिससे सम्यक्त्वमोहनीय पतद्यह है। अतएव उसको अलग करने पर शेष सत्ताईस प्रकृतियां संक्षम में होती हैं तथा वही अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता वाला और आवलिका के अन्तर्बर्ती अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त हुए जिसे आवलिका वीती नहीं ऐसे औपशमिक सम्यग्हृष्टि के मिश्र-मोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित नहीं होती है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व के अनुरूप विशुद्धि की सामर्थ्य द्वारा मिथ्यात्व के पुद्गल ही मिश्रमोहनीय रूप परिणाम को प्राप्त होते हैं यानि मिश्रमोहनीय रूप में परिणमित हुए हैं। क्योंकि अन्य प्रकृति रूप में परिणमन करना ही संक्षम कहलाता है। जिस समय जिसका अन्य प्रकृति रूप में परिणमन होता है, उस समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त वे दलिक सभी करणों के अयोग्य होते हैं, अर्थात् उनमें किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है।

वहीं सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद आवलिका के अन्दर मिश्र-मोहनीय की संक्षमावलिका पूर्ण नहीं होने से उसके दलिक सम्यक्त्व-मोहनीय में संक्रमित नहीं होते हैं, मात्र मिथ्यात्वमोहनीय के ही संक्रमित होते हैं। सम्यक्त्वमोहनीय का तो सम्यक्त्वी के क्षम होता

ही नहीं है। इसलिये उन दोनों को अलग करने पर शेष छब्बीस प्रकृतियों का ही संक्रम होता है।

चौबीस की सत्ता वाला सम्यद्विष्ट जीव सम्यक्त्व से पतन कर मिथ्यात्व में जाने पर भी और वहीं पुनः अनन्तानुबंधिकषाय का बंध करता है, लेकिन सत्ताप्राप्त उस कषाय की संक्रमित नहीं करता है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व से पतित हुआ अनन्तानुबंधि का विसंयोजक जीव अनन्तानुबंधि का बंध पुनः प्रारंभ करता है, परन्तु जिस समय बंध करता है, उस समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त उसमें कोई भी करण लागू न पड़ने से मिथ्यात्वगुणस्थान में बंधावलिका पर्यन्त अनन्तानुबंधि का संक्रम नहीं होता है और मिथ्यात्वमोहनीय मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय की पतदग्रह है, इसलिये अनन्तानुबंधि और मिथ्यात्वमोहनीय को पृथक् करने पर शेष तेईस प्रकृतियों का संक्रम होता है।

इस प्रकार विचार करने से चौबीस प्रकृतिक संक्रमस्थान का अभाव है तथा चौबीस की सत्ता वाले सम्यद्विष्ट के क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करने जब मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होता है तब सम्यक्त्व-मोहनीय के सिवाय बाईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। यहाँ सत्ता में तेईस प्रकृतियां होती हैं।

अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यद्विष्ट जब चारित्रमोहनीय का अंतरकरण करता है तब उसके संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है। इसका कारण यह है कि अन्तरकरण करता है तब पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क का अनानुपूर्वी-उत्क्रम से संक्रम नहीं होता है तथा अनन्तानुबंधि का क्षय अथवा सर्वोपशम किया गया होने से उसका संक्रम होता नहीं है और सम्यक्त्वमोहनीय मिश्र-मोहनीय तथा मिथ्यात्वमोहनीय की पतदग्रह है, अतएव उसका भी संक्रम नहीं होता है। जिससे संज्वलन लोभ, अनन्तानुबंधिचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय इन छह प्रकृतियों के सिवाय शेष बाईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान उसी उपशम सम्यग्दृष्टि के नपुंसकवेद का उपशम हो तब इक्कीस प्रकृतियों का संक्रम होता है। अथवा क्षायिक सम्यक्त्व उपाजित करते हुए बाईस की सत्ता वाला क्षयो-पश्चिमक सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वमोहनीय को कहीं पर संक्रमित नहीं करता है, जिससे उसके इक्कीस का संक्रमस्थान होता। अथवा क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षपक के जहाँ तक आठ कषाय का क्षय नहीं होता है, वहाँ तक इक्कीस प्रकृति का संक्रम होता है।

उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों में से जब स्त्रीवेद का उपशम होता है तब वीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि का मांडने वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहनीय का जह अन्तरकरण करता है तब पूर्व में कहीं गई शुक्रित से संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होने से उसके सिवाय वीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् नपुंसकवेद का जब उपशम हो तब उन्नीस और स्त्रीवेद का उपशम हो तब उपशमश्रेणि में वर्तमान उसी क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अठारह प्रकृतियां संक्रम में होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त बीस में से जब छह नोकषाय का उपशम होता है तब शेष चौदह प्रकृतियां, उसके बाद उनमें से पुरुषवेद उपशमित हो तब तेरह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षपक के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों में से आठ कषाय का क्षय हो तब तेरह प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं, उसी के जब चारित्रमोहनीय का अन्तरकरण करे तब बारह प्रकृतियों का संक्रम होता है। क्योंकि अन्तरकरण करने के बाद चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का क्रम पूर्वक संक्रम होने से संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियों में से छह नोकषायों का उपशम हो तब शेष बारह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् जब पुरुषवेद का उपशम हो तब उसी के घ्यारह प्रकृतियां संक्रम में होती हैं। अथवा क्षपक के पूर्वोक्त बारह में से

नयुं सकवेद का क्षय हो तब शेष ग्यारह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्घटित के पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम हो तब ग्यारह प्रकृतियां संक्रम में होती हैं।

क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षपक के पूर्वोक्त ग्यारह में से स्त्रीवेद का क्षय हो तब दस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्घटित के पूर्वोक्त ग्यारह प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध उपशमांत हो तब शेष दस प्रकृतियां संक्रम में होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्घटित के पूर्वोक्त ग्यारह में से अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम हो तब शेष नौ प्रकृतिक तथा उसके बाद उसी के संज्वलन क्रोध का उपशम हो तब आठ प्रकृतिक संक्रमस्थान होता है। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्घटित के पूर्वोक्त दस में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो तब शेष आठ प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। उसी के संज्वलन मान का उपशम हो तब सात प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्घटित के पूर्वोक्त आठ में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो तब शेष छह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उसी के संज्वलन मान का उपशम हो तब शेष पाँच प्रकृतियां संक्रम में होती हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्घटित के पूर्वोक्त सात में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया उपशमित हो तब शेष पाँच प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उसी के जब संज्वलन माया उपशमित हो तब चार प्रकृतियां संक्रम में होती हैं। अथवा क्षपक के पूर्वोक्त दस में से छह नोकषाय का क्षय हो तब शेष चार प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उसी के पुरुषवेद का क्षय हो तब तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्वृष्टि के पूर्वोक्त पांच में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो तब शेष तीन प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं। उसी के संज्वलन माया उपशमित हो तब संज्वलन लोभ पतदग्रह हो वहाँ तक शेष दो लोभ (अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ) संक्रम में होते हैं। अथवा उपशमश्रेणि में वर्तमान उपशम सम्यग्वृष्टि के पूर्वोक्त चार में से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप लोभ उपशमात हो तब शेष मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय रूप दो प्रकृतियाँ संक्रम में होती हैं। अथवा क्षपक के पूर्वोक्त तीन प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध का क्षय हो तब दो प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं। उसी के संज्वलन मान का क्षय हो तब एक संज्वलन गाया संक्रमित होती है।

इस प्रकार विचार करने पर अट्ठाईस, चौबीस, सत्रह, सोलह और पचदस प्रकृति रूप संक्रमस्थान संभव नहीं होने से उनका निषेच्छ किया है। उनके सिवाय शेष तेह्स संक्रमस्थान जानना चाहिये।

सुगमता से समझने के लिये श्रेणीगत संक्रमस्थानों का दिम्दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

| घटित होने के स्थान | कितने | कितने प्रकृतिक |
|---|-------|----------------|
| क्षायिकसम्यक्त्व उपशमश्रेणि में ही | ४ | १६,१८,६,६ |
| उपशमसम्यक्त्व उपशमश्रेणि में ही | २ | १४,७ |
| क्षपकश्रेणि में ही | १ | १, |
| तीनों श्रेणियों में | २ | ११,२ |
| क्षपकश्रेणि तथा उपशमसम्यक्त्व उपशमश्रेणि इन दोनों में | ४ | १३,१०,४,२ |
| क्षपकश्रेणि तथा क्षायिक सम्यक्त्व | २ | १२,३ |
| उपशमश्रेणि इन दोनों में | | |
| उपशमसम्यक्त्व, उपशमश्रेणि | ३ | १८,५,२० |
| क्षायिकसम्यक्त्व | | |

इस प्रकार से शोहनीयकर्म के ग्रन्थस्थानों का विचार करने के बाद अब पतद्यग्रहस्थानों का निर्देश करते हैं।

शोहनीयकर्म के पतद्यग्रहस्थान

पतद्यग्रहस्थान आधारभूत प्रकृतियों के समुदाय को कहते हैं। अतएव शोहनीयकर्म के पतद्यग्रहस्थानों का कथन करने के लिये पहले बंधस्थानों को बतलाते हैं कि बाईस, इक्कीस, सूत्रह, तेरह, नौ, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक, ये शोहनीयकर्म के दस बंधस्थान हैं। किन्तु पतद्यग्रहस्थान इन दस बंधस्थानों से आठ अधिक होने से अठारह हैं। वे इस प्रकार—आठ, बारह, सोलह, बीस ये चार तथा गाढ़ा में बीस के बाद आगत 'य, च' शब्द अनुकूल अर्थ का समुच्चायक होने से तेर्हस, नौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतिक ये छह कुल मिलाकर दस स्थान पतद्यग्रह के विषयभूत न होने से शेष अठारह पतद्यग्रहस्थान होते हैं। अर्थात् एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, नौ, दस, ग्यारह, तेरह, चौदह, पन्द्रह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, इक्कीस और बाईस प्रकृतिक, ये अठारह पतद्यग्रहस्थान हैं।

इन पतद्यग्रहस्थानों में कौन और कितनी प्रकृतियां संक्रमित होती हैं, अब इसका विचार करते हैं—

अट्ठाईस की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के मिथ्यात्व सम्यक्त्व और मिथ्य मोहनीय की पतद्यग्रह होने से, उसके सिवाय शेष सत्ताईस प्रकृतियां मिथ्यात्व, सोलह कथाय तथा तीन वेद में से बंधने वाला कोई एक वेद, सुगलद्विक में से बंधने वाला एक युगल, भय और जुगुप्सा रूप बाईस प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

सम्यक्त्व की उद्वलना करे तब सत्ताईस की सत्ता वाले उसी मिथ्याहृष्टि के मिथ्यात्व ये मिथ्यमोहनीय की पतद्यग्रह होने से उसके विना शेष छब्बीस प्रकृतियां पूर्वोक्त बाईस प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

मिथ्यमोहनीय की उद्वलना करे तब छब्बीस की सत्ता वाले उसी मिथ्याहृष्टि के मिथ्यात्वमोहनीय में किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होने से वह किसी की पतदग्रह नहीं, इसलिये पुर्वोक्त बाईस में से उसे कम करने पर शेष इक्कीस प्रकृति के समुदाय रूप पतदग्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अथवा छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले अनादि मिथ्याहृष्टि जीव के मिथ्यात्व किसी भी प्रकृति में संक्रमित नहीं होता है, एवं उसमें भी अन्य कोई प्रकृति संक्रमित नहीं होती है। इसलिये आधार-आधेयभाव रहित उस मिथ्यात्वमोहनीय को दूर करने पर शेष एच्चीस प्रकृतियां इक्कीस प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं।

नौवीस की सत्ता वाला कोई सम्यग्हृष्टि गिरकर मिथ्यात्व में जाये, वहाँ यद्यपि मिथ्यात्व रूप हेतु के द्वारा अनन्तानुर्बधिकषाय को पुनः बांधता है, लेकिन वह बंधावलिका पर्यन्त सकल करण के अयोग्य होने से सत्ता में होने पर भी उसको संक्रमित नहीं करता है और मिथ्यात्व-मोहनीय सम्यक्त्व एवं मिथ्यमोहनीय की पतदग्रह है। इसलिये अनन्तानुर्बधिचतुर्जुक और मिथ्यात्वमोहनीय को छोड़कर शेष तेईस प्रकृतियों को पुर्वोक्त बाईस प्रकृतियों में संक्रमित करता है।

इस प्रकार मिथ्याहृष्टि के बाईस प्रकृतिक पतदग्रह में सासाईस, छब्बीस और तेईस प्रकृति के समूह रूप तीन संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं और इक्कीस के पतदग्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं। शेष संक्रमस्थान या पतदग्रहस्थान मिथ्याहृष्टि के नहीं होते हैं।

सासादनसम्यग्हृष्टि के 'दूसरा और तीसरा गुणस्थान वाला दर्शनश्रिक को संक्रमित नहीं करता है' ^१ ऐसा सिद्धान्त होने से दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियों के संक्रम का अभाव है। इसलिये यहाँ सदैव इक्कीस के पतदग्रह में पच्चीस प्रकृतियां ही संक्रमित होती हैं।

१. बुद्ध्यताइज्ञा न दंसणतिगमि ।

—संक्रमकरण गाथा ३.

सम्यग्मिष्याहृष्टि के भी दर्जनमोहत्रिक प्रकृतियों के संक्रम का अभाव होने से अट्ठाईस की सत्ता वाले अथवा सम्यक्त्वमोह के बिना सत्ताईस की सत्ता वाले मिश्रहृष्टि के पञ्चीस प्रकृतियां और अनन्तानु-बंधि रहित चौबीस की सत्ता वाले मिश्रहृष्टि के इक्कीस प्रकृतियां वारह कषाय, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा और युगलद्विक में से किसी एक युगलरूप बंधती हुई सत्रह प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं।

अविरतसम्यग्हृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तविरत इन चार गुणस्थानों में संक्रमस्थान समान होने से इनके एक साथ ही पतद्यग्हस्थान कहते हैं।

अविरत आदि चार गुणस्थानों में औपशमिक सम्यग्हृष्टि के सम्यक्त्व प्राप्ति के प्रथम समय से लेकर आवलिका कालपर्यन्त सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय पतद्यग्हरूप ही होती है। इसलिये शेष छब्बीस प्रकृतियां अविरतसम्यग्हृष्टि के वारह कषाय, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा और युगलद्विक में से एक युगल रूप बंधती हुई सत्रह तथा सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय कुल उन्नीस प्रकृतियों के समुदाय रूप पतद्यग्हरूप में, देशविरति के प्रत्याख्यानावरणचलुक, संज्वलन-चतुष्क, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय रूप पन्द्रह प्रकृतिक पतद्यग्हरूप में और प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत के संज्वलनचतुष्क, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय रूप ग्यारह प्रकृतिक पतद्यग्हरूप में संक्रमित होती हैं।

उन्हींअविरत सम्यग्हृष्टि आदि के उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति से आवलिका पूर्ण होने के बाद मिश्रमोहनीय संक्रम और पतद्यग्हरूप दोनों में होती है। क्योंकि मिश्रमोहनीय की संक्रमावलिका व्यतीत हो गई है, जिससे वह कारणसाध्य हो गई है। इसलिये सत्ताईस प्रकृतियां पूर्वोक्त उन्नीस, पन्द्रह और ग्यारह रूप तीन पतद्यग्हस्थानों में संक्रमित होती हैं।

अनन्तानुबंधि की उद्वलना होने के बाद चौबीस की सत्ता वाले

उन्हीं अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यक्त्वमोहनीय पतद्यग्रह होने से शेष तैर्इस प्रकृतियां पूर्वोक्त उन्नीस आदि तीन पतद्यग्रहस्थानों में संक्रान्त होती हैं। तत्पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करते मिथ्यात्व का क्षय होने के बाद मिथ्रमोहनीय पतद्यग्रह रूप नहीं होती है और मिथ्यात्व संक्रम में नहीं होती, इसलिये शेष बाईस प्रकृतियां अविरत, देशविरत और संधत जीव के अनुक्रम से अठारह, और दस प्रकृतिक पतद्यग्रह में संक्रमित होती हैं। उसके बाद मिथ्रमोहनीय का क्षय होने के अनन्तर सम्यक्त्वमोहनीय पतद्यग्रहत्व में नहीं होती है और संक्रम में तो ही ही नहीं, जिससे इक्कीस प्रकृतियां अविरत आदि गुणस्थान वालों को अनुक्रम से सब्रह, तेरह और नौ प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि को लंक्रम-पतद्यग्रह विधि

अब उपशमश्रेणि में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के संक्रमस्थानों की अपेक्षा पतद्यग्रहविधि का कथन करते हैं—

चौबीस की सत्ता वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वमोहनीय ये मिथ्यात्व और मिथ्र की पतद्यग्रह होने से, उसे अलग करने पर शेष तैर्इस प्रकृतियां पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्का, सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्रमोहनीय, इस प्रकार सात प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उपशमश्रेणि में वर्तमान उसी जीव के अनन्तरकारण करने के अनन्तर संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है, जिससे उसके सिवाय शेष बाईस प्रकृतियां पूर्वोक्त सात प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं। उसी के नपुंसकवेद का उपशम होने के बाद इक्कीस प्रकृतियां सात के पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उसके बाद स्त्रीवेद का उपशम होने के अनन्तर बीस प्रकृतियां सातप्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं।

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति समयन्यून दो आवलिका शेष रहे तब वह पतद्ग्रह रूप में नहीं रहता है। क्योंकि प्रथमस्थिति की समयन्यून दो और तीन आवलिका शेष रहे तब अनुक्रम से पुरुषवेद और संज्वलनचतुर्थक में पतद्ग्रहरूपता नहीं रहती है, ऐसा नियम है।^१ इसलिये पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से पुरुषवेद को पृथक् करने पर शेष छह के पतद्ग्रहस्थान में बीस प्रकृति संक्रमित होती हैं। तदनन्तर जब छह नोकषाय उपशमित हों तब शेष चौदह प्रकृतियाँ इलायुद्धुतिका पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। छह में चौदह प्रकृतियाँ समयोन दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। इसका कारण यह है कि जिस समय छह नोकषाय उपशमित होती है, उस समय पुरुषवेद का बंध-विच्छेद होता है, तब समयन्यून दो आवलिकाकाल का बंधा हुआ दलिक ही अनुपशमित शेष रहता है। उसका उपशम और संक्रम समयन्यून दो आवलिकाकाल पर्यन्त होता है, इसलिये कहा है कि छह में चौदह प्रकृतियाँ समयोन दो आवलिका तक संक्रमित होती हैं। पुरुषवेद का उपशम होने के बाद शेष तेरह प्रकृतियाँ छह के पतद्ग्रह-स्थान में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त संक्रान्त होती हैं।

तदनन्तर संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन क्रोध भी पतद्ग्रह नहीं होता है, इसलिये पूर्वोक्त छह में से उसे कम करने पर शेष पांच के पतद्ग्रहस्थान में वही तेरह प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध उपशमित हो तब शेष ग्यारह प्रकृतियाँ पांच के पतद्ग्रहस्थान में समयोन दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। इसका कारण पुरुषवेद के लिये जो पूर्व में कहा जा चुका है उसी प्रकार समझ लेना चाहिये। तत्पश्चात् संज्वलन क्रोध उपशमित हो तब शेष दस प्रकृतियाँ उसी पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त संक्रान्त होती हैं।

१. दुसुतिसु आवलियाम् ।

—संक्रमकरण गाढा ७

तदनन्तर संज्वलन मान की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन मान भी पतदग्रह नहीं होता है। इसलिये पांच में से उसे अलग करने पर शेष चार के पतदग्रहस्थान में दस प्रकृतियां समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान उपशमित हो तब शेष आठ प्रकृतियां चार के पतदग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। संज्वलन मान उपशमित हो तब शेष सात प्रकृतियां अन्तमुहूर्त पर्यन्त चार के पतदग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

तदनन्तर संज्वलन माया की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन माया भी पतदग्रह नहीं होती है, इसलिये चार में से उसे दूर करने पर शेष तीन के पतदग्रहस्थान में पूर्वोक्त सात प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। वे समय न्यून दो आवलिका काल जाने तक संक्रमित होती हैं। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया उपशमित हो तब शेष पांच प्रकृतियां तीन के पतदग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं। वे तब तक ही संक्रमित होती हैं यावत् समय न्यून दो आवलिका काल जाये। उसके बाद संज्वलन माया उपशमित हो तब शेष चार प्रकृतियां अन्तमुहूर्त पर्यन्त तीन के पतदग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

तदनन्तर अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ उपशमित हो तब शेष मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय ये दो प्रकृतियां सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्रमोहनीय इन दो प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि नौवें गुणस्थान का समय न्यून दो आवलिका काल शेष रहे, उसी समय से संज्वलन लोभ पतदग्रह नहीं होता है, तभी से दो प्रकृतियों का दो प्रकृतियों में संक्रम होता है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होने से मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय का लोभ में संक्रम नहीं होता है, जिससे दो का दो में संक्रम होता है। उसमें मिथ्यात्व सम्यक्त्व और मिश्र

मोहनीय में और मिथमोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित होती है।

इस प्रकार से उपशम सम्यग्हष्टि की उपशमश्रेणि में संक्रम और पतद्ग्रह विधि जानना चाहिये। अब उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्हष्टि की संक्रम और पतद्ग्रह विधि का निरूपण करते हैं।

उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिकसम्यग्हष्टि की संक्रम-पतद्ग्रह विधि

अनन्तानुबंधिततुष्क और दर्शनविक का क्षय होने के बाद उष्मीष की तरा वशा जो क्षायिक सम्यग्हष्टि उपशमश्रेणि को स्वीकार करता है, उसके नीवें गुणस्थान में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क रूप पांच के पतद्ग्रहस्थान में इवकीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। आठवें गुणस्थान में तो उसे नौ के पतद्ग्रहस्थान में इवकीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं, यह समझना चाहिये। नीवें गुणस्थान में जब अन्तरकरण करे तब संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होने से उसके सिवाय शेष बीस प्रकृतियां पांच के पतद्ग्रहस्थान में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं, तत्पश्चात् नपुंसकवेद उपशमित हो तब उष्मीष प्रकृतियां अन्तमुँहूर्त पर्यन्त पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उसके बाद स्वीकृति का उपशम हो तब अठारह प्रकृतियां उसी पांच प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति समय न्यून दो आवलिका शेष रहे तब वह पतद्ग्रह नहीं होता है, इसलिये उसके सिवाय शेष चार के पतद्ग्रहस्थान में अठारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। उसके बाद छह नौकषाय का उपशम हो, तब शेष बारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रांत होती हैं। तदनन्तर पुरुषवेद का उपशम होने पर ग्यारह प्रकृतियां चार के पतद्ग्रहस्थान में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं।

इसके पश्चात् संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब वह भी पतद्ग्रह नहीं रहता है, अतः चार में से उसे दूर करने पर शेष तीन के पतद्ग्रहस्थान में पूर्वोक्त ग्यारह प्रकृतियाँ संक्रित होती हैं और वे नीचे से इस लक्षणित होती हैं, यावत् समय न्यून दो आवलिका काल जाये। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण ये दोनों क्रोध उपशांत हों तब नौ प्रकृतियाँ पूर्वोक्त तीन के पतद्ग्रहस्थान में समय न्यून दो आवलिका काल पर्यन्त संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् संज्वलन क्रोध उपशमित हो तब आठ प्रकृतियाँ अन्तमुहूर्त पर्यन्त तीन के पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

तदनन्तर संज्वलन मान की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन मान भी पतद्ग्रह नहीं होता है, अतः तीन में से उसे निकालने पर शेष दो के पतद्ग्रह में पूर्वोक्त आठ प्रकृतियाँ समय न्यून दो आवलिका काल पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण ये दोनों मान उपशमित हों तब छह प्रकृतियाँ दो के पतद्ग्रहस्थान में समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद संज्वलन मान का उपशमन हो तब पांच प्रकृतियाँ दो के पतद्ग्रहस्थान में अन्तमुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् संज्वलन माया की प्रथम स्थिति समय न्यून तीन आवलिका शेष रहे तब संज्वलन माया भी पतद्ग्रह रूप नहीं रहती है, इसलिये दो में से उसे कम करने पर शेष संज्वलन लोभ रूप पतद्ग्रह स्थान में वे पांच प्रकृतियाँ समय न्यून दो आवलिका काल पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो तब शेष तीन प्रकृतियाँ संज्वलन लोभ में संक्रांत होती हैं। वे तब तक संक्रमित होती हैं यावत् समय न्यून दो आवलिका काल जाये।

तत्पश्चात् संज्वलन माया उपशमित हो तब अप्रत्याख्यानावरण,

प्रत्याल्यानावरण ये दोनों लोभ संज्वलन लोभ में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त संक्रमित होते हैं। अर्थात् जब तक संज्वलन लोभ पतदग्रह रूप हो तब तक उपर्युक्त दोनों लोभ संक्रमित होते हैं। नौवें गुणस्थान का समय न्यून दो आवलिका काल शेष रहे, यानि संज्वलन लोभ पतदग्रह रूप नहीं रहता तब से दोनों लोभ का संक्रम नहीं होता है किन्तु उपशम ही होता है और नौवें गुणस्थान के चरम समय में ये दोनों लोभ सर्वथा शांत हो जाते हैं।

तत्पश्चात् अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में उक्त दोनों लोभों के नपशांत हो जाने से दसवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का किसी भी प्रकृति में संक्रम नहीं होता है।

इस प्रकार उपशमश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा संक्रम-पतदग्रहविधि जानना चाहिये। अब क्षपकश्रेणि में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा संक्रम और पतदग्रह विधि का विचार करते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणि में वर्तमान की संक्रम-पतदग्रहविधि

इक्कीस प्रकृतियों की सत्ता वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणि स्वीकार करता है।

अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान को प्राप्त हुए उसके पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क रूप पांच प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। तत्पश्चात् आठ क्षाय का क्षय होने पर तेरह प्रकृतियां अन्तमुँहूर्त पर्यन्त पांच प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं। उसके बाद अन्तरकरण होने पर संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है, इसलिये शेष बारह प्रकृतियां उसी पांच प्रकृतिक पतदग्रह में अन्तमुँहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद नयुं सकवेद का क्षय होने पर ख्यारह प्रकृतियां और स्त्रीवेद का क्षय होने पर दस प्रकृतियां अन्तमुँहूर्त पर्यन्त उसी पांच प्रकृतिक पतदग्रह में संक्रमित होती हैं।

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति समय न्यून दो आवलिका शेष रहने पर वह पतदग्रह नहीं रहता है, इसलिये पांच में से उसे कम करने पर शेष चार प्रकृतिक पतदग्रह में वही दस प्रकृतियां समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त संक्रमित होती हैं। उसके बाद छह नोकषायों का क्षय होने पर शेष चार प्रकृतियां समयोन दो आवलिका पर्यन्त उसी चार प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

जिस समय पुरुषवेद का क्षय हुआ उसी समय संज्वलन क्रोध भी पतदग्रह नहीं होता है। इसलिये उसके सिवाय शेष मान, माया लोभ इन तीन प्रकृतियों में क्रोध, मान, माया ये तीन प्रकृतियां अन्तमुहूर्त पर्यन्त संक्रान्त होती हैं।

संज्वलन क्रोध का बंधविच्छेद होने के बाद समय न्यून दो आवलिका काल में संज्वलन क्रोध का क्षय होता है और उसी समय संज्वलन मान पतदग्रह रूप नहीं रहता है, जिससे शेष दो प्रकृतियों का दो प्रकृतियों में अन्तमुहूर्त पर्यन्त संक्रम होता है। संज्वलन मान का बंधविच्छेद होने के बाद समयोन दो आवलिका काल में संज्वलन मान का भी सत्ता में से नाश हो जाता है और उसी समय संज्वलन माया की भी पतदग्रहता नहीं रहती है, जिससे एक संज्वलन लोभ रूप पतदग्रहस्थान में संज्वलन माया रूप एक प्रकृति अन्तमुहूर्त पर्यन्त संक्रमित होती है। संज्वलन माया का बंधविच्छेद होने के बाद समय न्यून दो आवलिकाकाल में संज्वलन माया का भी सत्ताविच्छेद होता है, तब उसके बाद कोई प्रकृति किसी प्रकृति में संक्रमित नहीं होती है।

इस प्रकार से क्षयकश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्याहृष्टि की अग्रेक्षा संक्रम और पतदग्रह विधि जानना चाहिये।

अब पुर्वोक्त कर्मप्रकृतियों के संक्रमस्थानों और पतदग्रहस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

संक्रम-पतद्यग्रहस्थानों की साधादि प्रलयणा

संक्रमण पडिगग्रहया पठमतहुञ्जट्ठमाणचउभेया ।

इगवीसो पडिगग्रहगो पणुवीसो संकमो मोहे ॥१३॥

शब्दार्थ— संक्रमण पडिगग्रहया—संक्रमणता और पतद्यग्रहता, पठमत-हुञ्जट्ठमाण—पहले, तीसरे और आठवें कर्म की, उभेया—चार प्रकार की हैं, इगवीसो—इकीरा प्रकृति रूप, पडिगग्रहगो—पतद्यग्रह, पणुवीसो—पच्चीस प्रकृति रूप, संकमो—संक्रमस्थान, मोहे—मोहनीयकर्म में।

गाथार्थ— पहले, तीसरे और आठवें कर्म की संक्रमणता और पतद्यग्रहता। चार प्रकार की हैं और मोहनीयकर्म में इकीस प्रकृति रूप पतद्यग्रह और पच्चीस प्रकृति रूप संक्रम भी चार प्रकार वा है।

विशेषार्थ— गाथा में ज्ञानावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म के सभी प्रकृतिस्थानों के संक्रम तथा पतद्यग्रह के सादि आदि चारों भंगों को तथा मोहनीयकर्म के इकीस प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान एवं पच्चीस प्रकृतिक संक्रमस्थान के भंगों को बतलाया है। जिसका विस्तार के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों के संक्रम और पतद्यग्रह स्थानों के सादादि भंग

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म में संक्रमत्व और पतद्यग्रहत्व सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जो इस प्रकार—उपर्यातमोहग्रुणस्थान में इन दोनों कर्मों का बंध नहीं होने से पतद्यग्रहत्व नहीं है और पतद्यग्रह नहीं होने से संक्रमत्व भी नहीं होता है। वहाँ से पतन करने पर दोनों प्रवर्तित होते हैं, इसलिये सादि हैं। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनके अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के संक्रम तथा पतद्यग्रह ये दोनों अध्रुव-सांत हैं।

वेदनीयकर्म के साद्यादि भंग

तीसरे वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से अबध्यमान एक प्रकृति रूप संक्रमस्थान और बध्यमान एक प्रकृति रूप पतदग्रहस्थान सामान्यतः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त होता है। उससे आगे उपशांतमोह आदि गुणस्थानों में विशेषज्ञक इथा का अभाव होने से संक्रम अथवा पतदग्रह दोनों में से कोई भी स्थान नहीं होता है। कषायरूप बंधहेतु ढारा जहाँ तक प्रकृतियां बंधती हैं, वहाँ तक ही बंधने वाली प्रकृति पतदग्रह होती है। जहाँ कषाय बंधहेतु नहीं है, वहाँ कदाचित् प्रकृति बंधती भी हो, लेकिन वह पतदग्रह नहीं होती है।

ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में सातावेदनीय के सिवाय अन्य किसी भी प्रकृति का बंध नहीं होता है और बंध न होने से पतदग्रह नहीं है एवं पतदग्रह का अभाव होने से कोई भी प्रकृति संक्रमित नहीं होती है।

यद्यपि सातावेदनीय का बंध होता है, किन्तु वह पतदग्रह नहीं है। क्योंकि उसके बंध में कषाय हेतु नहीं है। उपशांतमोहगुणस्थान से जब पतन होता है तब उसके दोनों स्थानों की शुरुआत होती है। दसवें से सातवें गुणस्थान तक सातावेदनीय पतदग्रह, असाना का संक्रम और छठे से नीचे के गुणस्थानों में परिणाम के अनुसार दोनों में भी जिसका बंध हो, वह पतदग्रह और शेष का संक्रम होता है। इसलिये वे दोनों स्थान सादि हैं। ग्यारहवां गुणस्थान जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य के अधुव-अनन्त और भव्य के अधुव-सांत है। सामान्य की अपेक्षा वेदनीयकर्म के लिये विचार करें तब उक्त प्रकार से चार भेंग घटित होते हैं, परन्तु जब उसकी एक-एक प्रकृति की अपेक्षा विचार किया जाये तब एक-एक प्रकृति रूप संक्रम और पतदग्रह दोनों सादि और अधुव-सांत हैं। क्यों बारंबार परावर्तन होना संभव है।

गोत्रकर्म के साद्यादि भंग

वेदनीयकर्म की तरह गोत्रकर्म की भी स्थिति है। क्योंकि इसकी

दोनों प्रकृतिलाई पतद्यग्रहमान छह है। जिसले उत्तरार्द संक्षेप और पतद्यग्रह स्थान होती रहती है। इसलिये वे दोनों स्थान वेदनीय की तरह सादि, अध्रुव हैं।^१

अब मोहनीयकर्म के पतद्यग्रह और संक्रम स्थानों के साद्यादि भंगों की प्ररूपणा करते हैं।

मोहनीयकर्म के पतद्यग्रह-संक्रम-स्थानों के साद्यादि भंग

मोहनीयकर्म के पतद्यग्रह और संक्रम स्थानों की संख्या का निरूपण पहले किया जा चुका है कि संक्रमस्थान तेईस और पतद्यग्रहस्थान अठारह हैं। उनमें से पच्चीस प्रकृति रूप संक्रमस्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार है। वह इस प्रकार—अट्ठाईस की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्व और मिथ्र मोहनीय की उद्वलना करे तब उसके पच्चीस का संक्रमस्थान होता है, इसलिये सादि है, अनादि मिथ्यादृष्टि के अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव होता है और शेष रहे सभी संक्रमस्थान अमुक काल पर्यन्त ही प्रवर्त्तमान होने से सादि-सांत हैं।

पतद्यग्रहस्थानों में से इक्कीस प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व और मिथ्र मोहनीय की उद्वलना होने के बाद छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले के इक्कीस प्रकृति रूप पतद्यग्रहस्थान की शुरुआत होती है, इसलिये सादि है। छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाले अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव हैं। शेष समस्त पतद्यग्रहस्थान नियतकाल पर्यन्त प्रवर्तित होने से सादि, अध्रुव-सांत हैं।

आयुकर्म में परस्पर संक्रम न होने से संक्रमत्व पतद्यग्रहत्व संबन्धी उनके सादि आदि भंग भी घटित नहीं होते हैं।

१. वेदनीय और गोव कर्म के संक्रम और पतद्यग्रह स्थानों विषयक विशेष सम्बोधन पूर्व में किया जा चुका है।

इस प्रकार दर्शनावरण और नाम कर्म के सिवाय शेष कर्मों के संक्रम और पतदग्रह स्थानों के सादि आदि भंगों की प्रलृपणा जानना चाहिये । अब दर्शनावरण-कर्म के सादि आदि भंगों का कथन करते हैं ।

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतदग्रह स्थानों के सादादि भंग

दंसणवरणे नवगो संक्रमणपडिगाहा भवे एवं ।

साई अधुवा सेसा संक्रमणपडिगाहाणा ॥१४॥

शब्दार्थ—दंसणवरणे—दर्शनावरणकर्म में, नवगो—नौ प्रकृति रूप, संक्रमणपडिगाहा—संक्रम और पतदग्रह स्थान, भवे—होता है, एवं—इसी प्रकार, साई अधुवा—सादि, अध्रुव, सेसा—शेष, संक्रमणपडिगाहाणा—संक्रम और पतदग्रह स्थान ।

गाथार्थ—दर्शनावरणकर्म में नौ प्रकृति रूप संक्रम और पतदग्रहस्थान इसी प्रकार सादि आदि चार प्रकार का है । शेष संक्रम और पतदग्रह स्थान सादि और अध्रुव हैं ।

विशेषार्थ—दर्शनावरणकर्म की नौ प्रकृतियों का बंधक मिथ्याहृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव नौ के पतदग्रह में नौ प्रकृतियों को संक्रमित करता है । इन नौ का पतदग्रह सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि मिथ्याहृष्टि आदि गुणस्थान में छह का बंध होने से नौ का पतदग्रह नहीं है । वहाँ से पतन होने पर होता है, इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनके अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव जानना चाहिये ।

इसी प्रकार नौ प्रकृति रूप संक्रमस्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है । जो इस प्रकार—सूक्ष्मसंपराय-गुणस्थान से आगे उपशांतमोहगुणस्थान में संक्रम नहीं होता है, वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिये सादि, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनके अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव होता है ।

अब शेष रहे पतद्वयस्थानों और संक्रमस्थानों के सादि आदि भंगों को स्पष्ट करते हैं—

मिश्रगुणस्थान से लेकर अपूर्वकरणगुणस्थान के संख्यात भाग पर्यन्त दर्शनावरणकर्म की नौ प्रकृतियों की सत्ता बाला और छह का बंधक छह में नौ संक्रमित करता है। यह छह का पतद्वयह सादि, सांत है। क्योंकि कदाचित्क-अमुककाल ही प्रवर्तित होता है।

अपूर्वकरण के संख्यातवे भाग में निद्रा और प्रचला का बंधविच्छेद होने के बाद से लेकर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उपशमश्रेणि में नौ की सत्ता बाला और जार का बंधक चार में नौ प्रकृतियों को संक्रमित करता है। यह जार प्रकृतिक पतद्वयह भी अन्त-मुँहूर्त पर्यन्त ही होने से सादि, अध्रुव है।

क्षपकथेणि में अभिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान का संख्यातवा भाग शेष रहे तब स्त्याभिद्वित्रिक का सत्ता में से क्षय होता है। उसका क्षय होने के बाद से लेकर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त दर्शनावरण की छह प्रकृतियों की सत्ता बाला और जार का बंधक चार में छह प्रकृतियों को संक्रमित करता है। यह संक्रम और पतद्वयह अन्तमुँहूर्त पर्यन्त ही प्रवर्तित होने से सादि, अध्रुव-सांत है।

इस प्रकार से दर्शनावरणकर्म के नौ प्रकृति रूप संक्रम और पतद्वयह स्थानों की सादि आदि रूप चतुर्भंगता और शेष स्थानों की द्विभंगता जानना चाहिये और इस में कारण उनका परिमित काल पर्यन्त होना है।

सुगमता से जानने के लिये साद्यादि भंगों की प्ररूपणा बोधक प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्वयह स्थानों को जानने की विधि

नवचक्कचउक्केसु नवगं संक्रमइ उवसमग्याणं ।

खवगाण चउसु छक्कं दुइए मोहं अओ बोच्छं ॥१५॥

शतदार्थी— सबलषकचउक्तकेसु— नौ, छह और चार प्रकृतिक में, नवगं— नौ प्रकृतियां, संकमह—संक्रमित होती हैं, उपशमगथाण—उपशमश्रेणि वालों के, खण्डगाण—क्षपकश्रेणि गत के, चउसु—चार में, छहक—छह प्रकृतियां, दुइए—दूसरे कर्म (दर्शनावरण) में, भोह—भोहनीय के, अओ—इसके बाद जोछं—कहूँगा ।

गाथार्थ— दर्शनावरणकर्म के नौ, छह और चार इन तीन पतदग्रह में उपशमश्रेणि वालों के नौ संक्रमित होती हैं और क्षपकश्रेणियां जीवों के चार में छह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । अब इसके बाद भोहनीय के लिये कहूँगा ।

विशेषार्थ— दूसरे दर्शनावरणकर्म में नौ, छह और चार प्रकृतिक इन तीन पतदग्रह में नौ प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । उनमें से आदि के दो गुणस्थानों पर्यन्त नौ में नौ संक्रमित होती हैं । तीसरे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त स्त्यानद्वित्रिक का बंध नहीं होने से लेष छह प्रकृतिक पतदग्रह में नौ प्रकृतियां संक्रमित होती हैं ।

आठवें गुणस्थान के दूसरे भाग से दसवें गुणस्थान के चरम समय-पर्यन्त उपशमश्रेणि को प्राप्त जीवों के बंधने वाली दर्शनावरण की चार प्रकृतियों में नौ प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । चार में नौ का संक्रम उपशमश्रेणि में ही होता है । क्षपकश्रेणिगत जीव ही नौवें गुणस्थान में स्त्यानद्वित्रिक का क्षय होने के बाद सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरमसमय पर्यन्त बंधने वाली चार प्रकृतियों में छह प्रकृतियां संक्रमित करता है । अन्य कोई संक्रमित नहीं करता है । अर्थात् खारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से बारहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त यद्यपि दर्शनावरणकर्म की सत्ता होती है, लेकिन दर्शनावरणकर्म का संक्रम नहीं होता है । क्योंकि बंध नहीं है और बंध नहीं होने से पतदग्रह भी नहीं और इसी कारण से चार प्रकृति रूप संक्रमस्थान भी नहीं तथा संक्रम या पतदग्रह नहीं होता है ।

अब संक्रम और पतद्वय ह स्थानों की अपेक्षा मोहनीयकर्म के सम्बन्ध में विचार करते हैं। उसमें भी पहले संक्रमस्थानों को जानने की विधि दर्शायी है।

मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान जानने की विधि

लोभस्स असंक्रमणा उद्वलणा खण्डणो छसत्तःहुं ।

उवसंताण वि दिट्ठीण संक्रमा संक्रमा नेया ॥१६॥

शब्दार्थ— लोभस्स—लोभ के, असंक्रमणा—संक्रम का अभाव, उद्वलणा—उद्वलना, खण्डणो—क्षणणा, छसत्तःहुं—छह और सास की, उवसंताण—उपशाति, वि—भी दिट्ठीण—हठियों का संक्रमा—संक्रमण से, संक्रमा—संक्रमस्थान, नेया—जानना चाहिये।

गाथार्थ— लोभ के संक्रम का अभाव, छह प्रकृतियों की उद्वलना, सात प्रकृतियों की क्षणणा तथा उपशाति होने पर भी हठियों के संक्रमण से संक्रमस्थान जानना चाहिये।

विशेषार्थ— गाथा में मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान प्राप्त करने का विधि-सूत्र वत्तलाया है। अतः गाथा में जो संकेत किये हैं, उनको लक्ष्य में रखकर कहाँ-कहाँ कौन-कौन संक्रमस्थान संभव हैं, वे जान लेना चाहिये। जैसे—

नीवें गुणस्थान में अन्तरकरण करने के पश्चात् संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है, अतएव उसके बाद प्रारम्भ में बाईस, बीस या बारह प्रकृतिक संक्रमस्थान होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये तथा सम्यवत्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और अनन्तानु-बन्धिचतुष्क इन छह प्रकृतियों की उद्वलना और हास्यघटक तथा पुरुषवेद इस साथ प्रकृतियों का शय होने के बाद उसका संक्रम नहीं होता है तथा तीन हठियों का उपशम होने पर भी संक्रम होता है।^१

१. सम्यवत्वमोहनीय का अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम नहीं होता है परन्तु अपवर्तनासंक्रम होता है। मिश्र, मिथ्यात्व मोहनीय का ही अन्यप्रकृति-नयनसंक्रम होता है।

इस प्रकार से इन सबका विचार करके जो संक्रमस्थान जहाँ और जब घटित हो, वह वहाँ घटित कर लेना चाहिये। कौनसा संक्रमस्थान कहाँ घटित होता है इसका विस्तार से निर्देश पूर्व में^१ किया जा सकता है।

अब जो-जो संक्रमस्थान जिम-जिस गुणस्थान में संभव है, उनका प्रतिपादन करते हैं।

गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान

आमीसं पणुवीसो इग्वीसो मीसगाउ जा पुञ्चो ।

मिच्छछखवगे दुवीसो मिच्छे य तिसत्तछवीसो ॥१७॥

शब्दार्थ—आमीसं—मिथ्यगुणस्थान पर्यन्त, पणुवीसो—पच्चीस प्रकृति रूप, इग्वीसो—इक्कीस प्रकृति रूप, मीसगाउ—मिथ्यगुणस्थान से, जा पुञ्चो—अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यन्त, मिच्छछखवगे—मिथ्यात्म के अपक के, दुवीसो—बाईस प्रकृति रूप, मिच्छे—मिथ्यात्म गुणस्थान में, य—अनुक समुच्चायक शब्द और, तिसत्तछवीसो—तेहस, छवीस, सत्ताईस प्रकृति रूप।

गाथार्थ—मिथ्यगुणस्थान पर्यन्त पच्चीस प्रकृतिरूप, मिथ्यगुणस्थान से अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यन्त इक्कीस प्रकृतिरूप, मिथ्यात्म के क्षपक के बाईस प्रकृतिरूप, मिथ्यात्मगुणस्थान में तेहस, छवीस और सत्ताईस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में गुणस्थानों की अपेक्षा मोहनीयकर्म के संक्रमस्थानों के स्वामियों का निर्देश किया है—

पच्चीस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान मिथ्याइष्टगुणस्थान से लेकर मिथ्यगुणस्थान पर्यन्त होता है, अन्यत्र नहीं होता है तथा मिथ्यगुणस्थान से लेकर अपूर्वकरणगुणस्थान पर्यन्त इक्कीस प्रकृति रूप संक्रमस्थान होता है, शेष गुणस्थानों में नहीं होता है।

१. गाथा ग्यारहवीं के विवेचन में।

मिथ्यात्व के क्षपक अविरतसम्यग्गृष्टि, देशविरत तथा सर्वविरत प्रमत्त-अप्रमत्त-गुणस्थान में ब्राईस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान होता है, अन्यथा नहीं होता है तथा मिथ्यात्वगुणस्थान में एवं गाथा में उक्त 'य च' शब्द से अविरत, देशविरत और सर्वविरत गुणस्थानों को ग्रहण करके उन में भी टेईस, सत्ताईस और छब्बीस प्रकृतिरूप इस प्रकार तीन संक्रमस्थान होते हैं। शेष गुणस्थानों में नहीं होते हैं।

अब पतद्यग्रहस्थान अठारह ही क्यों, हीनाधिक क्यों नहीं होते ? इसको युक्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं।

मोहनीयकर्म के अठारह पतद्यग्रहस्थान होने में युक्ति

खबगस्स सबंधच्चिय उबसमसेहोए सम्ममीसजुया ।

मिच्छखयगे ससम्मा अट्ठारस इय पडिगाहुया ॥१८॥

शब्दार्थ— खबगस्स—क्षपक के सबंधच्चिय—अपने बंधस्थान ही, उब-समसेहोए—उपशमश्रेणि में, सम्ममीसजुया—सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय युक्त, मिच्छेखयगे—मिथ्यात्व के क्षपक के, ससम्मा—सम्यक्त्व युक्त, अट्ठारस—अठारह, इय—इस कारण, पडिगाहुया—पतद्यग्रह।

गाथार्थ— क्षपक के अपने बंधस्थान ही पतद्यग्रह होते हैं, वे ही पतद्यग्रह उपशमश्रेणि में सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय युक्त होते हैं।

मिथ्यात्व के क्षपक के सम्यक्त्व युक्त पतद्यग्रह होते हैं। इस कारण अठारह पतद्यग्रहस्थान होते हैं।

विशेषार्थ— गाथा में अठारह पतद्यग्रहस्थान होने का कारण स्पष्ट किया है—

जिसने अनन्तानुबंधिचतुष्क आदि सात प्रकृतियों का क्षय किया है, उसे और जारिश्रमोहनीय के क्षपक के अपने जो बंधस्थान हैं अर्थात् वे मोहनीयकर्म की जितनी प्रकृतियों का बंध करते हैं, वे ही पतद्यग्रह होती हैं। जैसे कि क्षायिक सम्यक्त्वी अविरत, देशविरत और सर्वविरत जीवों के अनुक्रम से सञ्चह तेरह और नौ प्रकृतिक इस प्रकार तीन

पतद्यग्रहस्थान होते हैं। चारित्रमोहनीय के क्षपक^१ के पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति के बंध रूप पांच पतद्यग्रहस्थान होते हैं।

उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्हट्टिक के क्षपक संबन्धी जो पांच आदि प्रकृति रूप पतद्यग्रह हैं, वे ही सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय युक्त ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् उनके सात, छह, पांच, चार और तीन प्रकृतिक इस तरह पांच पतद्यग्रहस्थान होते हैं तथा क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होने के बाद जब तक मिश्रमोहनीय का क्षय न हो, तब तक पूर्व में क्षायिक सम्यक्त्वी अविरत, देशविरत और सर्वविरत के सत्रह, तेरह और नौ प्रकृति रूप जो पतद्यग्रह कहे हैं, उनमें सम्यक्त्वमोहनीय को मिलाने पर अठारह, चौदह और दस प्रकृतिक इस प्रकार तीन पतद्यग्रहस्थान होते हैं और जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय न हो, तब तक वही सत्रह आदि पतद्यग्रहस्थान सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के साथ उन्नीस, पन्द्रह और ग्यारह प्रकृति रूप इस प्रकार तीन होते हैं।

बाईस और इक्कीस प्रकृति के समूह रूप दो पतद्यग्रहस्थान मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में होते हैं। उनमें से मिथ्याहप्ति के दोनों और सासादनसम्यग्हट्टिके इक्कीस प्रकृति रूप एक पतद्यग्रहस्थान ही होता है।

इस प्रकार अठारह पतद्यग्रहस्थान होते हैं, हीनाधिक नहीं। एक ही संख्या यदि दो बार आये तो वहाँ संख्या एक ही लेना चाहिये और एक पतद्यग्रहस्थान दो प्रकार से होता है, यह समझना चाहिये। जैसे कि सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय इस तरह दो प्रकृतिरूप पतद्यग्रहस्थान ग्यारहवें गुणस्थान में भी होता है। और क्षपकश्रेणि में माया और लोभ इन दो प्रकृतिरूप नौवें गुणस्थान में भी होता है।

१. यहाँ क्षपक कहने से चारित्रमोहनीय का अप करने वाले नौवें गुणस्थान-धर्ती जीव को ग्रहण करना चाहिये, आठवें गुणस्थान धाले को नहीं। क्योंकि वहाँ चारित्रमोहनीय की एक भी प्रकृति का क्षय नहीं होता है।

अब शेणि की अपेक्षा जिस पतद्यग्रहस्थान में जो संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं, उनका कथन करते हैं।

शेणि की अपेक्षा पतद्यग्रहस्थान में संक्रमस्थान

दसगट्ठारसगाई चउ चउरो संक्रमति पंचमि ।

सत्तडचउवसिगारसबारसट्ठारा चउवकमि ॥१६॥

शब्दार्थ—दसगट्ठारसगाई—दस और अठारह आदि, चउ—चार, चउरो—चार, संक्रमति—संक्रमित होते हैं, पंचमि—पांच पतद्यग्रहस्थान में, सत्तडचउवसिगारसबारसट्ठारा—सात, आठ, चार, दस, चारह, चारह और अठारह, चउक्कमि—चार प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में।

गाथार्थ—दस और अठारह आदि चार-चार संक्रमस्थान पांच प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में तथा सात, आठ, चार, दस, चारह, चारह और अठारह प्रकृतिक ये सात संक्रमस्थान चार प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में शेष्यापेक्षा त्रिस पतद्यग्रहस्थान में कितने और कौन-कौन संव्या बाले संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं, यह स्पष्ट किया है—

पांच प्रकृतिस्प पतद्यग्रहस्थान में दस, चारह, चारह और तेरह तथा अठारह, उच्चीस, वीरा और इत्रकीस प्रकृतिक यह चार-चार संक्रमस्थान संक्रान्त होते हैं। उनमें शपक्षेणि में अन्तर्करण करने के बाद नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्षय होने के बाद अनुक्रम से चारह और दस प्रकृतियां पांच में संक्रमित होती हैं एवं उपशमशेणि में उपशमसम्यग्रहष्ठि के अनुक्रम से अप्रस्थास्थानावरण-प्रत्यास्थानावरण क्रोध तथा सञ्चलन क्रोध उपजमित होने पर चारह और दस प्रकृतियां पांच प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं और चारह प्रकृतियों का पांच में संक्रमण क्षपक्षेणि में हो होता है तथा वह भी अन्तर्करण करने के बाद नपुंसकवेद का क्षय न हो, वहाँ तक होता है

तथा तेरह प्रकृतियों का आठ कषायों का क्षय करने के बाद अन्तरकरण न करे, वही तक क्षपकश्रेणि में तथा पुरुषवेद का उपशम होने के बाद उपशम सम्यग्वृष्टि के उपशमश्रेणि में पांच प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में संक्रमण होता है। तथा —

अठारह, उन्नीस और बीस प्रकृतिरूप तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्वृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं। उनमें से अन्तरकरण करने पर लोभ का संक्रमण नहीं होता है, इसलिये बीस, नवुं सकवेद का उपशम होने के बाद उन्नीस और स्त्रीवेद का उपशम हुआ कि अठारह प्रकृतियां पांच में संक्रमित होती हैं तथा क्षायिक सम्यग्वृष्टि के उपशमश्रेणि में अन्तरकरण करने के पूर्व और आठ कपाय के क्षय के पहले क्षपकश्रेणि में इक्कीस प्रकृतियां पांच प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

चार के पतदग्रह में सात, आठ, चार, दस, ग्यारह, बारह और अठारह ये संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं। उनमें हास्यषट्क का क्षय होने पर चार प्रकृतियां चार में क्षपकश्रेणि में ही संक्रमित होती हैं तथा स्त्रीवेद का क्षय होने के बाद उपशमश्रेणि में दस प्रकृतियां चार में संक्रमित होती हैं तथा उसी उपशम सम्यक्त्वी के उपशमश्रेणि में अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हुआ कि आठ और संज्वलन मान उपशमित हुआ कि सात प्रकृतियां चार में संक्रमित होती हैं तथा ग्यारह, बारह और अठारह प्रकृतिक ये तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्वृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं। उनमें स्त्रीवेद का उपशम होने के बाद अठारह, हास्यषट्क का उपशम होने के बाद बारह और पुरुषवेद का उपशम होने के बाद ग्यारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतदग्रह में संक्रमित होती हैं। तथा —

तिनि तिगाई सत्तद्धनवय संक्रमिगारस तिगम्भा ।

दोसु छड्दठदुपंच थ इगि एककं दोणि तिश्छि पण ॥२०॥

शब्दार्थ—तिनि—तिनि—तीन, तिगाई—तीन आदि, सत्तद्धनवय—सात, आठ, नौ, संक्रमम—संक्रमित होते हैं, इगरस—ग्यारह, तिगम्भा—तीन प्रकृतिक

पतद्यग्रहस्थान में, दोसु—दो में, छहद्वयपञ्च—छह, आठ, दो और पाँच प्रकृतिक, व—और, इमि—एक में, एक—एक, दोषिण तिष्ठिण पण—दो तीन, पाँच।

गाथार्थ- तीन आदि तीन तथा सात, आठ, नौ और ग्यारह ये सात संक्रमस्थान तीन में संक्रमित होते हैं तथा दो में छह, आठ, दो और पाँच ये चार संक्रमस्थान एवं एक में एक, दो, तीन और पाँच प्रकृतिक ये चार संक्रमस्थान संक्रान्त होते हैं।

विशेषार्थ- तीन आदि अर्थात् तीन, चार और पाँच तथा सात, आठ, नौ एवं ग्यारह प्रकृतिक ये सात संक्रमस्थान तीन प्रकृति रूप पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं। उनमें क्षपकश्रेणि में पुरुषवेद का क्षय होने के बाद तीन प्रकृतियां तीन में संक्रमित होती हैं तथा उपशम सम्यक्त्वी के उपशमश्रेणि में संज्वलन मान के उपशांत होने के बाद सात, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया के उपशमित होने पर पाँच एवं संज्वलन माया का उपशम होने पर चार प्रकृतियां तीन में संक्रान्त होती हैं। आठ, नौ और ग्यारह प्रकृतिरूप तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्रहष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं। उनमें पुरुषवेद का उपशम होने के बाद ग्यारह प्रकृतियां, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्या-नावरण क्रोध के उपशांत होने के बाद नौ और संज्वलन क्रोध उपशमित होने पर आठ प्रकृतियां तीन प्रकृतिक पतद्यग्रह में संक्रमित होती हैं।

दो प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में छह, आठ, दो और पाँच प्रकृतिरूप चार संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं। उनमें छह, आठ और पाँच ये तीन संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्रहष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं। उनमें संज्वलन क्रोध के उपशमित होने के बाद मान पतद्यग्रह रूप नहीं रहता है, अतः आठ दो प्रकृतियों में संक्रान्त होती हैं। उनमें से अप्रत्याख्या-नावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम होने पर छह और संज्वलन मान का उपशम होने पर पाँच प्रकृतियां दो में संक्रमित होती हैं तथा क्षपकश्रेणि में क्रोध का क्षय होने के बाद मान और माया ये दो

प्रकृतियां माया और लोभ इन दो में और उपशमश्रेणि में सम्यक्त्व-मोहनीय और मिथ्यमोहनीय इन दो में मिथ्यात्वमोहनीय और मिथ्य-मोहनीय है दो प्रकृतियां हांगित होती हैं।

एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में एक, दो, तीन और पांच प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उनमें संज्वलन मान उपशमित होने के बाद माया पतद्ग्रहरूप नहीं रहती है जिससे एक लोभ में पांच प्रकृतियां क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में संक्रमित होती हैं। उसी के अप्रत्याख्यानावरण माया के उपशमित होने के बाद तीन और संज्वलन माया के उपशमित होने के बाद दो लोभ रूप दो प्रकृतियां संज्वलन लोभ में संक्रमित होती हैं तथा क्षपकश्रेणि में मान का क्षय होने के बाद एक संज्वलन माया का लोभ में संक्रम होता है।¹

अब पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार करते हैं।

पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार निम्नलिखित प्रकारों से किया जायेगा—

१—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान।

२—क्षपकश्रेणि के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान।

३—क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान।

इनमें से पहले मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणि में पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार करते हैं।

पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थान

- १. सुगमता से समझने के लिये संक्रमस्थानों में पतद्ग्रहस्थानों का प्रारूप परिणिष्ट में देखिये।

पणवीसो लंसारिसु इगबीसे सत्तरे य संकमइ ।

तेरस चउदस छबके बीसा छबके य सत्ते य ॥२१॥

शब्दार्थ—पणवीसो—पच्चीस, संसारिसु—संसारी जीवों में, इगबीसे—इवकीस में, सत्तरे—सत्रह में, य—और, संकमइ—संक्रमित होती हैं, तेरस चउदस—तेरह और चौदह, छबके—छह में, बीसा—बीस, छबके—छह में, य—और, सत्ते—सात में, ध—और ।

गाथार्थ—संसारी जीवों के इवकीस और सत्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । तेरह तथा चौदह छह में तथा बीस छह और सात में संक्रमित होती हैं ।

विशेषार्थ—मिथ्याहृष्टि, सासादन और सम्यग्‌मिथ्याहृष्टि रूप संसारी जीवों के इवकीस और सत्रह प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थानों में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । आशय इस प्रकार है—मिथ्याहृष्टि और सासादन गुणस्थान में इवकीस में और सम्यग्‌मिथ्याहृष्टि-गुणस्थान में सत्रह में पच्चीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं ।

उपशमधेणि में उपशम सम्यग्हृष्टि के अनुक्रम से हास्यपटक और पुरुषवेद का उपशम होने के बाद चौदह और तेरह प्रकृतियां छह प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं तथा पुरुषवेद पतद्ग्रह में से जब तक कम न हुआ हो तब तक सात प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में बीस प्रकृतियां और उसके कम होने के बाद छह प्रकृतिक पतद्ग्रह में बीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । तथा—

बाबीसे गुणबीसे पञ्चरसेक्कारसेसु छब्बीसा ।

संकमइ सत्तबीसा मिच्छे तहु अविरयाईण ॥२२॥

शब्दार्थ—बाबीसे गुणबीसे—बाईस, उन्नीस, पञ्चरसेक्कारसेसु—पञ्चरह और ग्यारह में, छब्बीसा—छब्बीस, संकमइ—संक्रमित होती है, सत्तबीसा—सत्ताईस, मिच्छे—मिथ्यात्व में, तहु—तथा, अविरयाईण—अविरत सम्यग्हृष्टि आदि के ।

गाथार्थ—बाईस, इक्कीस, पन्द्रह और ग्यारह प्रकृतिरूप पतद्-ग्रहस्थान में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियां मिथ्याहृष्टि और अविरतसम्यग्हृष्टि आदि के संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—मिथ्याहृष्टि तथा अविरतादि-अविरतसम्यग्हृष्टि, देशविरत और सर्वविरत गुणस्थान बालों के अनुक्रम से बाईस, उन्नीस, पन्द्रह और ग्यारह प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। उनमें से मिथ्याहृष्टि के बाईस में, अविरतसम्यग्हृष्टि के उन्नीस में, देशविरत के पन्द्रह में और सर्वनिरत-प्रमत्त-अप्रमत्त के ग्यारह में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उसमें पहले गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना होने के बाद छब्बीस प्रकृतिया। बाईस में संक्रमित होती हैं और अविरत आदि के उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद आवलिका के अंदर उन्नीस तथा आवलिका के बाद सत्ताईस प्रकृतियां उन्नीस आदि पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। तथा—

बाबीसे गुणबीसे पश्चरसेक्कारसे य सत्ते य ।

तेबीसा संकमडि मिच्छाविरयाइयाण कमा ॥२३॥

शब्दार्थ—बाबीसे—बाईस में, गुणबीसे—उन्नीस में, पश्चरसेक्कारसे—पन्द्रह और ग्यारह में, य—तथा, सत्ते—सात में, य—और, तेबीसा—नईम, संकमडि—संक्रमित होती हैं, मिच्छाविरयाइयाण मिथ्याहृष्टि और अविरत आदि के, कमा—अनुक्रम से।

गाथार्थ—मिथ्याहृष्टि और अविरत आदि के अनुक्रम से बाईस, उन्नीस, पन्द्रह, ग्यारह और सात के पतद्ग्रहस्थान में तेईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—मिथ्याहृष्टि और अविरति आदि-अविरत, देशविरत, संयत और अनिवृत्तिबादरसंपरयगुणस्थानवर्ती जीवों के अनुक्रम से बाईस, उन्नीस, पन्द्रह, ग्यारह और सात प्रकृतिक पतद्ग्रह में तेईस

प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। वे इस प्रकार—

अनन्तानुवंधि की विसंयोजना कर पहले गुणस्थान को प्राप्त हुए मिथ्याहृष्टि के एक आवलिका पर्यन्त तेईस प्रकृतियां चारित्रमोहनीय की इक्कीस और मिथ्यात्व इस प्रकार बाईस प्रकृति रूप पतदग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं तथा अनन्तानुवंधि के विसंयोजक चौबीस की सत्ता वाले क्षायोपशमिक सम्यग्हृष्टि अविरत, देशविरत और सर्वविरत जीवों के अनुक्रम से उन्नीस, पन्द्रह और ष्यारह प्रकृतिक पतदग्रह में तेईस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं और नीवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में अन्तरकरण प्रारंभ करने के पूर्व सात के पतदग्रहस्थान में तेईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। तथा—

अट्ठारस चोद्दससत्तगेसु बाबीस खीणमिच्छाणं ।

सत्तरसतेरनवसत्तगेसु इगबीसं संकमइ ॥२४॥

शब्दार्थ—अट्ठारस चोद्दससत्तगेसु—अठारह, चौदह, दस, सात में, बाबीस—बाईस, खीणमिच्छाण—क्षीणमिथ्याहृष्टि के, सत्तरसतेरनवसत्तगेसु—सत्रह, तेरह, नौ, सात में, इगबीस—इक्कीस प्रकृतियां, संकमइ—संक्रमित होती हैं।

गाथार्थ—क्षीणमिथ्याहृष्टि ऐसे अविरतादि के अठारह, चौदह और दस प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में और उपशम सम्यक्त्वी के सात प्रकृतिरूप पतदग्रहस्थान में बाईस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं तथा उसी क्षीणसप्तक अविरतादि के सत्रह, तेरह और नौ के पतदग्रह में और उपशमश्रेणि में उपशम सम्यक्त्वी के सात के पतदग्रह में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करते हुए जिन्होंने मिथ्यात्वमोह का क्षय किया है ऐसे अविरत, देशविरत और संयत जीवों के अठारह, चौदह और दस प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में बाईस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं। उसमें जिसने मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय

किया ऐसे अविरत सम्यग्हटित के अठारह में, देशविरत के चौदह में और सर्वविरत के दस में बाईस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं तथा गाथा में गृहीत बहुवचन इष्ट अर्थ की व्याप्ति के लिये होने से औपशमिक सम्यग्हटित के उपशमश्रेणि में अन्तरकरण करने के बाद भात प्रकृति रूप पतदग्रह में बाईस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं ।

उन्हीं शायिक सम्यग्हटित अविरत आदि के सत्रह, तेरह और नौ के पतदग्रह में इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं ।^१ उनमें से चौथे गृणस्थान में सत्रह के, पांचवें में तेरह के और छठे-सातवें में नौ के पतदग्रहस्थानों इक्कीस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं और औपशमिक सम्यग्हटित के उपशमश्रेणि में नपुंसकबेद का उपशम होने के बाद इक्कीस प्रकृतियां सात प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं ।

पूर्व में श्वपकश्रेणि और उपशमश्रेणि के पतदग्रहस्थानों में संक्रम-स्थानों का निर्देश किया । अब केवल श्वपकश्रेणि के पतदग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का प्रतिपादन करते हैं ।

दसगाइचउक्क एकबीस खवगस्स संकमहि पंचे ।

दस चत्तारि चउक्कके तिसु तिलि दु दोसु एकलेक्क ॥२५॥

शब्दार्थ—दसगाइचउक्क—दस आदि चार, एकबीस—इक्कीस, छव-गस्स—श्वपक के, संकमहि—संक्रमित होती हैं, पंचे—पांच में, दस चत्तारि—दस और चार, चउक्कके—चार में, तिसु—तीन में, तिलि—तीन, दु—दो, दोसु—दो में, एकलेक्क—एक में एक ।

गाथार्थ—श्वपक के दस आदि चार और इक्कीस प्रकृतियां पांच में, दस और चार चार में, तीन तीन में, दो दो में और एक एक में संक्रमित होती हैं ।

१. इसी प्रकार मिश्रमोहनीय का अय होने के बाद बाईस की सत्ता वाले अविरत आदि शायोपशमिक सम्यकत्वी के भी इन्हीं तीन पतदग्रहस्थानों में इक्कीस प्रकृतियों का संक्रम होता है । परन्तु वह भायिकसम्यकत्व प्राप्त करते हुए ही होता है, इसलिये उसकी संभवतः विवक्षा न की हो ।

विशेषार्थ— क्षपकश्रेणि में वर्तमान अनिवृत्तिग्रादरसंवरणगुण-स्थानवर्ती जीव के दस, ग्यारह, बारह और तेरह तथा इक्कीस यह पांच संक्रमस्थान पांच प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं। इसमें जाठ कपाय का धाय होने के पहले इक्कीस प्रकृतियां पुरुषवेद और संज्वलनवतुष्का इन बंधने वाली पांच प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। आठ कणायों का क्षय होने के बाद तेरह प्रकृतियां पांच में संक्रान्त होती हैं। अन्तरकारण करने के बाद लोभ का संक्रम नहीं होता है, अतः बारह प्रकृतियां पांच में संक्रमित होती हैं। नपुंसकवेद का क्षय होने के बाद ग्यारह और स्त्रीवेद का क्षय होने के बाद दस प्रकृतियां पूर्वोक्त पांच प्रकृतिशूल पतद्यग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं।

दस और चार प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं। उनमें पुरुषवेद की प्रथमस्थिति समयन्थून दो आवलिका शेष रहे तब वह पतद्यग्रह नहीं रहता है, जिससे पूर्वोक्त दस प्रकृतियां संज्वलनवतुष्क में संक्रमित होती हैं और हास्यपट्टक का क्षय होने के बाद चार प्रकृतियां पूर्वोक्त चार में संक्रमित होती हैं।

पतद्यग्रह में से कोई कम होने के बाद शेष तीन प्रकृतिक पतद्यग्रह में तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। इसी प्रकार पतद्यग्रह में से मान के जाने के बाद माया और लोभ ये दो प्रकृतियां माया और लोभ इन दो के पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं और माया के भी पतद्यग्रह में से कम होने के बाद एक लोभ में माया का संक्रम होता है।

अब क्षायिक सम्यग्दण्डि के उपशमश्रेणि में पतद्यग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का प्रतिपादन करते हैं—

अट्ठाराइचउडकं पञ्चे अट्ठार बार एककारा ।

चउसु इगारसनवअड तिगे दुगे अट्ठछपञ्च ॥२८॥

शतवार्थ—अट्ठाराहचतुष्कं—अठारह, आदि चार, पंच—पांच में, अट्ठार हार एककारा—अठारह, बारह, चारह, चतुर्सु—चार में, हगरसन्द-बमङ्ग—यारह, नौ, आठ, तिगे—तीन में, दुगे—दो में, अट्ठछप्प्यंच—आठ, छह, पांच ।

गाथार्थ—अठारह आदि चार पांच के पतद्यग्रह में, अठारह, बारह और ग्यारह चार में, च्यारह, नौ और आठ तीन में, आठ, छह और पांच प्रकृतियां दो प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं ।

विशेषार्थ—ज्ञायिक सम्बन्धिटि के उपग्रहस्थेणि में अठारह, उन्नीस, बीस और इककीस प्रकृतिक ये चार संक्रमस्थान पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क रूप पांच प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं । उनमें अन्तरकरण करने के पहले इककीस प्रकृतियां पांच प्रकृतिरूप पतद्यग्रहस्थान में संक्रमेत होती हैं और अन्तरकरण करने के बाद लाभ के सिवाय बीस प्रकृतियां पांच में संक्रमेत होती हैं । उपग्रहस्थेणि का उपशम होने के बाद उन्नीस प्रकृतियां और स्त्रीवेद के उपशांत होने के बाद अठारह प्रकृतियां पांच प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमेत होती हैं ।

अठारह, बारह और च्यारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्यग्रह में संक्रमेत होती हैं । पतद्यग्रह में से पुरुषवेद के जाने के बाद अठारह प्रकृतियां चार में संक्रमित होती हैं । हास्यपट्टि के उपशांत होने के पश्चात् बारह प्रकृतियां और पुरुषवेद का उपशम होने के बाद च्यारह प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं । ‘अट्ठार हार एककारा चतुर्सु ।

‘इगरसनवअड तिगे’ अर्थात् च्यारह, नौ और आठ प्रकृतियां तीन प्रकृतिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमेत होती हैं । वे इस प्रकार संज्वलन क्रोध पतद्यग्रह हो वहाँ तक संज्वलनचतुष्क में च्यारह प्रकृतियां संक्रमित होती हैं और क्रोध पतद्यग्रह में से जाने के बाद च्यारह प्रकृतियां

तीन प्रकृतिक पतद्वयहस्थान में संक्रमित होती हैं तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध के उपशांत होने के बाद नौ प्रकृतियाँ और संज्वलन क्रोध के उपशमित होने पर आठ प्रकृतियाँ तीन में संक्रमित होती हैं।

दो प्रकृतिक पतद्वयहस्थान में आठ, छह और पांच प्रकृतियाँ संक्रान्त होती हैं—‘दुगे अट्ठछप्पंच’। वे इस प्रकार—संज्वलन मान के पतद्वयह में से कम होने के बाद आठ प्रकृतियाँ दो में संक्रमित होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान के उपशमित होने के बाद छह प्रकृतियाँ और संज्वलन मान के उपशांत होने पर पांच प्रकृतियाँ माया और लोभ इस दो प्रकृतिक पतद्वयहस्थान में संक्रमित होती हैं। तथा—

पण दोन्नि तिन्नि एवके उवसमसेढोए खइयदिट्ठस्स ।

इयररस उ दो दोनु सत्त्वु बीसाइ चत्तारि ॥२७॥

शास्त्रार्थ— पण दोन्नि तिन्नि—पांच, दो, तीन, एकके—एक में, उवसमसेढोए—उपशमश्रेणि में, खइयदिट्ठस्स—क्षायिक सम्यग्हष्टि के, इयररस—इतर के—उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्हष्टि के, उ—और, बी—दो, दोनु—दो में, सत्त्वु—सात में, बीसाइ चत्तारि—बीस आदि चार संक्रमित होती हैं।

गाथार्थ— उपशमश्रेणि में क्षायिक सम्यग्हष्टि के एक में पांच, दो और तीन प्रकृतियाँ और इतर—उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्हष्टि के दो में दो तथा सात में बीस आदि चार संक्रमित होती हैं।

विशेषार्थ— माया के पतद्वयह में से दूर होने पर एक लोभ में पांच प्रकृतियाँ संक्रान्त होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया के उपशांत होने पर तीन प्रकृतियाँ एक लोभ में और संज्वलन माया के उपशांत होने पर मात्र अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण ये दो लोभ संज्वलन लोभ पतद्वयह रूप हो वहाँ तक एक में संक्रमित होते हैं।

इस प्रकार अठारह् आदि संक्रमस्थान पांच आदि पतद्यग्रहस्थान में क्षायिक सम्यग्वृष्टि के उपशमश्रेणि में समझना चाहिये ।

इतर—उपशमश्रेणि में उपशम सम्यग्वृष्टि के मिथ्यात्व और मिथ्य मोहनीय ये दो प्रकृतियां दो प्रकृतियों—सम्यक्त्व और मिथ्य मोहनीय में संक्रमित होती हैं तथा सात प्रकृतिक पतद्यग्रह में बीस, इक्कीस, बाईस और तेईस ये चार संक्रमस्थान संक्रान्त होते हैं । उनमें अन्तरकरण करने के पहले अनन्तानुबंधित्वतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय तेईस प्रकृतियां सात प्रवृत्तिक पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं । अन्तरकरण करने के बाद लोभ के सिवाय बाईस, नपुंसकवेद के उपशान्त होने पर इक्कीस और स्त्रीवेद के उपशमित होने पर बीस प्रकृतियां सात प्रकृति रूप पतद्यग्रहस्थान में संक्रान्त होती हैं । तथा—

छसु बीस चौदह तेरह सतेरेककारस य दस य पंचमि ।

दसडसत्त चतुर्वके तिगमि सग पंच चउरो य ॥२८॥

शब्दार्थ—छसु—छह में, बीस चौदह तेरह—बीस, चौदह, तेरह, तेरेकारस—तेरह, च्यारह, य—और, दस—दस, य—और, पंचमि—पांच में, दसड—दस, आठ, सत्त—सात, चतुर्वके—चार में, तिगमि—तीन में, सग पंच चउरो—सात, पांच, चार, य—और ।

गाथार्थ—छह में बीस, चौदह और तेरह प्रकृतियां तथा पांच में तेरह, च्यारह, दस प्रकृतियां, चार में दस, आठ और सात प्रकृतियां तथा तीन में सात, पांच और चार प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं ।

विशेषार्थ—पतद्यग्रह में से पुरुषवेद के कम होने पर छह प्रकृतियों में पूर्वोक्त बीस प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं तथा हास्यषट्क के उपशमित होने पर चौदह प्रकृतियां छह के पतद्यग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं और पुरुषवेद के उपशान्त होने पर तेरह प्रकृति संक्रान्त होती हैं ।

क्रोध के पतद्यग्रह में से कम होने पर पांच में तेरह प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं । अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान के उपशान्त होने

पर भारह और संज्वलन क्रीड़े के उपशांमित होने पर इस प्रकृतियां पांच प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं।

पतद्ग्रह में से मान के कम होने पर चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में दस प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान के उपशमित होने पर सात प्रकृतियां चार प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

संज्वलन माया पतद्ग्रह में से कम होने पर तीन में सात प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया के उपशमित हो जाने पर पांच और संज्वलन माया के उपशमित होने पर चार प्रकृतियां तीन प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं।

जब तक संज्वलन लोभ पतद्ग्रह हो तब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ उसमें संकान्त होता है और संज्वलन लोभ के पतद्ग्रह न रहने पर मिथ्यात्व और मिथ मोहनीय ये दो प्रकृतियां सम्यक्त्व और मिथ मोहनीय इन दो में संक्रमित होती हैं।

इस प्रकार से श्रेण्यापेक्षा पतद्ग्रह स्थानों में संक्रमस्थानों का कथन जानना चाहिये। अब मिथ्यात्व, सासादन और मिथ गुणस्थान के पतद्ग्रहस्थान मुगम होने से उनको नहीं कहकर शेष गुणस्थानों के पतद्ग्रहस्थानों का कथन करते हैं।

अविरत आदि गुणस्थानों के पतद्ग्रहस्थान

गुणवीसपन्नरेक्कारसाइ ति ति सम्बदेसविरयाणं ।

सत्त पणाइ छ पंच उ पडिगगहणा उभयसेहीसु ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—गुणवीसपन्नरेक्कारसाइ—उनीस, पन्द्रह, भारह आदि, ति ति तीन-तीन, सम्बदेसविरयाण—अविरत सम्यगहाटि, देशविरत, सर्वविरत, सत्त पणाइ—सात आदि और पांच आदि, छ, पंच—छह, पाँच, उ—और पडिगगहणा—पतद्ग्रह, उभयसेहीसु—दोनों श्रेणियों में।

गाथार्थ—उन्नीस, पन्द्रह, मारह, आरह तीन तीन पतदग्रह अविरतसम्यगदृष्टि, देशविरत और सर्वविरत गुणस्थानों में तथा अनुक्रम से सात आदि छह एवं पांच आदि पांच पतदग्रह-स्थान दोनों श्रेणियों में होते हैं।

विशेषार्थ—अविरतसम्यगदृष्टि के उन्नीस, अठारह और सत्रह ये तीन पतदग्रहस्थान, देशविरत के पन्द्रह, चौदह और तेरह ये तीन पतदग्रहस्थान और सर्वविरत—प्रमत अप्रमत संवत के ग्यारह, दस और नौ प्रकृतिक ये तीन पतदग्रहस्थान होते हैं। जिसका स्थाप्ती-करण इस प्रकार है—

अविरतसम्यगदृष्टि के बंधती सत्रह प्रकृतियाँ तथा सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय ये उन्नीस प्रकृतियाँ पतदग्रह रूप होती हैं। उसी के क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते मिथ्यात्व का क्षय होने के बाद अठारह तथा मिश्रमोहनीय का क्षय होने के बाद सत्रह प्रकृतियाँ पतदग्रह में होती हैं।

देशविरत के अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क का बंध नहीं होने से उपर्युक्त उन्नीस प्रकृतियों में से उनको कम करने पर शेष पन्द्रह प्रकृतियाँ प्रारम्भ में पतदग्रह रूप होती हैं। उनमें से पूर्वोक्त क्रम से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षय होने पर चौदह और तेरह प्रकृतियाँ पतदग्रह में होती हैं।

सर्वविरत के प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का बंध नहीं होता है। इसलिये उनके सिवाय शेष ग्यारह प्रकृतियाँ प्रारम्भ में पतदग्रह में होती हैं। उनमें से क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए अनुक्रम से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षय होने के बाद दस और नौ प्रकृतियाँ अनुक्रम से पतदग्रह में होती हैं।

सात, छह, पांच, चार, तीन और दो प्रकृति रूप ये छह पतदग्रह-स्थान औपशमिक सम्यगदृष्टि के उपशमश्रेणि में होते हैं तथा पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप पतदग्रहस्थान क्षायिक सम्य-

रहिणि के उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि में होते हैं। यद्यपि गाथा में सात आदि छह और पांच आदि पांच पतदग्रह उभय श्रेणि में होते हैं, ऐसा सामान्य से कहा है। लेकिन श्रेणिगत पूर्व में कहे गये संक्रम पतदग्रह स्थानों को ध्यान में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सात आदि छह पतदग्रहस्थान उपशमसम्यक्त्वी के उपशमश्रेणि में होते हैं। इसीलिये यहाँ उक्त प्रकार से स्पष्ट किया है। किन्तु मात्र सात आदि छह उपशमश्रेणि में और पांच आदि पांच क्षपकश्रेणि में होते हैं, ऐसा क्रम नहीं समझना चाहिये।

इस प्रकार से मोहनीयकर्म के संक्रमस्थानों और पतदग्रहस्थानों के विषय में विस्तार से निरूपण जानना चाहिये।^१ अब शेष रहे नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतदग्रहस्थानों का विचार करने हैं।

नामकर्म के संक्रमस्थान और पतदग्रहस्थान

सत्तागत प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं। अतएव संक्रमस्थानों को जानने के लिये पहले नामकर्म के सत्तास्थानों को बतलाते हैं।

नामकर्म के बारह सत्तास्थान हैं। वे इस प्रकार—१०३, १०२, ६६, ६५, ६३, ६०, ८६, ८४, ८३, ८२, ६ और ८ प्रकृतिक तथा संक्रमस्थान भी बारह है—१०३, १०२, १०१, ६६, ६५, ६४, ६३, ८६, ८४, ८२, ८१ प्रकृतिक। ये संक्रमस्थान सत्तास्थानों की ऊपेक्षा कुछ भिन्न संरूपा वाले हैं। जिनका यथाक्रम से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक सौ लीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, इन चार सत्तास्थानों की 'प्रथम' यह संज्ञा है। जहाँ प्रथमसत्तास्थानवतुष्क कहा जाये, वहाँ यह चार सत्तास्थान ग्रहण करना चाहिये। इनमें नामकर्म

१. सुगमता से समझने के लिये मोहनीयकर्म के पतदग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों के प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

की सभी प्रकृतियों का जो समूह वह एक सौ तीन प्रकृतिक, तीर्थकरनाम की सत्तारहित एक सौ दो प्रकृतिक तथा पूर्वोक्त एक सौ तीन की सत्ता जब आहारकसप्तक रहित हो तब छियानवै प्रकृतिक और पूर्वोक्त एक सौ दो की सत्ता आहारकसप्तक रहित हो तब पंचानवै प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

उपर्युक्त प्रथमसत्ताचतुष्क में से क्षपकश्रेणि के नौवें गुणस्थान में तेरह प्रकृतियों का क्षय हो तब अनुक्रम से नव्वै, नवासी, तेरासी और व्यासी प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। इनकी 'द्वितीयसत्ताचतुष्क' यह संज्ञा है।

पंचानवै में से देवद्विक की उद्वलना होने पर तेरासी, उनमें से चैक्रियसप्तक और नरकद्विक की उद्वलना हो तब चौरासी और मनुष्यद्विक की उद्वलना हो तब व्यासी प्रकृतिक ये तीन सत्तास्थान होते हैं। इन तीन की 'अध्युव' यह संज्ञा है। यद्यपि व्यासी प्रकृतिक सत्तास्थान द्वितीयसत्ताचतुष्क में आता है तथा चौरासी की सत्ता बाला मनुष्यद्विक की उद्वलना करे तब भी हाता है, परन्तु संख्या तुल्य होने से उसे एक ही गिना है। एक सत्तास्थान दो प्रकार से होता है, किन्तु सत्तास्थान की संख्या का भेद नहीं होता है। इस प्रकार दस सत्तास्थान हुए।

इनमें से द्वितीयसत्ताचतुष्क में के नव्वै और तेरासी प्रकृति रूप दो सत्तास्थान संक्रम में घटित नहीं होते हैं। जिसका कारण संक्रमस्थान का विचार करने के प्रसंग में स्पष्ट किया जायेगा। शेष सत्तास्थान संक्रम में होते हैं। इसलिये अभी कहे गये दस सत्तास्थानों में से आठ संक्रमस्थान संभव हैं।

नौ और आठ प्रकृति के समूह रूप दो सत्तास्थान और भी हैं। परन्तु वे अयोगि-अवस्था के चरम समय में होने से संक्रम के विषय-भूत नहीं होते हैं। क्योंकि जब पतदग्रह हो तब संक्रम होता है और ईश्यमान प्रकृति पतदग्रह होती है। लेकिन चौदहवें गुणस्थान में कोई भी प्रकृति बंधती नहीं है। जिससे पतदग्रह न होने से किसी भी प्रकृति का संक्रम नहीं होता है।

इस प्रकार नामकर्म के बारह सत्तास्थानों में से आठ संक्रमस्थान होते हैं और दूसरे चार संक्रमस्थान सत्तास्थान से बाहर के हैं। वे इस प्रकार—एक साँ एक, चौरानवै, अठासी और इक्यासी प्रकृतिक। इस प्रकार होने से सत्तास्थान जैसे बारह हैं वैसे ही संक्रमस्थान भी बारह होते हैं। किन्तु दोनों में कुछ भिन्नता है। वे इस प्रकार १०३, १०२, १०१, ६६, ६५, ६४, ६३, ६६, ६४, ६२, ६१ प्रकृतिक।

नामकर्म के इन सत्तास्थानों और संक्रमस्थानों को स्पष्टता से समझने का प्रारूप इस प्रकार है—

नामकर्म के सत्तास्थान और संक्रमस्थान

नामकर्म के सत्तास्थान—१०३, १०२, ६६, ६५, ६३, ६०, ६६, ६४, ६२, ६१, प्रकृतिक।

नामकर्म के संक्रमस्थान—१०३, १०२, १०१, ६६, ६५, ६४, ६३, ६६, ६४, ६२, ६१ प्रकृतिक।

पतदग्रहस्थानों को बतलाने के लिये पहले नामकर्म के बंधस्थानों का निर्देश करते हैं कि नैईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिक। इन आठों बंधस्थानों के बराबर अर्थात् बंधस्थानों के समान ही और उतनी-उतनी प्रकृतियों के समुदाय रूप नामकर्म के पतदग्रहस्थान जानना चाहिये। वे इस प्रकार—२६, २५, २६, २८, २६, ३०, ३१ और १ प्रकृतिक।

इस प्रकार से नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतदग्रहस्थानों का निर्देश करने के बाद बब कौन प्रकृतियाँ किस में संक्रमित होती हैं? इसका निरूपण करते हैं।

नामकर्म के पतदग्रहस्थानों में संक्रमण

पठमचउक्कं तिथग रवज्जितं अधुक्षसंततियजुत्तं ।

तिगपणछब्बीसेसुं संक्रमइ पडिगगहेसु तिसु ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—पठमचउक्कं—प्रथमचतुष्क, तिथगरवज्जितं—तीर्थकरनामकर्म वाले की छोड़कर, अग्रुषसंततियजुत्तं—अग्रुषसत्ताश्रिकयुक्त, तिगपणछब्बीसेसुं

—तेईस, पच्चीस और छब्बीस में, संक्रमइ—संक्रमित होते हैं, पढ़ागहेसु—पतदग्रह में, तिसु तीन में।

गाथार्थ—तीर्थकरनामकर्म वाले सत्तास्थानों की छोड़कर शेष प्रथमसत्तान्तुष्टुक और अशुद्धसत्तार्थिक दृश्य प्रकार दौल्त मन्दिरस्थान तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृति रूप तीन पतदग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं।

विशेषार्थ—प्रथमसत्तास्थानचतुष्टुक (१०३, १०२, ६६ और ६५) में से तीर्थकरनामकर्म की जिनमें सत्ता है ऐसे १०३ और ६६ प्रकृतिक इन दो सत्तास्थानों को छोड़कर और उनमें अशुद्धसत्ता वाले १३, ८४ और ८२ प्रकृतिक इन तीन सत्तास्थानों को मिलाने पर कुल १०२, ६५, ६३, ८४ और ८२ प्रकृतिक ये पांच स्थान बंधने वाले तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक तीन पतदग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि तेईस आदि तीन पतदग्रहस्थानों में एक सौ दो, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतिक ने पांच-पांच संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वण्डिदिचतुष्टुक, अगुरुलधु, उपघात, निर्मण, तैजस, कार्मण, औदारिकणरीर, हुँडकसंस्थान, एकेन्द्रियजाति, तिर्यचंगति, तिर्यचानुपूर्वी, बादर-सूक्ष्म इन दोनों में से एक, स्थावर, अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण में से एक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, जनादेय और अयशकीर्ति रूप अपर्याप्त एकेन्द्रिययोग्य तेईस प्रकृतियों का नंध होने पर और एक सौ दो आदि उपर्युक्त पांच प्रकृतिस्थानों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तिर्यच अनुक्रम में उन तेईस प्रकृतियों में १०२, ६५, ६३, ८४ और ८२ प्रकृति रूप पांच मंक्रमस्थानों को संक्रमित करते हैं।

यहाँ मनुष्य को ग्रहण नहीं करने का कारण यह है कि उसे सभी सत्तास्थान नहीं होते हैं। मनुष्यद्विक रहित व्यासी प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है, उसके सिवाय शेष चार सत्तास्थान होते हैं। वे चार सत्तास्थान तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक इन तीन पतदग्रह-

स्थानों में संक्रमित हो सकते हैं। मनुष्य भी तो इस आदि तीन बंध-स्थानों को बांध सकते हैं। जिससे वे जब बंधें तब उपर्युक्त एक सौ दो आदि प्रकृतिस्थानों में के जो सत्ता में हों, वे संक्रमित हो सकते हैं।

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वण्डिचतुष्क, एकेन्द्रियजाति, हुँडकसंस्थान, औदारिकशरीर, तिर्यचंगति, तिर्यचानुपूर्वी, स्थावर, बादर-सूक्ष्म में से एक, पर्याप्तताम, प्रत्येक-साधारण में से एक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, पराघात और उच्छवास रूप एकेन्द्रियप्रायोग्य पञ्चीस प्रकृतियों का बंध करने पर और एक सौ दो प्रकृतिक आदि पांच में से व्यक्ति प्रकृतिहस्तान की इन्हां वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय आदि जीव उस पञ्चीस प्रकृतिक पतदग्नहस्थान में एक सौ दो, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और ब्यासी प्रकृतिक ये पांच संक्रमस्थान संक्रमित करते हैं।^१ अथवा—

तैजस, कार्मण, वण्डिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, द्वीन्द्रियादि कोई एक जाति, हुँडकसंस्थान, सेवार्तसंहनन, औदारिक-शरीर, औदारिक-अंगोपांग, तिर्यचंगति, तिर्यचानुपूर्वी, ऋस, बादर, अपर्याप्ति, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति रूप अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यचं पञ्चेन्द्रिय और भनुष्य योग्य^२ पञ्चीस प्रकृतियों का बंध करने पर और एक सौ दो आदि उपर्युक्त पांच प्रकृतिस्थानों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यचं पञ्चेन्द्रिय और भनुष्य पञ्चीस प्रकृतिरूप पतदग्नहस्थान में एक सौ दो आदि प्रकृतिक पांच संक्रमस्थान संक्रमित करते हैं।

१. यहाँ इलना विशेष है कि देवों के एक सौ दो और पंचानवै तथा भनुष्यों के बयासी प्रकृतिक सिवाय शेष संक्रमस्थान होते हैं।

२. यसन्तु भनुष्य योग्य पञ्चीस प्रकृतियां बांधने पर बयासी के बिना शेष चार संक्रमरथाने होते हैं।

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपधात, निर्माण, वणादिचतुष्क, एकेन्द्रियजाति, हुङ्कसंस्थान, औदारिकशारीर, तिर्थैचगति, तिर्थ चानुपूर्वी, स्थावर, पर्याप्त, बादर, प्रथमक स्थिर-अस्थिर में से एक, गुभ-अशुभ में से एक, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, पराधात, उच्छ्वास और आतप-उद्योत में से एक, इस तरह एकेन्द्रिय-प्रायोग्य छब्बीस प्रकृतियों का बंध करने पर और एक सौ दो और पंचानवै की सत्ता वाले नारकी का छोड़कर एकेन्द्रियादि सभी जीव उस छब्बीम प्रकृतिक स्थान में एक सौ दो और पंचानवै संक्रमित करते हैं तथा छब्बीस प्रकृतियों को बांधने पर तेरानवै और चौरासी की सत्ता वाले देव और नारक बिना शेष एकेन्द्रियादि जीव छब्बीस में तेरानवै और चौरासी प्रकृतियां संक्रमित करते हैं । तथा—

वयासी की सत्ता वाले और छब्बीस प्रकृतियों को बांधने पर देव, नारक और मनुष्य वंजित वे एकेन्द्रियादि जीव छब्बीस में वयासी प्रकृतियां संक्रमित करते हैं ।

इस प्रकार से तेईस, पञ्चीस और छब्बीस प्रकृतिक पतदग्रह-स्थानों में संक्रमित होने वाले संक्रमस्थानों का जानना चाहिये । अब शेष पतदग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का विचार करते हैं ।

पद्मं संतचउदकं इगतीसे अधुवतियज्जुयं तं तु ।

गुणतीसतीसएसु जसहीणा दो चतुष्क जसे ॥३१॥

शब्दार्थ—पद्मं संतचउदकं—प्रथम सत्ताचतुष्क, इगतीसे—इकतीस में, अधुवतियज्जुयं—अधुवसत्ताश्रिक के साथ, तं—वह (प्रथम सत्ताचतुष्क), तु—और, गुणतीसतीसएसु—उनतीस तीस में, जसहीणा—यशःकीर्ति हीन, दो चतुष्क—दो चतुष्क, जसे—यशःकीर्ति में ।

गाथार्थ—प्रथमसत्ताचतुष्क इकतीस में संक्रमित होता है । अधुवसत्ताश्रिक के साथ वह (प्रथमसत्ताचतुष्क) उनतीस और तीस में तथा यशःकीर्ति हीन दो चतुष्क यशःकीर्ति में संक्रान्त होते हैं ।

विशेषार्थ—देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपाग, समचतुरस्संस्थान, देवानुपूर्वी, पराघात, उच्छ्रवास, प्रशस्त-विहायोगति, व्रस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, मुम्भा, मुहन्तर, आदेय, यशःवीति, तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, तीर्थकर और आहारकद्विक रूप इकतीस प्रकृतियों का बंध करता हुआ अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानबत्तीं संयत जीव उन इकतीस में प्रथमसत्ताचतुष्क (१०३, १०२, ६६, ६५ प्रकृतिक) रूप चार संक्रमस्थानों को संक्रमित करता है। उनमें तीर्थकरनाम और आहारकद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद एक सौ तीन संक्रमित करता है। जिसे तीर्थकरनाम की बंधावलिका न बीती हो परन्तु आहारकसप्तक की बीत गई हो वह एक सौ दो इकतीस में संक्रमित करता है।^१ तीर्थकरनाम की बंधावलिका बीत गई हो परन्तु आहारकसप्तक की न बीती हो, वह छियानवै संक्रमित करता है और तीर्थकरनाम तथा आहारकसप्तक इन दोनों की बंधावलिका जिसके न बीती हो, वह पंचानवै प्रकृतियां बंधने वाली इकतीस प्रकृतियों में संक्रमित करता है।

अध्युबसत्तात्रिक के साथ प्रथमसत्ताचतुष्क उनतीस और तीस प्रकृतिक पतद्वयस्थानों में संक्रमित करता है। अर्थात् उनतीस और तीस प्रकृति रूप पतद्वयस्थानों में एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृति रूप सात-सात संक्रमस्थान संक्रमित करता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, पंचेन्द्रियजाति, धौदारिकद्विक, समचतुरस्संस्थान, वैचक्रृषभनाराच-

१. तीर्थकरनाम का निकालित बंध होने के बाद प्रतिसमय चौथे से आठवें गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त तीर्थकरनाम अवश्य बंधता रहता है। इसी प्रकार आहारकद्विक के बंधने के बाद सातवें से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक भी आहारकद्विक प्रतिसमय बंधता रहता है।

संहनन, मनुष्यद्विक, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यज्ञःकीर्ति-अथशःकीर्ति में से एक, पराधात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति और तीर्थकरनाम रूप मनुष्यगतियोग्य तीस क्रमप्रकृतियों का बंध करने पर एक सौ तीन की सत्ता वाले सम्यग्हण्ठिद दब के बंधतो हुइ इन तीस प्रकृतियों में एक सौ तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

देवद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशारीर, समन्तकुरस्ससंस्थान, वैक्रिय-अंगोपांग, पराधात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यज्ञःकीर्ति, तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुहलघु, उपधात, निर्माण और आहारकद्विक रूप देवगतियोग्य तीस प्रकृतियों का बंध करने पर एक भी दो प्रकृतियों की सत्ता वाला अप्रमत्संयत अथवा अपुर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव उन बंधने वाली तीस प्रकृतियों में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित करता है। अथवा—

तैजस, कार्मण, अगुहलघु, उपधात, निर्माण, वर्णादिचतुष्क, तिर्यचद्विक, द्वीन्द्रियादिजाति में से कोई एक जाति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, यज्ञःकीर्ति-अथशःकीर्ति में से एक, औदारिकद्विक, कोई भी एक संस्थान, कोई भी एक संहनन,^१ अप्रशस्तविहायोगति, पराधात, उच्छ्वास और उद्योत रूप द्वीन्द्रियादि तिर्यचों के योग्य तीस प्रकृतियों का बंध करने पर एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रियादि

१. श्रदि यहाँ द्वीन्द्रियादिक में वतायं गवं आदि शब्द में संज्ञी एकेन्द्रिय तिर्यच सिवाय को तिर्यच जीवप्रायोग्य तीस प्रकृतियां बताई हों तो संहनन और संस्थान छह में से चाहे जो न लेकर सेवात्मसंहनन आर हृडकसंस्थन लेना चाहिये और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यचप्रायोग्य प्रकृतियां भी बताई हों तो छह संहनन, छह संस्थान वी तरह वहाँ बटित प्रतिष्ठी सभी प्रकृतियों का भी यहाँ होना चाहिये। यह विचारणीय है।

जीव बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

पूर्व में कही तीर्थकरनाम सहित मनुष्यगतिप्रायोग्य तीस कर्म-प्रकृतियों का बंध करते हुए छियानवै की सत्ता वाले सम्यग्गृष्ट देव-मारकों के बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

आहारकद्विक सहित देवगतियोग्य तीस प्रकृतियों को बांधने पर एक सौ दो की सत्ता वाले आहारकसप्तक की बंधावलिका जिनकी बीती नहीं है, ऐसे अप्रभत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में पंचानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं। अथवा पंचानवै की सत्ता वाले उद्योतनाम के साथ तिर्यचगतियोग्य तीस प्रकृतियों को बांधते हुए एकेन्द्रियादि जीव बंधने वाली उनतीस प्रकृतियों में पंचानवै प्रकृतियों को संक्रमित करते हैं।

तेरानवै, चौरासी अथवा वयासी प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों के पूर्व में कही गई तिर्यचगतियोग्य उद्योतनाम सहित तीस प्रकृतियों को बांधने पर बंधती हुई तीस प्रकृतियों में अनुक्रम से तेरानवै, चौरासी और वयासी कर्मप्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तीर्थकरनाम के साथ देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, बैक्रियद्विक, पराघात, उच्छ्रवास, प्रशास्तविहायोगति, अस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीति-अयशःकीति में से एक, समचतुरखसंस्थान, तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण खण्ड उनतीस (२६) कर्म-प्रकृतियों को बांधने पर एक सौ तीन की सत्ता वाले अविरतसम्यग्गृष्ट, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के उनतीस प्रकृतिके पतत्व-ग्रहस्थान में एक सौ तीन प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर उन्हीं अविरत आदि तीन गुणस्थानवर्ती जीवों के तीर्थकरनाम की बंधावलिका बीतने के पूर्व एक सौ दो प्रकृतियां उन्हीं उनतीस प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं। अथवा पूर्व में कही गई द्वीन्द्रियादियोग्य उद्योत रहित उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रियादि जीव उनतीस प्रकृतियों में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

तीर्थकरनाम सहित देवगतियोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर छियानवै प्रकृतियों के सत्ता वाले अविरतसम्यग्दण्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीव उनतीस के पतदग्रहस्थान में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

अपर्याप्तावस्था में वर्तमान तीर्थकरनाम की सत्ता वाले मिथ्यादण्टि नारक मनुष्यद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति, ऋस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग-दुर्भग में से एक, आदेय-अनादेय में से एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक, छह संहननों में से एक, छह संस्थानों में से एक, वर्णादिचतुर्क, अगुरुलघु, उपवास, तैजस, कार्मण, निर्माण, औदारिकद्विक, सुस्वर-दुःस्वर में से एक, पराधात, उच्छ्रुतास, प्रशस्त-अप्रशस्तविहायोग्यति में से एक, इस तरह मनुष्यगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर उनतीस में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं।

तीर्थकरनामसहित देवगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों का बंध करने पर छियानवै प्रकृतियों के सत्ता वाले अविरतसम्यग्दण्टि, देशविरत और प्रमत्तविरत जीव तीर्थकरनाम की बंधावलिका बीतने के पहले उनतीस प्रकृतियों में छियानवै प्रकृतियां संक्रमित करते हैं तथा तिर्थकरनामसहित उनतीस प्रकृतियों का बंध करने पर पञ्चानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रियादि जीवों के बंधतो हुई उनतीस प्रकृतियों में पञ्चानवै प्रकृतियां संक्रमित होती हैं।

तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतिक इन तीन संक्रमस्थानों के

लिये पूर्व में तीस प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में जैसा कहा गया है, वैसा ही उनतीस के पतदग्रहस्थान में भी समझ लेना चाहिये।

आठवें गुणस्थान के छठे भाग के बाद यशःकीर्ति रूप बंधती हुई एक प्रकृति के पतदग्रह में ये आठ संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं—एक सौ दो, एक सौ एक, पंचानवै, चौरानवै, नवासी, अठासी, बयासी और इक्यासी प्रकृतिक, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक सौ तीन प्रकृति को सत्ता वाले के बध्यमान यशःकीर्ति पतदग्रह होने से उसके बिना शेष एक सौ दो प्रकृतियाँ एक यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं। इसी प्रकार एक सौ दो की सत्ता वाले के एक सौ एक, छियानवै की सत्ता वाले के पंचानवै और पंचानवै की सत्ता वाले के चौरानवै प्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं। आठवें गुणस्थान के छठे भाग के बाद मात्र एक यशःकीर्तिनाम का ही बंध होता है, तामकर्म की अन्य किसी प्रकृति का बंध नहीं होता है और बध्यमान प्रकृति ही पतदग्रह होती है, इसलिये उसके सिवाय एक सौ दो आदि कर्मप्रकृतियाँ एक यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं। तथा—

एक सौ तीन प्रकृति की सत्ता वाले के शपकश्चेणि में नौवें गुणस्थान में नामकर्म की नरकद्विक, तिर्यच्छिक, पञ्चेन्द्रियजाति के सिवाय शेष जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत इन तेरह प्रकृतियों का क्षय होने के बाद उनके रिवाय और यशःकीर्ति पतदग्रह होने से उसके अलावा नवासी कर्मप्रकृतियाँ यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं। इसी तरह एक सौ दो की सत्ता वाले के तेरह प्रकृतियों का क्षय होने के बाद अठासी, छियानवै की सत्ता वाले के बयासी और पंचानवै की सत्ता वाले के नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय होने के बाद इक्यासी प्रकृतियाँ यशःकीर्ति में संक्रमित होती हैं।

आठवें गुणस्थान के छठे भाग के बाद से अन्य कोई पतदग्रह नहीं होने से यशःकीर्ति का संक्रम नहीं होता है, इसलिये संक्रमित होने वाली प्रकृतियों में से उसे कम किया जाता है। तथा—

पठमचउषक आइल्लवज्जियं दो अणिच्च आइल्ला ।

संकमहि अट्ठवीसे सामी जहसंभवं नेया ॥३२॥

शब्दार्थ—पठमचउषक—प्रथमचतुष्क, आइल्लवज्जियं—आदि वजित, दो—दो, अणिच्च आइल्ला—अनित्यसंज्ञा वाले आदि के, संकमहि—संक्रमित होते हैं, अट्ठवीसे—अट्ठाईस में, सामी—स्वामी, जहसंभवं—यथासंभव, नैथा—जानना चहैं ।

माथार्थ—आदि वजित प्रथमसत्ताचतुष्क में के तीन सत्तास्थान और अनित्यसंज्ञा वाले आदि के दो सत्तास्थान अट्ठाईस में संक्रमित होते हैं । स्वामी यथासंभव जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—प्रथमसत्ताचतुष्क में से आदि का एक सी तीन प्रकृति का समूह रूप—सत्तास्थान छोड़कर मेप तीन सत्तास्थान और अनित्यसंज्ञा वाले आदि के तेरानवै और चौरासी प्रकृतिक ये दो, कुल पांच सत्तास्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतदग्रहस्थान में संक्रमित होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि अट्ठाईस के पतदग्रहस्थान में एक सी दो, छियानवै, पंचानवै, तेरानवै और चौरासी प्रकृतिक ये पांच संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं । जिनका अनुक्रम से वर्णन करते हैं—

नरकद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, हृडकसंस्थान, पराधात, उच्छ्रवास, अप्रशस्तविहायोगति त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपधात, तैजस, कार्मण और निर्माण, इन नगकप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर एक सी दो की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि तिर्यक अथवा मनुष्य के अट्ठाईस में एक सी दो प्रकृतियां संक्रमित होती हैं । अथवा—

तैजस, कार्मण, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपधात, निर्माण, देवद्विक, वैक्रियद्विक, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरसंस्थान, पराधात, उच्छ्रवास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति-

अयशःकीति में से एक, इस प्रकार देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करने पर एक सौ दो की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि मनुष्य, तिर्थन के यथायोग्य रूप से अट्ठाईस में एक सौ दो प्रकृतियां संक्रमित होती हैं। तथा—

जिसने पहले नरकायु का बंध किया है और नरक में जाने के सन्मुख हुआ है, ऐसे तीर्थकरनाम के साथ छियानवै की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि मनुष्य के नरकयोग्य अट्ठाईस प्रकृति बांधते छियानवै राजियों अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं।

पंचानवै के संक्रम का विचार एक सौ दो प्रकृतियों के संक्रम के अनुरूप जानना चाहिये। मात्र एक सौ दो के स्थान पर पंचानवै प्रकृतियां कहना चाहिये तथा देवगतियोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर तेरानवै की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के वैक्रियसप्तक और देवद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद तेरानवै प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं, अथवा पंचानवै की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के देवगतियोग्य अट्ठाईस प्रकृतियां बांधने पर देवद्विक की बंधावलिका बीतने के पूर्व तेरानवै प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं, अथवा तेरानवै की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के नरकगतियोग्य अट्ठाईस कर्म-प्रकृतियों को बांधते वैक्रियसप्तक और नरकद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद तेरानवै प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित होती हैं, अथवा पंचानवै की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि के नरकगतियोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृति का बंध होने पर नरकद्विक की बंधावलिका बीतने के पूर्व अट्ठाईस में तेरानवै प्रकृतियां संक्रान्त होती हैं।

तेरानवै की सत्ता वाला मिथ्याहृष्टि देवगतियोग्य अट्ठाईस प्रकृतियां बांधने पर देवद्विक और वैक्रियसप्तक की बंधावलिका बीतने के पूर्व चौरासी प्रकृतियां अट्ठाईस में संक्रमित करता है, अथवा तेरानवै की सत्ता वाला मिथ्याहृष्टि नरकयोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते नरकद्विक और वैक्रियसप्तक की बंधावलिका बीतने के पूर्व अट्ठाईस में चौरासी प्रकृतियों को संक्रमित करता है।

संक्रमस्थान के स्वामित्व का विचार यानि किस संक्रमस्थान का स्वामी कौन है, उसका विचार संभव प्रमाणानुसार समझ लेना चाहिये। अर्थात् जहाँ जो संभव हो, वह जानना चाहिये और वह प्रायः प्रत्येक संक्रमस्थान के प्रसंग में बताया गया है।

इस प्रकार से नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों का किस पतद्ग्रहस्थान में कौन-कौन संक्रमस्थान संक्रमित होते हैं आदि का विचार समाप्त हुआ ।^१

अब प्रकृतिसंक्रम में प्रकृतियों के संक्रम के रूपक का वर्णन करते हैं।

प्रकृतिसंक्रम में प्रकृतिसंक्रम का रूपक

संक्रमइ नम्न पगइ पगईओ पगइसंक्रमे वलियं ।

ठिअणुभागा चेवं ठंति तहट्ठा तयणुरुर्वं ॥३३॥

शब्दार्थ—संक्रमइ—संक्रमित करता है, नम्न पगइ—अन्य प्रकृति रूप नहीं, पगईओ—प्रकृति में से, पगइसंक्रमे—प्रकृतिसंक्रम में, वलियं—दलिक को, ठिअणुभागा—स्थिति और अनुभाग, चेवं—इसी प्रकार, ठंति—स्थित रहते हैं, तहट्ठा—उसी रूप को, तयणुरुर्व—तदनुरूप (पतद्ग्रह प्रकृतिरूप)

राधार्थ—प्रकृतिसंक्रम में (संक्रम्यमाण प्रकृति में से) दलिक खींचकर अन्य प्रकृति रूप संक्रमित नहीं करता है, स्थिति और अनुभाग में भी इसी प्रकार (का प्रश्न है)। तो इसका उत्तर है कि संक्रम्यमाण प्रकृति के दलिक पतद्ग्रहप्रकृति के रूप को प्राप्त कर पतद्ग्रहप्रकृति रूप हो जाते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में प्रकृतियों के संक्रम के रूपक को प्रश्नोत्तर शैली से स्पष्ट किया है।

१. सुग्रम वीध के लिये नामकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों आदि का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

जिज्ञासु का प्रश्न है कि प्रकृतिसंक्रम के विषय में जीव संक्रमकी प्रकृतियों में से उनके परमाणु रूप दलिकों को खींचकर पतदग्रहप्रकृति रूप संक्रमित नहीं करता है। अथवा संक्रमित होने वाली प्रकृति में रहे हुए दलिकों को खींचकर पतदग्रहप्रकृति रूप नहीं करता है। अत-एव यदि ऐसा हो तो परमाणु रूप दलिकों का संक्रम प्रकृतिसंक्रम नहीं कहा जायेगा। क्योंकि परमाणुओं का संक्रम तो प्रदेशसंक्रम कहलाता है, किन्तु प्रकृतिसंक्रम नहीं।

अब कदाचित् यह कहा जाये कि प्रकृति यानी स्वभाव, उसका जो संक्रम, वह प्रकृतिसंक्रम तो वह भी अयोग्य है। क्योंकि कर्मपरमाणुओं में वर्तमान ज्ञानावरणत्वादि स्वभाव को अन्य में संक्रमित करना अशक्य है। क्योंकि पुद्गलों में से केवल स्वभाव को खींचा नहीं जा सकता है। इस प्रकार से विचार करने पर प्रकृतिसंक्रम घटित नहीं हो सकता है। इसलिये उसका प्रतिपादन करना बंध्यापुत्र के तीमान्य आदि के वर्णन करने जैसा है।

स्थिति, अनुभाग संक्रम के विषय में भी जिनका कथन आगे किया जाने वाला है, वह भी अयुक्त है। विचार करने पर वे दोनों घटित नहीं ही सकते हैं। क्योंकि नियतकाल पर्यान्त अमूक स्वरूप में रहने को स्थिति कहते हैं और काल के अमूर्त होने से अन्य में संक्रान्त करना, अन्य स्वरूप करना अशक्य है। अनुभाग रस को कहते हैं और रस तो परमाणुओं का गुण है। गुण गुणी के सिवाय अन्य में संक्रान्त किये नहीं जा सकते हैं और गुणी-गुण वाले परमाणुओं का जो संक्रम होता है, वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है। इस प्रकार विचार करने पर स्थिति-संक्रम और अनुभागसंक्रम भी घटित नहीं हो सकता है।

जिज्ञासु के इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य उत्तर देते हैं—

संक्रमित होती प्रकृतियों के परमाणु जब पतदग्रहप्रकृति रूप होते हैं तब तद्वगत स्वभाव, स्थिति और रस भी पतदग्रहप्रकृति के

स्वभाव, स्थिति और रस का अनुसरण करने वाले होते हैं। तात्पर्य इसका यह है कि जिस परमाणुप्रकृति ने जितने स्थानक और जितने रस वाले जितने कर्मपरमाणु जिस स्वरूप होते हैं, उतने स्थानक के उतने रस वाले परमाणु उतने काल पर्यन्त उस स्वरूप कार्य करते हैं। यानि जिस समय जिस कर्मप्रकृति के परमाणु पतद्ग्रह रूप होते हैं, उसी समय तद्गत स्वभाव, स्थिति और रस भी उसी रूप ही होता है। जिससे परमाणु में से स्वभाव, स्थिति या रस को खीचकर अन्य में कैसे संक्रान्त किया जा सकता है? इस प्रश्न को अवकाश ही नहीं रहता है।

अब इसी आशय को विस्तार से स्पष्ट करते हैं—

प्रकृति यानि ज्ञानादि गुण को आवृत्त आदि करने रूप स्वभाव, स्थिति यानि नियतकाल पर्यन्त अवस्थान और वह भी कर्मपरमाणुओं का जीव के साथ अमुक काल पर्यन्त रहने रूप अवधि-मर्यादा विशेष ही है, अनुभाग यानि अध्यवसाय के अनुसार उत्पन्न हुआ आवारक शक्ति रूप रस और इन तीनों के आधारभूत जो परमाणु वे प्रदेश हैं। इस प्रकार होने से परमाणुओं को जब परप्रकृति में संक्रमित करता है और संक्रमित करके जब परप्रकृति रूप करता है, तब प्रकृतिसंक्रम आदि सभी घटित हो सकता है। वह इस प्रकार—

संक्रम्यमाण परमाणुओं के स्वभाव को पतद्ग्रहप्रकृति के स्वभाव के अनुरूप करना प्रकृतिसंक्रम है। संक्रमित होते परमाणुओं की अमुक स्थिति काल पर्यन्त रहने रूप मर्यादा को पतद्ग्रहप्रकृति का अनुसरण करने वाली करता स्थितिसंक्रम है, संक्रमित होते परमाणुओं के रस को- आवारक शक्ति को पतद्ग्रहप्रकृति के रस का अनुसरण करने वाला बना देना अनुभागसंक्रम है और परमाणुओं का ही जो प्रक्षेपण-संक्रम वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है। अतएव जिस समय प्रदेशों का संक्रम होता है उसी समय तदन्तवर्ती स्वभाव आदि भी परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् पतद्ग्रह का अनुसरण करने वाले हो जाते हैं।

इस प्रकार होने से पूर्व में जो प्रश्न विद्या था कि प्रकृति यानि स्वभाव, उसका जो संक्रम प्रकृतिसंक्रम यह माना जाये तो वह अयुक्त है। इसका कारण यह है कि स्वभाव को परमाणुओं में से खींचकर अन्यथा संक्रमित नहीं किया जा सकता है आदि यह सब अयोग्य है। क्योंकि विवक्षित परमाणुओं में से स्वभाव, स्थिति और रस खींचकर अन्य परमाणुओं में प्रक्षिप्त किया जाये, वह प्रकृतिसंक्रम आदि कहलाता है, ऐसा हम नहीं कहते हैं, परतु विवक्षित परमाणुओं में विद्यमान स्वभाव आदि को परिवर्तित करके पतद्वयप्रकृति के स्वभाव आदि का अनुसरण करने वाला बना देने को प्रकृतिसंक्रम आदि कहते हैं। जिससे यहाँ कोई दोष नहीं है और इस प्रकार होने से ही एक दूसरे बिना एक दूसरे के रह नहीं सकते, एक के होने पर सब होते हैं। ऐसा जब हो तब सब कुछ घटित हो जाता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये स्वर्य ग्रन्थकार आचार्य ने अपनी मूल टीका में कहा है कि—

अभी प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशेषु संश्लोचनां उवया वा समक-
समकालं प्रवर्तते इति केवलं युगपवभिधानुं च शक्यन्ते, वाचः क्रम-
वित्यात्, तसो यो यदा संक्रमोचक्तुमिष्यते स तदानीं बुद्ध या पृथक्कृत्या
सप्रपञ्चमुच्यते ।

अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के संबंध में बंध अथवा उदय अथवा संक्रम एक साथ ही प्रवर्तित होते हैं, यानि कि इन चारों का साथ ही वंश अथवा उदय अथवा संक्रम होता है। किन्तु वर्णी के क्रमपूर्वक प्रवर्तित होने से एक साथ इन चारों के स्वरूप का निर्देश नहीं किया जा सकता है। इसलिये जब जिसके स्वरूप को कहने की इच्छा होती है, तब उसको बुद्धि से पृथक् करके सविस्तार उसका कथन किया जाता है। जिससे यह सब कुछ संगत हो जाता है तथा स्थिति, रस और प्रदेश का जो समूह वह प्रकृति और उन तीनों का जो समुदाय वह प्रकृतिबंध (तत्समुदायो पगईवत्थो) यह पूर्व में कहा जा चुका है, अतः उनका जो संक्रम वह प्रकृति-

संक्रम । इस प्रकार तीनों का समूह प्रकृतिबंध होने से प्रकृति का जब संक्रम हो तब तीनों का ही संक्रम होता है ।

अब यदि यह प्रश्न हो कि तीनों का समूह जब प्रकृतिसंक्रम है तब प्रकृतिसंक्रम भिन्न कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि समुदायी-अवयवी से समुदाय-अवयव कथचित् भिन्न होते हैं । जैसे कि समस्त शरीर से हाथ-पैर आदि कुछ भिन्न होते हैं । उसी प्रकार स्थितिसंक्रम लाति से प्रकृतिसंक्रम कथचित् भिन्न है । स्थितिसंक्रम और अनुभावसंक्रम का स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ।

स्थितिसंक्रम आदि के संबन्ध में उक्त स्पष्टीकरण करने पर भी जिज्ञासु द्वारा पुनः किये गये प्रश्न का उत्तर—

दलियरसाणं जुतं मुतत्ता अन्नभावसंक्रमणं ।

ठिईकालस्स न एवं उउसंक्रमणं पिव अबुट्ठं ॥३४॥

शब्दार्थ—दलियरसाण—दलिक और रस का, जुत—योग्य है, मुतत्ता—मूर्त होने से, अन्नभावसंक्रमण—अन्य रूप संक्रमण होना, ठिईकालस्स—स्थिति-काल का, न एव—इस प्रकार नहीं है, उउसंक्रमण—ऋतुसंक्रम, पिव—की तरह, अबुट्ठ—निर्देष ।

गाथार्थ—दलिक और रस मूर्त होने से उनका अन्य रूप संक्रमण योग्य है, परन्तु स्थिति काल इस प्रकार न होने से उनका संक्रम योग्य नहीं है । (उत्तर) ऋतुसंक्रम की तरह काल का संक्रम निर्देष है ।

विशेषार्थ—जिज्ञासु का प्रश्न है कि—पृथ्वी और जल की तरह कर्मपरमाणओं और उनके अंदर रहे रस के मूर्त होने से उनका अन्य रूप संक्रम हो तो वह योग्य है । परन्तु काल अमूर्त है अतः काल का अन्य रूप में संक्रम कैसे घटित हो सकता है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं—

यह प्रश्न अधोग्य है। क्योंकि हम स्थिति का संक्रम मानते हैं काल का नहीं। स्थिति यानि अवस्था—कर्मपरमाणुओं का अमुक स्वरूप में रहना। वह स्थिति पूर्व में अन्य रूप थी किन्तु अब जब संक्रम होता है तब पतद्वयरूप की जाती है। अर्थात् पहले जो परमाणु जितने काल के लिये जो फल देने के लिये नियत हुए थे, वे परमाणु उतने काल अन्य रूप में फल दें वैसी स्थिति में स्थापित किये जाते हैं, उसे हम स्थितिसंक्रम कहते हैं और इसका कारण प्रत्यक्ष-सिद्ध है। वह इस प्रकार—

जैसे तृण आदि के परमाणु जो पहले तृण आदि रूप में थे, वे नमक की खान में गिर जाने पर कालक्रम से नमक का रूप हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्य रूप में रही हुई वस्तु अन्य रूप में हो जाती है। वैसे ही अध्यवसाय के योग से अन्य रूप रहे हुए परमाणु अन्य रूप में हो जाते हैं। अथवा—

स्थिति, काल का संक्रमण हो, इसमें भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि ‘उत्संकरणं पिव अदुट्ठ’ अर्थात् ऋतुसंक्रमण की तरह स्थिति-काल का संक्रमण भी निर्दोष है। अर्थात् इक्षादि में स्वभाव से क्रमशः और देवादिक के प्रयोग द्वारा एक साथ भी जैसे सभी ऋतुयें संक्रमित होती हैं। क्योंकि उस क्रतु के कार्य—उस-उस प्रकार के पुण्य और फल आदि रूप में दिखते हैं, वैसे ही यहाँ भी आत्मा स्ववीर्य के योग से कर्मपरमाणुओं में के भातादि स्वरूप के हेतुभूत काल को अलग करके असातादि के हेतुभूत काल की संक्रमित करती है। असातादि के हेतुभूत काल को करती है। इसलिये वह भी निर्दोष है।

इस प्रकार से प्रकृतिसंक्रम विषयक वक्तव्यता जानना चाहिये। अब स्थितिसंक्रम का विवेचन प्रारंभ करते हैं।

२. स्थितिसंक्रम

स्थितिसंक्रम को प्रारंभ करने के पूर्व प्रकृतिसंक्रम के सामान्य लक्षण को बाधित न करे, वैसा स्थितिसंक्रम का विषेष लक्षण कहते हैं।

स्थितिसंक्रम-लक्षण व भेद

उवटणं च ओवटणं च पगतितरम्मि वा नयनं ।

श्वे व अब्धे वा जं संकामो इह ठिईए ॥३५॥

शब्दार्थ—उवटणं च ओवटणं—उद्वर्तन अथवा अपवर्तन, च—तथा, पगतितरम्मि—प्रकृत्यन्तर में, वा—अथवा, नयनं—नयन (परिवर्तन), श्वे व अब्धे वा—बंध हो अथवा न हो, चं—जो, संकामो संक्रम, इह—इस प्रकार ठिईए—स्थिति में ।

गाथार्थ—उद्वर्तन अथवा अपवर्तन तथा प्रकृत्यन्तरनयन इस प्रकार स्थिति में तीन प्रकार का संक्रम होता है और वह बंध हो अथवा न हो, फिर भी होता है ।

विशेषार्थ—प्रकृतिसंक्रम का विचार करने के पश्चात् यहाँ से स्थितिसंक्रम का विवेचन करना प्रारंभ किया है । स्थितिसंक्रम का विचार करने के पांच अधिकार हैं—१. भेद, २. विशेषलक्षण, ३. उत्कृष्ट स्थितिसंक्रमप्रमाण, ४. जघन्य स्थितिसंक्रमप्रमाण^१ तथा ५. सादि-अनादि प्रस्तुपण । उनमें से यहाँ भेद और विशेषलक्षण इन दो का निरूपण करते हैं । भेद का निरूपण इस प्रकार है—

भेद अर्थात् प्रकार । स्थिति के संक्रम के दो प्रकार हैं—१. मूल कर्मों की स्थिति का संक्रम, २. उत्तर प्रकृतियों की स्थिति का संक्रम । मूल कर्मों की स्थिति का संक्रम मूल कर्म आठ होने से आठ प्रकार का है और उत्तर प्रकृति की स्थिति का संक्रम मतिज्ञानावरण से वीर्यान्तराय पर्यन्त उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अट्ठावन होने से एक सौ अट्ठावन प्रकार का है ।

अब विशेष लक्षण का निरूपण करने के लिये कहते हैं—

अल्पकाल पर्यन्त फल प्रदान करने के लिये व्यवस्थित हुए कर्माणुओं को दीर्घकाल पर्यन्त फल देने योग्य स्थिति में स्थापित करना

१. इसके साथ ही संक्षेप में स्वामित्व का भी संकेत किया आयेगा ।

उद्वर्तन कहते हैं और दीर्घकाल पर्यन्त फल देने के लिये व्यवस्थित हुए कर्मणुओं को अल्पकाल पर्यन्त फल देने वाली स्थिति में स्थापित करना अपवर्तन और पतद्वयप्रकृति रूप करना वह अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम है। इस प्रकार स्थिति का संक्रम तीन प्रकार का होता है। अर्थात् स्थिति की उद्वर्तना, अपवर्तना होती है तथा अन्यप्रकृति रूप में रही हुई स्थिति अन्य पतद्वयरूप में भी होती है। यह संक्रम बंध हो अथवा न हो तब भी होता है, ऐसा समझना चाहिये।

इनमें भी अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय के सिवाय शेष पतद्वय प्रकृतियों का बंध होता ही तभी होता है। अर्थात् जिसमें संक्रम होता है उस प्रकृति के बंध के सिवाय अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम नहीं होता है। मात्र सम्यक्त्व एवं मिश्र मोहनीय का बंध नहीं होने से उनका बंध के बिना भी उन दोनों में मिथ्यात्वमोहनीय का और सम्यक्त्वमोहनीय में मिश्रमोहनीय का संक्रम होता है। जैसा कि कहा है—

बुद्ध बेगे विद्युत्कुं बंधेण विणा वि बुद्धविद्यस्त् ।

अर्थात् सम्यरहष्टि जीव के बंध बिना भी दो में और एक में अनुक्रम से मिथ्यात्व का और मिश्र मोहनीय का संक्रम होता है।

उद्वर्तनासंक्रम भी जिस प्रकृति की उद्वर्तना होती है, उसका बंध होता है, वहीं तक ही उद्वर्तना होती है और भाव अपवर्तनासंक्रम जिसकी अपवर्तना होती है, उसका बंध होता हो या न होता हो, किन्तु प्रवर्तित होता है।

तात्पर्य यह कि अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम पतद्वयप्रकृति के बंध की और उद्वर्तनासंक्रम अपने बंध की अपेक्षा रखता है, किन्तु अपवर्तना बंध की अपेक्षा नहीं रखती है।

उक्त स्पष्टीकरण के पश्चात् विशेषलक्षण यह हुआ कि प्रकृति और प्रदेश का तो अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम होता है और स्थिति तथा रस में उपर्युक्त तीनों संक्रम प्रवर्तित होते हैं। स्थितिसंक्रम का यह

विशेषलक्षण संक्रम के सामान्य लक्षण का वाध किये सिवाय प्रवर्तित होता है, ऐसा समझना चाहिये। किन्तु सामान्यलक्षण के अपवाद रूप प्रवर्तित होता है ऐसा नहीं समझना चाहिये। जिससे सामान्यलक्षण में मूल कर्मप्रकृतियों का परस्परसंक्रम का प्रतिषेध किया होने से यहाँ—स्थिति में भी मूलकर्म की स्थिति का अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम प्रवर्तित नहीं होता है। परन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना ये दोनों ही प्रवर्तित होते हैं और उत्तरप्रकृतियों में तीनों ही प्रवर्तित होते हैं।

इस प्रकार से भेद और विशेषलक्षण का प्रतिपादन करके उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम और जघन्य स्थितिसंक्रम का ज्ञान करने के लिये प्रकृतियों का वर्गीकरण करते हैं।

प्रकृतियों का वर्गीकरण

जासि बंधनिमित्तो उवकोसो बंध मूलपगईण ।

ता बंधुकोसाओ सेसा पुण संकमुक्कोसा ॥३६॥

शब्दार्थ—जासि—जिनका, बंधनिमित्तो—बंध के निमित्त से, उवकोसो—उत्कृष्ट, बंध—बंध, मूलपगईण—मूलप्रकृतियों के, ता—वे, बंधुकोसाओ—बंधोत्कृष्टा, सेसा—शेष, पुण—पुनः, संकमुक्कोसा—संकमोत्कृष्टा।

गाथार्थ—जिन उत्तर प्रकृतियों का मूल प्रकृतियों के बंध के निमित्त से उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, वे प्रकृतियाँ बंधोत्कृष्टा और शेष प्रकृतियाँ संकमोत्कृष्टा कहलाती हैं।

विशेषार्थ—स्थितिसंक्रम का प्रमाण बतलाने के लिये उत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण किया है—मूल कर्मप्रकृतियों का जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध कहा है, उतना ही उत्कृष्ट स्थितिबंध जिन उत्तर प्रकृतियों का बंधनिमित्तों से होता है, अर्थात् बंधकाल में उतना ही बंध हो सकता है, वे प्रकृतियाँ बंधोत्कृष्टा कहलाती हैं। उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

जानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अंतरायपंचक, आयुचतुष्टय,

असातावेदनीय, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, एकेन्द्रियजाति, पञ्चेन्द्रियजाति, तैजससप्तक, औदारिकसप्तक, वैक्रियसात्क, नीलवर्ण और कटुरस वर्जित शेष अशुभवर्णादि सप्तक, अगृहलघु, पराधात, उपधात, उच्छृ-वास, आत्म, उद्योत, निर्मण, हुडकसंस्थान, सेवार्त्संहनन, अशुभ-विहायोगति, स्थावरनाम, त्रसचतुष्क, अस्थिरषट्क, नीचगोत्र, सोलह कषाय और मिथ्यात्व कुल मिलाकार ये सत्तानवै कर्मप्रकृतियां अपने बंधकाल में अपने मूलकर्म के समान उत्कृष्ट स्थितिबंध हो सकने से बंधोत्कृष्टा कहलाती हैं।

बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों में मनुष्य और तिर्यच आयु का ग्रहण किया है। उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध यद्यपि अपने मूलकर्म के समान नहीं होता है, लेकिन आयु में परस्पर संक्रम नहीं होने से संक्रम द्वारा उनकी स्थिति उत्कृष्ट नहीं हो सकती है, इसलिये उनकी बंधोत्कृष्टा में गणना की है। सोलह कषायों को चारित्रमोहनीय रूप मूल कर्म की अपेक्षा समान स्थिति वाली होने से बंधोत्कृष्टा में गिना है।

ऊपर कही गई प्रकृतियों के अतिरिक्त इक्सठ प्रकृतियां संक्रमो-त्कृष्टा हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—सातावेदनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय, नव नोकषाय, आद्वारकसप्तक, शुभवर्णादि एकादश, नीलवर्ण, कटुरस, देवद्विक, मनुष्यद्विक, विकलेन्द्रियविक, आदि के पांच संहनन और आदि के पांच संस्थान, प्रशस्तविहायोगति, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, स्थिरषट्क, तीर्थकरनाम और उच्च-गोत्र। इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अपने मूल कर्म के समान बंध द्वारा नहीं होती है, किन्तु अपनी स्वजातीय प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम द्वारा होती है, इसलिये इनको संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति कहते हैं।

इस प्रकार से वर्गीकरण करने के पश्चात् अब यह स्पष्ट करते हैं कि इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों की कितनी-कितनी स्थिति अन्यथा संक्रमित हो सकती है।

उत्तर उत्कृष्टा-प्रकृतिहृष के उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का परिमाण

बंधुकोसाण ठिई मोत्तु दो आवली उ संकमड़ ।

सेसा इयराण पुणो आवलियतिगं पमोत्तूण ॥३७॥

शब्दार्थ—बंधुकोसाण—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की, ठिई स्थिति, मोत्तु—छोड़कर, वो आवली—दो आवलिका, उ—ही, संकमड़—संक्रमित होती है, सेसा—ऐए, इयराण—इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की, पुणो गुणः और, आवलियतिगं—तीन आवलिका, पमोत्तूण—छोड़कर रहून ।

माथार्थ—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की दो आवलिका स्थिति को छोड़कर और इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की तीन आवलिका स्थिति छोड़कर शेष स्थिति संक्रमित होती है ।

विशेषार्थ—दोनों प्रकार की प्रकृतियों की कितनी-कितनी स्थिति संक्रमित होती है, यह स्पष्ट करते हैं —

बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की बधावलिका और उदयावलिका रूप दो आवलिकाप्रमाण स्थिति को छोड़कर शेष समस्त स्थिति संक्रमित होती है । दो आवलिका प्रमाण स्थिति छोड़ने का कारण यह है कि किसी भी कर्म के बंध समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त उसमें किसी भी करण की प्रवृत्ति नहीं होती है । आवलिका बीतने के बाद ही करण की प्रवृत्ति होती है । अतः ऐसा नियम होते से जिस समय उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है, उस समय से लेकर एक आवलिका जाने के बाद, वह स्थिति संक्रम के योग्य होती है । इसी प्रकार कोई भी प्रकृति चाहे वह प्रदेशोदयवती हो या सांदयवती हो उदय समय से लेकर आवलिका काल में भोगे जायें उतने स्थानों को उदयावलिका कहते हैं और उसमें भी कोई करण लागू नहीं होता है । उससे ऊपर करण लागू होता है । अतएव बधावलिका और उदयावलिका हीन शेष समस्त स्थिति संक्रमित होती है ।

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय और अंतराय-पंचक की बधावलिका जाने के बाद उदयावलिका से ऊपर की अर्थात्

बंधावलिका और उदयावलिका, इस तरह दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति अन्यत्र संक्रमित होती है। इसी प्रकार कथायों की जालीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण और नरकद्विकादि प्रकृतियों की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति दो आवलिका न्यून संक्रांत होती है।

इतर—संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की बंधावलिका, संक्रमावलिका और उदयावलिका, इस तरह तीन आवलिका रूप स्थिति को छोड़कर योग समस्त स्थिति संक्रमित होती है। वह इस प्रकार—

बंधोत्कृष्टा प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति बंधावलिका जाने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति में संक्रमित होती है और वह भी उसकी उदयावलिका से ऊपर संक्रांत होती है। उदयावलिका से ऊपर संक्रमित होती है, इसलिये उस उदयावलिका को मिलाने पर कुल स्थिति की सत्ता दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थितिसत्ता प्रमाण होती है। जिस समय संक्रम होता है, उस समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त संक्रमित हुए दलिकों में भी कोई करण नहीं लगता है, इसलिये जिस समय संक्रमित हुई उस समय से लेकर संक्रमावलिका के जाने के बाद उसकी उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति अन्यत्र संक्रमित होती है। इसीलिये कहा है—‘आवलियतिगं परमोत्तूषणं’—संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की स्थिति कुल स्थिति में से तीन आवलिका न्यून अन्यत्र संक्रमित होती है।

अब उक्त कथन को हटान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

नरकद्विक की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर उसकी बंधावलिका बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति को मनुष्यद्विक को बांधने वाला मनुष्यद्विक में उसकी उदयावलिका के ऊपर संक्रमित करता है। जिस समय नरकद्विक की स्थिति मनुष्यद्विक में संक्रमित की उस समय से लेकर संक्रमावलिका के जाने के बाद उसकी उदयावलिका से ऊपर की समस्त

स्थिति को देवद्विक को बांधता हुआ उसमें संक्रमित करता है।

यहाँ बंधावलिका बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की स्थिति मनुष्यद्विक में संक्रमित हुई और संक्रमावलिका के बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की मनुष्यद्विक की स्थिति देवद्विक में संक्रमित हुई, यानि संक्रमोत्कृष्टा मनुष्यद्विक की तीन आवलिकाहीन स्थिति का ही देवद्विक में संक्रमण हुआ। इसी से ऊपर कहा है कि संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की तीन आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति का ही अन्यत्र संक्रमण होता है।

यहाँ यद्यपि नरकद्विक की बंधावलिका और उदयावलिका तथा मनुष्यद्विक की संक्रमावलिका और उदयावलिका इस तरह चार आवलिका ज्ञात होती हैं, परन्तु नरकद्विक की उदयावलिका और मनुष्यद्विक की संक्रमावलिका का काल एक ही होने से कुल भिन्नाकर तीन आवलिका स्थिति ही कम होती है, अधिक नहीं। इसी प्रकार अन्य संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के लिये भी समझना चाहिये।

तीर्थेकरनाम और आहारकसप्तक को अनुक्रम से सम्यग्दृष्टि आदि जीव और संयत बांधते हैं। उनको उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध अंतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही होता है तथा समस्त कर्म प्रकृतियों की सत्ता भी उनको अंतःकोडाकोडी से अधिक नहीं होती है, इसलिये संक्रम द्वारा भी उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता अन्तःकोडाकोडी से अधिक नहीं होती है।

यहाँ शंका होती है कि क्या ये प्रकृतियाँ बंधोत्कृष्टा हैं अथवा संक्रमोत्कृष्टा ? अतएव अब इस शंका का समाधान करते हैं—

तित्थघराहारणं संकरणे बंधसंतएषु षि ।

अंतोऽकोडाकोडी तहावि ता संकमुक्कोसा ॥३८॥

एवद्य संतया जं सम्भृट्ठीण सञ्चकम्मेषु ।

आऊणि बंधजवक्षेसगाणि जं यण्णसंकरणं ॥३९॥

शब्दार्थ—तित्वथराहाराण—तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक में, संक्रमण—संक्रम होने पर, बंधसंतएसु पि—बंध और सत्ता में भी, अन्तःकोड़ा-कोड़ी—अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण, तहाचि—तो भी, ता—वे, संक्रम-वकोसा—संक्रमोत्कृष्टा ।

एवद्वय—इतनी ही, संतथा—सत्ता, जं—क्योंकि, सम्यहि ट्ठीग—सम्यग्-हठियों के, सब्बकस्मेसु—सभो कर्मों की, आउणि—आयु, बंधउक्कोसगाणि—बंधोत्कृष्टा, जं—क्योंकि, णणसंक्रमण—अन्य का संक्रमण नहीं होता है ।

गाथार्थ—तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक में संक्रम होने पर भी बंध और सत्ता में अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण ही स्थिति होती है, तो भी वे संक्रमोत्कृष्टा हैं ।

क्योंकि सम्यग्हष्टि जीवों के सभी कर्मों की इतनी ही सत्ता होती है । आगुकर्म बंधोत्कृष्टा है, क्योंकि उसमें अन्य का संक्रमण नहीं होता है ।

विशेषार्थ—तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक में जब अन्य प्रकृतियों की स्थिति का संक्रम होता है, तब भी उन प्रकृतियों का स्थितिबंध और सत्ता अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण ही होने से संक्रम भी अन्तःकोड़ाकोड़ी से अधिक स्थिति का नहीं होता है । जिससे वे प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्टा हैं, बंधोत्कृष्टा नहीं हैं, यह समझना चाहिये ।

अन्तःकोड़ाकोड़ी से अधिक बंध और सत्ता नहीं होने का कारण यह है कि तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक के बंधक अनुक्रम से सम्यग्हष्टि आदि जीव और संयत मनुष्य हैं । उनको किसी भी प्रकृति का अन्तःकोड़ाकोड़ी से अधिक स्थितिबंध एवं अन्तःकोड़ाकोड़ी से अधिक सत्ता नहीं होती है ।

प्रथम गुणस्थान से जब जीव चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जाये तब अपूर्व शुद्धि के योग से स्थिति कम करके ही जाता है । कदाचित् उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में लेकर चतुर्थ गुणस्थान में जाये, परन्तु उस

उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता अन्तमुहूर्त से अधिक नहीं रहती है। विशुद्धि के बल से अन्तमुहूर्त में ही अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति कर देता है और बंध तो अन्तःकोडाकोडी सागरोपम ही होता है।

कदाचित् यहीं यह शंका हो कि वह उत्कृष्ट स्थिति मत्ता में जब हो तब उस स्थिति का संक्रम होने से मनुष्यद्विकादि की तरह उत्कृष्ट स्थितिसत्ता क्यों नहीं होती है? तो इसका उत्तर यह है कि उस समय तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक का बंध ही नहीं होता है। जब उनका बंध होता है तब किन्हीं भी कर्मप्रकृतियों की अन्तःकोडाकोडी सागरोपम से अधिक सत्ता नहीं होती है, जिससे यशःकीर्तिनाम आदि की स्थिति का जब उनमें संक्रम होता है, तब अन्तःकोडाकोडी सागरोपमप्रमाण स्थिति का ही होता है, जिससे तीर्थकरनाम और आहारक-सप्तक की सत्ता अन्तःकोडाकोडी सागरोपम से अधिक होती ही नहीं है।

मात्र बंधस्थिति से सत्तागतस्थिति संख्यातगुणी होने से बंध से संख्यातगुणी स्थिति का संक्रम होता है। अर्थात् तीर्थकरनामकर्म और आहारकसप्तक के बंध से उनकी सत्तागत स्थिति संख्यात गुणी होती है।^१ सामान्यतः सम्यग्हण्ठि आदि जीवों के प्रत्येक प्रकृति के बंध से उनकी सत्तागत स्थिति संख्यातगुणी होती है। तीर्थकरनाम और आहारकसप्तक के बंधकाल में उनमें संक्रमित होने वाली स्वजातीय प्रकृति की जितनी उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता होती है, वह यथायोग्य रूप से संक्रमित हो सकती है, इसीलिये तीर्थकरनाम और आहारक-सप्तक को संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति कहा गया है।

प्राप्त-नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम-प्रमाण है। अतएव जब आहारकसप्तक और तीर्थकरनामकर्म की मनुष्यद्विक की तरह संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता बंधावलिका

१. बंधठिद्वय संतकम्माड्डि मंडेजगुण।

—कर्मप्रकृतिचूणि

अर्थात् एक आवलिकान्युन बीस कोडाकोडी सागरोपम घटित हो सकती है, तब फिर यह क्यों कहा है कि तीर्थकरनाम और आहारक-सप्तक की संक्रम द्वारा भी उत्कृष्ट स्थिति अंतःकोडाकोडी सागरोपम-प्रमाण ही होती है ?

उत्तर—यह प्रश्न तभी सम्भव है जब तीर्थकरनाम और आहारक-सप्तक बंधता हो तब उसमें संक्रमित होने योग्य प्रकृति की सत्ता बीस कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण हो, परन्तु वैसा है नहीं। क्योंकि आयुकर्म के सिवाय किसी भी कर्मप्रकृति की स्थिति की सत्ता सम्यग्हटित जीव के अंतः कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण ही होती है, इससे अधिक नहीं। इसलिये संक्रम भी उतनी ही स्थिति का होता है।

उत्तर कथन का तात्पर्य यह है कि तीर्थकरनाम और आहारक-सप्तक में उनके बंधकाल में अन्य प्रकृति की स्थिति संक्रमित होती है अन्यकाल में नहीं। इन प्रकृतियों का बंध क्रमशः विशुद्ध सम्यग्हटित और संयत जीवों के ही होता है। उनको आयु के सिवाय समस्त कर्मों की सत्ता अंतःकोडाकोडी सागरोपमप्रमाण ही होती है, इससे अधिक नहीं है। इसलिये संक्रम भी उतनी ही स्थिति का होता है। यदि उनको अंतःकोडाकोडी से अधिक बंध हाता तो अधिक स्थिति की सत्ता संभव हो सकती है, परन्तु बंध ही अंतःकोडाकोडी सागरोपम का होता है, अधिक होता नहीं। मात्र बंध से सत्ता संख्यातगुणी होती है। इसका पूर्व में सकेत किया जा दुक्गा है।

आयुकर्म की चारों प्रकृतियाँ बंधोत्कृष्टा समझना चाहिये, संक्रमोत्कृष्टा नहीं। क्योंकि उनमें परस्पर या अन्य किसी भी कर्मप्रकृति के दलिकों का संक्रम नहीं होता है।

कदाचित् यहाँ प्रश्न हो कि मनुष्य, तिर्यच आयु का तो स्वशुलकर्म के समान बंध नहीं होने से उनको बंधोत्कृष्टा क्यों माना है ? तो इसके लिये समझना चाहिये कि यदि संक्रमोत्कृष्टा माना जाये तो यह भ्रम हो सकता है कि आयु में अन्य प्रकृति के दलिकों का संक्रम

होता है, लेकिन ऐसा स्मृत न हो जाये, इसलिये बंधोत्कृष्टा में गणना की है। क्योंकि चारों आयु में परस्पर संक्रम या किसी अन्य प्रकृति के दलिक का संक्रम होता ही नहीं है और बंधोत्कृष्टा और संक्रमोत्कृष्टा के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा भेद है नहीं कि जिसमें उसको गर्भित किया जा सके, इसलिये या तो दोनों में ही नहीं गिनना चाहिये या फिर बंधोत्कृष्टा में ग्रहण करना चाहिये। यहाँ जो बंधोत्कृष्टा में गिना है, वह युक्तिगृहीत ही है।

इस प्रकार जिन कर्मप्रकृतियों का पतद्यग्रह प्रकृतियों का बंध होने पर संक्रम होता है, उनकी स्थिति के संक्रम का प्रमाण बताया। अब जिन प्रकृतियों का पतद्यग्रहप्रकृति के बंध के अभाव में भी संक्रम होता है, उनकी स्थिति के संक्रम का प्रमाण बतलाते हैं—

गंतुं सम्मो भिञ्छांतस्मुक्कोसं ठिङ्ङं च काङ्गणं ।

मिञ्छिष्ठराणुक्कोसं करेति ठितिसंक्रमं सम्मो ॥४०॥

अंतोमुहुत्तहीणं आवलियदुहीण तेसु सट्ठाणे ।

उष्कोसंकमपद् उष्कोसगबंधगणामु ॥४१॥

शास्त्रार्थ—गंतुं—जाकर, सम्मो—सम्यग्विष्टि, भिञ्छांतस्मुक्कोसं—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट, ठिङ्ङं—स्थिति, च—और, काङ्गणं—करके, बांधकर, मिञ्छिष्ठराणुक्कोसं—मिथ्यात्व से इतरों में उत्कृष्ट, करेति—करता है, ठिति-संक्रम—स्थितिसंक्रम, सम्मो—सम्यग्विष्टि ।

अंतोमुहुत्तहीणं—अन्तर्मुहूर्त न्यून, आवलियदुहीण—आवलिकाद्विक हीन, तेसु—उनमें, सट्ठाणे—स्वस्थान में, उष्कोसंकमपद्—उत्कृष्ट संक्रम का स्वामी, उष्कोसगबंधगणामु—अन्य प्रकृतियों वा उत्कृष्ट बंधक ।

गाथार्थ—कोई (क्षायोपशमिक) सम्यग्विष्टि मिथ्यात्व में जाकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर सम्यग्विष्टि गुणस्थान में जाये, वहाँ वह सम्यग्विष्टि जीव मिथ्यात्व से इतरों (सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय) में मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति संक्रमित करता है ।

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की अन्तर्मुहूर्त और धावलिकाढ़िक-हीन उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम होता है। उनमें से सम्यक्त्व का स्व-स्थान में और मिश्रमोहनीय का उभय में होता है। शेष प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का बंधक समझना चाहिये।

विशेषार्थ—पतद्ग्रहप्रकृति के अभाव में भी जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम संभव है, उनका यहाँ संकेत किया है। जो इस प्रकार है—

कोई जीव पहले क्षायोपशमिक सम्यग्द्विट होने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाये और मिथ्यात्व में जाकर उत्कृष्ट संक्लेश में रहते मिथ्यात्वमोहनीय का उत्कृष्ट स्थितिबंध करे और उत्कृष्ट स्थितिबंध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त मिथ्यात्वगुणरथान में रहे, फिर अन्तर्मुहूर्त वीतने के बाद विशुद्धि के बल से सम्यक्त्व प्राप्त करे, तत्पश्चात् सम्यग्द्विट होकर वह जीव अन्तर्मुहूर्त न्यून सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपमप्रमाण उत्कृष्टस्थिति को सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय का वंश नहीं होने पर भी उनमें संक्रमित करता है। इस प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय की अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का गंद्रह सम्यग्द्विट को होता है और वह मिश्र एव सम्यवत्व मोहनीय में होता है।

यहाँ क्षायोपशमिक सम्यग्द्विट को ग्रहण करने का कारण वह है कि उसके मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पूँज सत्ता में होते हैं। पहले गुण-स्थान में से करण करके एवं करण किये सिवाय, इस तरह दो प्रकार से सम्यक्त्व प्राप्त करता है। करण करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह तो अन्तःकोड़ाकोड़ी की सत्ता लेकर ऊपर जाता है, लेकिन जो करण किये बिना ही आरोहण करता है, वह ऊपर कहे अनुसार उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता लेकर चतुर्थ गुणस्थान में जाता है और अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति संक्रमित करता है। उत्कृष्ट स्थितिबंध करके अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पहले गुणरथान में रहकर ही सम्यक्त्व प्राप्त

करता है। इसीलिये अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्टस्थिति का संक्रम होता है, ऐसा कहा है। चतुर्थगुणस्थान में जाने के बाद अन्तर्मुहूर्त ही उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता रहती है, उतने काल में विशुद्धि के बल से अन्तःकोडाकोडी सागरोपम से उपरान्त की स्थिति का क्षय करता है, जिससे अन्तर्मुहूर्त के बाद अन्तःकोडाकोडी सागरोपम से अधिक स्थिति की सत्ता नहीं होती है।

इस प्रकार से मिथ्यात्वमोहनीय वी अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम जानना चाहिये और उसका स्वामी सम्यग्दृष्टि है यह बताया। अब सम्यक्त्व और मिथ्यमोहनीय के उत्कृष्ट स्थिति-संक्रम का प्रमाण और उसके स्वामी तथा उन्द्र सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम के स्वामियों का प्रतिपादन करते हैं—

कोई क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व में जाकर तीव्र संक्लेश से मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति बांधकर अन्तर्मुहूर्त के बाद अविरतसम्यक्त्वगुणस्थान में जाकर वहाँ अन्तर्मुहूर्त न्यून और उदयावलिका से ऊपर की उस सत्तर कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय में उनकी उदयावलिका से ऊपर संक्रमित करता है। उदयावलिका से ऊपर संक्रमित करने वाला होने से उस उदयावलिका को मिलाने पर अन्तर्मुहूर्त न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सम्यक्त्वमोहनीय एवं मिथ्यमोहनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता होती है। मिथ्यात्वमोहनीय की स्थिति का जिस समय संक्रम हुआ, उस समय से संक्रमावलिका सकल करण के अयोग्य होने से उस एक आवलिका के जाने के पश्चात् उदयावलिका से ऊपर की सम्यक्त्वमोहनीय की स्थिति का स्वस्थान में अपवर्त्तनासंक्रम होता है और मिथ्यमोहनीय का स्वस्थान में अपवर्त्तनासंक्रम होता है एवं सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रम होता है।

अपनी-आपनी दृष्टि का अन्यत्र संक्रमण नहीं होता है तथा चारित्र-मोहनीय और दर्णनमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है, इस नियम के अनुसार सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वमोहनीय को किसी परप्रकृति

में संक्रमित नहीं करता है। जिससे उसमें एक अपवर्तनासंक्रम ही होता है। स्थिति को कम करने रूप अपवर्तनासंक्रमण स्व में ही होता है। इस प्रकार सम्यकत्व और मिश्र मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम दो आवलिका अधिक अन्तर्मुहूर्तन्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होता है और उनका स्वामी वेदक सम्यग्हटित है।

देवायु, जिननाम और आहारकसप्तक के सिवाय शेष बंधोत्कृष्टा अथवा संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के उन-उन प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति बांधने वाले उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के स्वामी हैं और वे प्रायः^१ संज्ञी मिथ्याहटि जीव ही हैं तथा देवायु की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के सन्मुख हुआ प्रमत्तसंयत है। पूर्व में जिसने जिननामकर्म बांधा हो ऐसा तरक के सन्मुख हुआ मिथ्याहटि जिननाम की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी है तथा आहारक-सप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमत्तगुणस्थान के अभिमुख हुआ अप्रमत्त-संयत बांधता है और वह बंधायलिका के जाने के बाद संक्रमित करता है।^२

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम के स्वामी ज्ञानना चाहिये।

१. वहाँ प्रायः शब्दप्रयोग का संभव कारण यह हो सकता है कि जिन परियामों से मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बांधे वैसे परिणामों में अथ ज्ञानावरणादि की भी उत्कृष्ट स्थिति बंध सकती है। जैसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता लेकर चीथे गुणस्थान में जाता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति संत्रमित करता है, वैसे ही अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम हो सकता है। तत्त्व केवलिगम्य है।

२. आहारकसप्तक की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी प्रमत्तसंयत है, क्योंकि अप्रमत्तसंयतगुणस्थान से प्रमत्तसंयतगुणस्थान में जाते हुए के उसकी उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, ऐसा प्रतीत होता है।

संक्षेप में जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

| प्रकृतियाँ | स्वामी | विशेष |
|-----------------|-----------------|------------------------------|
| बंधोत्कृष्टा | चतुर्गति के जीव | बंधावलिका से आगे |
| संक्रमोत्कृष्टा | " | बंध एवं संक्रम आवलिका से आगे |
| वर्णनमोह | सम्यग्हटि | × |

अब यह स्पष्ट करते हैं कि बंधोत्कृष्टा अथवा संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की स्थिति का जब संक्रम होता है, तब उनकी कुल कितनी स्थिति होती है।

प्रकृतियों की पत्तिस्थिति

बंधुककोसाणं आवलिए आवलिदुर्गेण इयराणं ।

हीणा सत्त्वावि ठिई सो जटिठ संकमो भणिओ ॥४२॥

शब्दार्थ—बंधुककोसाण—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की, आवलिए—एक आवलिका, आवलिदुर्गेण—आवलिकाद्विक से, इयराण—इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की, हीणा—हीन, सत्त्वावि—सभी, ठिई—स्थिति, सो—वह, जटिठ—यत्स्थिति, संकमो—संक्रम, भणिओ—कहलाता है।

गाथार्थ—बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की एक आवलिका और इतरों (संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों) की आवलिकाद्विक हीन जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह यत्स्थितिसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ—कर्मप्रकृतियों की जब स्थिति संक्रमित होती है, तब वह कुल कितनी होती है? इसका यहाँ स्पष्टीकरण किया है—

जिस समय किसी भी प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम होता है, उस समय कुल कितनी स्थिति होती है, इसके विचार को यत्स्थिति-संक्रम कहते हैं।

जिस समय बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम होता है तब उनकी स्थिति उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा एक आवलिकान्यून होती है। वह इस प्रकार—संक्लिष्ट परिणाम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति को बोधकर बंधावलिका के जाने के बाद अन्य प्रकृति में संक्रमित होना प्रारंभ होता है। इसलिये बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमणकाल में एक आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है। बंध समय से एक आवलिकापर्यंत बंधी हुई उस उत्कृष्ट स्थिति में कोई करण लागू न होने से उत्तमी स्थिति कम होती है। इसलिये संक्रमकाल में एक आवलिकान्यून उत्कृष्टस्थिति यत्ता में घटित होती है।

इतर—संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमकाल में समस्त स्थिति दो आवलिकान्यून होती है। वह इस प्रकार बंधावलिका के बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति का अन्य प्रकृति में उसकी उदयावलिका के ऊपर संक्रम होता है और संक्रम समय से एक आवलिका संक्रमावलिका के जाने के बाद कुल दो आवलिकान्यून उस उत्कृष्ट स्थिति का अन्य प्रकृति में संक्रमित किया जाना प्रारंभ होता है, इसलिये संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमकाल में बंधावलिका और संक्रमावलिका इस तरह दो आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है। बंधावलिका के जाने के बाद बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की उदयावलिका से ऊपर की उत्कृष्टस्थिति संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की उदयावलिका से ऊपर संक्रमित होती है, जिससे उस उदयावलिका को मिलाने पर एक आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है। एक आवलिका न्यून उस उत्कृष्ट स्थिति का संक्रमावलिका के जाने के बाद अन्यत्र संक्रमण होता है जिससे संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की संक्रमणकाल में दो आवलिकान्यून उत्कृष्ट स्थिति संभव है।

सुगम बोध के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

उत्कृष्ट संक्रमस्थिति एवं यत्स्थिति

| प्रकृतियां | संक्रमस्थितिप्रमाण | यत्स्थितिप्रमाण |
|--|--|--|
| मिथ्यात्वरहित शेष बंधोत्कृष्टा संक्रमोत्कृष्टा | आवलिकाद्विकहीन आवलिकात्रिकहीन | एक आवलिकाहीन आवलिकाद्विकहीन |
| मिथ्यात्व | अन्तर्भूतहीन ७० को. को. सागरो. | अन्तर्भूत हीन ७० को. को. सागरो. |
| सम्यक्त्व मिथ्र मोह- नीय | आवलिकाद्विकाधिक अन्तर्भूत हीन ७० को. को. सागरोपम | सावलिकान्तर्भूतहीन ७० को.को.सागरोपम |

अब आयुकर्म की यत्स्थिति एवं जघन्य स्थितिसंक्रम के प्रमाण का प्रतिपादन करते हैं ।

आयुकर्म की यत्स्थिति : जघन्य स्थितिसंक्रमप्रमाण

साबाहा आउठिँ आवलिगृणा उ जटिठति सट्ठाणे ।

एका ठिँ जहणो अणुदइयाणं निहयसेसा ॥४३॥

शब्दार्थ—साबाहा—अबाधासहित, आउठिँ—आयु की स्थिति, आवलिगृणा—आवलिकान्त्यून, उ—और, जटिठति—यत्स्थिति, सट्ठाणे—स्वस्थान में, एका—एकस्थानक का, ठिँ—स्थिति, जहणो—जघन्य, अणुदइयाण—अनुदयवती प्रकृतियों का, निहयसेसा—हतशेष ।

गाथार्थ—स्वस्थानसंक्रम हो तब आवलिकान्त्यून अबाधासहित जो स्थिति वह आयुकर्म की यत्स्थिति है तथा एकस्थानक का संक्रम एवं अनुदयवती प्रकृतियों की हतशेष स्थिति का संक्रम जघन्यसंक्रम कहलाता है ।

विशेषार्थ—आयु में मात्र उद्वर्तना-अपवर्तना ही होती है किन्तु अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम नहीं होता है । उसमें भी व्याधात्भाविनी अप-

बत्तना उस-उस आयु का जब उदय हो तभी होती है,^१ इसीलिये उसकी अपेक्षा यहाँ आयु की यत्स्थिति का निरूपण नहीं किया है, परन्तु निव्यधितभावी अपवर्तना या जो उदय न हो, तब भी होती है, उसकी अपेक्षा और जब बंध प्रवर्तमान हो तब प्रथम आदि समय में बंधी हुई लता की बंधावलिका के बीतने के बाद उद्वर्तना भी होती है, उसकी अपेक्षा यत्स्थिति का निरूपण किया है।

इस प्रकार जब निव्यधितभावि अपवर्तना और उद्वर्तना रूप स्वस्थानसंक्रम होता है, तब आयु की यत्स्थिति का—समस्त स्थिति का प्रमाण आवलिकान्यून अबाधासहित उत्कृष्टस्थिति जितना है। जैसे कि पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला कोई जीव दो भाग जाने के बाद बराबर तीसरे भाग के प्रथम समय में तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु बांधे तो उसका बंधावलिका के बीतने के बाद अपर्युक्त दोनों में से कोई भी संक्रमण हो सकता है। जिससे उस एक आवलिकाहीन पूर्वकोटि के तीसरे भाग अधिक तेतीस सागरोपमप्रमाण कुल स्थिति संभव है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का प्रमाण, उसके स्वामी और यत्स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये। अब जघन्य स्थिति के संक्रम का प्रमाण बतलाते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम

उदयवती प्रकृतियों की सत्ता में समयाधिक आवलिका शेष रहे तब एक समय प्रमाण स्थिति का अंतिम जो संक्रम होता है तथा अनु-

१. यहाँ जो उस-उस आयु की उक्त समय में व्याधातभाविनी अपवर्तना बताई है, वह अपवर्तनीय आयु में समझना चाहिये। अनपवर्तनीय आयु में तो व्याधातभाविनी अपवर्तना होती ही नहीं है, निव्यधितभाविनी अपवर्तना होती है।

दयवती प्रकृतियों की क्षय होते-होते जो स्थिति शेष रहे, उसका जो अंतिम संक्रम वह जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है।

यहाँ उदयवती प्रकृतियों की अपने-अपने क्षय के समय समयाधिक आवलिका सत्ता में शेष रहे तब ऊपर की समश्चप्रमाण स्थिति को जघन्य स्थितिसंक्रम कहा है। परन्तु उदयवती समस्त प्रकृतियों में अपने-अपने क्षय के समय समयप्रमाण स्थिति का संक्रम घटित नहीं होता है। क्योंकि चरमोदय वाली नामकर्म की नौ, उच्चरोत्र एवं वेदनीयद्विक इन बारह प्रकृतियों का अयोगिकेवली गुणस्थान में उदय होता है, किन्तु वहाँ संक्रम नहीं होता है। इसी प्रकार नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का जघन्य स्थितिसंक्रम समय प्रमाण आता नहीं है। परन्तु ऊपर कही गई उक्त चौदह प्रकृतियों के भिन्नाभिन्न नीम उदयवती प्रकृतियों का और तदुपरान्त निद्रा एवं प्रचला इन बाईस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम अपवर्तना की अपेक्षा एक समय प्रमाण घटित होता है। कर्मप्रकृति संक्रमकरण इसी ग्रंथ में भी आगे इसी प्रकार बताया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ सभी उदयवती प्रकृतियों का सामान्य से निर्देश किया गया है। यदि अन्य कोई कारण हो तो वह बहुश्रुतगम्य है, जिसका विद्वज्जन स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।

इस प्रकार से जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण जानना चाहिये। अब जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामियों का निर्देश करते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम-स्वामी

जो जो जाण खवगो जहणठितिसंक्रमस्स सो सामी।

सेसाणं तु सजोगी अंतमुहृत्तं जओ तस्स ॥४४॥

शब्दार्थ—जो-जो—जो-जो, जाण—जिनका, खवगो—धर्म, जहणठितिसंक्रमस्स—जघन्य स्थितिसंक्रम का, सो—वह, सामी—स्वामी, सेसाणं—शेष का, तु—तो, सजोगी—सयोगिकेवली, अंतमुहृत्तं—अन्तमुहृत्, जओ—क्योंकि, तस्स—उसकी।

गाथार्थ—जो-जो जीव जिन प्रकृतियों का क्षणक है, वह उनकी जघन्य स्थिति के संक्रम का स्वामी है। शेष प्रकृतियों का तो सयोगिकेवली स्वामी है। क्योंकि उसे अन्तर्मुहूर्त प्रभाण जघन्य स्थिति होती है।

विशेषार्थ—जो जीव जिन कर्मप्रकृतियों का क्षणक है, वह जीव उन-उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को संक्रमित करता है। क्योंकि उन-उन प्रकृतियों का क्षय करते-करते अंत में अल्प स्थितिसत्ता में शेष रहती है और उसे संक्रमित करता है। जैसे कि चारित्रमोहनीय की संज्वलन लोभ के सिवाय शेष दीस प्रकृतियों का अनिवृत्तिबादर-संपरायगुणस्थानवर्ती जीव और संज्वलन लोभ का सूधमसंपरायगुण-स्थानवर्ती जीव स्वामी है। दर्शनसप्तक के चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव स्वामी हैं। ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क, अन्तराय-पंचक इन सोलह प्रकृतियों का क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीव स्वामी है तथा शेष अधाति कर्मप्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी सयोगिकेवली हैं। क्योंकि उन्हीं के चरम समय में उन प्रकृतियों की संक्रमयोग्य अन्तर्मुहूर्त प्रभाण जघन्य स्थिति सत्ता में होती है, अन्य को नहीं होती है।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी जानना चाहिये। अब जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण बतलाते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण

उदयावलिए छोभो अणपगईए जो य अंतिमओ ।

सो संकमो जहणो तस्स पमाण इम होइ ॥४५॥

शब्दार्थ—उदयावलिए—उदयावलिका में, छोभो—प्रभेष, अणपगईए—अन्य प्रकृति का, जो—जा, य—वह, अंतिमओ—अंतिम, सो—वह, संकमो—संक्रम, जहणो—जघन्य, तस्स—उसका, पमाण—प्रभाण, इम—यह, होइ—है।

गाथार्थ—अन्यप्रकृति का उदयावलिका में जो अंतिम प्रक्षेप होता है, उसे जघन्य स्थितिसंक्रम कहते हैं। उसका प्रमाण यह है।

विशेषार्थ—गाथा में जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण बतलाकर विभिन्न प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम के प्रभाण का संकेत करने की सूचना दी है।

जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण इस प्रकार है—किसी विवक्षित प्रकृति की स्थिति का पतद्वयप्रकृति की उदयावलिका में जो अंतिम प्रक्षेप-संक्रम होता है, उसे तथा अपनी ही प्रकृति सम्बन्धी उदयावलिका में अर्थात् अपनी ही उदयावलिका में जो अंतिम संक्रम होता है, उसे जघन्य स्थितिसंक्रम कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि क्षय करने पर अंत में जितनी स्थिति का अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम^१ द्वारा—संक्रमकरण द्वारा पर-प्रकृति की उदयावलिका में संक्रम होता है वह अथवा अपवर्तना-संक्रम द्वारा अपनी ही उदयावलिका में जो संक्रम होता है, वह जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उदयावलिका से बाहर के भाग में जो संक्रम होता है, वह तो नहीं किन्तु अंत में जितनी स्थिति का उदयावलिका में प्रक्षेप होता है वह जघन्य स्थितिसंक्रम है। यह जघन्य स्थितिसंक्रम का लक्षण निदानिक को

१. यद्यपि अन्यप्रकृतिनयनसंक्रम द्वारा जितने स्थानों का संक्रम होता है, उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् बांधते समय जिस काल में जिस प्रकार का फल देना नियत हुआ हो, संक्रम होने के बाद उस काल में जिसमें संक्रम हुआ उसके अनुरूप ही प्रकृति फल देती है परन्तु जंत में जितनी जघन्य स्थिति का संक्रम होता है वह स्थिति संकुचित होकर उदयावलिका में संक्रमित होती है। अर्थात् उदयावलिका के काल में फल दे, वैसी हो जाती है।

छोड़कर^१ शेष प्रकृतियों के लिये समझना चाहिये ।

वह जघन्य स्थितिसंक्रम किस प्रकृति का कितना होता है ? अब इसका निर्देश करते हैं ।

प्रत्येक प्रकृति का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण

संज्वलणलोभनाणंतराय-वंसणचउद्धकआङ्गणं ।

सम्मतस्य समओ सगावलियातिभागंमि ॥४६॥

शब्दार्थ— संज्वलणलोभ— संज्वलनलोभ, नाणंतराय—ज्ञानावरण, अंतराय, वंसणचउद्धक—दर्शनावरणचतुष्क, आङ्गण—आयु का, सम्मतस्य—सम्यक्त्वमोहनीय का, य—और, समओ—समय, सगावलियातिभागंमि—अपनी आवलिका के तीसरे भाग में ।

गाथार्थ— संज्वलन लोभ, ज्ञानावरण, अंतराय, दर्शनावरण-चतुष्क, आयु और सम्यक्त्वमोहनीय का अपनी आवलिका के तीसरे भाग में समय प्रमाण स्थिति का जो संक्रम होता है, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम है ।

विशेषार्थ— संज्वलन लोभ, ज्ञानावरणपञ्चक, अंतरायपञ्चक, दर्शनावरणचतुष्क, आयुचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय कुल मिलाकर बीस प्रकृतियों की स्थिति का क्षय होते सत्ताविच्छेद काल में उनकी एक समय प्रमाण स्थिति का अपनी ही उदयावलिका के समयाधिक तीसरे भाग में होने वाला प्रक्षेप, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है ।

इसका तात्पर्य यह है कि लक्षकश्रेणि में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में क्षय करते जब संज्वलन लोभ की समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति शेष रहे तब उदयावलिका सकल करण के अयोग्य होने से

१. निद्राधिक के जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण रूपतंत्र रूप में आगे बताया है ।

उदयावलिका से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति को अपवर्त्नाकरण के द्वारा नीचे के अपने ही उदयावलिका के समयाधिक तीसरे भाग में संक्रमित करता है। वह संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और उसका स्वामी सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव है।

इसी प्रकार क्षीणमोहणस्थान में ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, चक्षुदर्शीनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों की सत्ता में समयाधिक एक आवलिका स्थिति शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति को अपवर्त्नासंक्रम द्वारा अपनी ही उदयावलिका के नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रमण होता है, वह उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है और उसका स्वामी क्षीणमोहणस्थानवर्ती जीव है। तथा—

जारों आयु की स्थिति भोगते-भोगते सत्ता में जब समयाधिक आवलिका शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की उस समयप्रमाण स्थिति को अपनी-अपनी उदयावलिका के नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रम होता है, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और उसका स्वामी उस-उस आयु का उदय वाला जीव है।

जघन्य समयप्रमाण स्थिति को जीव तथास्वभाव से उदयावलिका के प्रथम समय से—उदय समय से लेकर समयाधिक तीसरे भाग में संक्रमित करता है। जैसे कि आवलिका के नी समय मान लें तो आदि के चार समय में संक्रमित करता है, अन्य समयों में संक्रमित नहीं करता है।

उपर्युक्त समस्त प्रकृतियों की यत्प्रियता समयाधिक आवलिका-प्रमाण जानना चाहिये। तथा—

खविडण मिछुमीसे मणुओ सम्मस्मि खबयसेसम्मि ।

चडगङ्ग तथो होऽं जहृणठितिसंकमस्सामी ॥४७॥

शब्दार्थ—खविडण—क्षय करके, मिछुमीसे—मिथ्यात्व और मिथ्योहनीय को, मणुओ—मनुष्य, सम्मस्मि—सम्यक्त्वमोहनीय, खबयसेसम्मि—

क्षणितशेष, चउगाइउ—चतुर्गंतिक—चारों गतियों में से किसी भी गति वाला, ताओ—तब फिर, होउ—होता है, जहृण्णाठितिसंकमस्तामी—जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी।

गाथार्थ—मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षय करके जब मनुष्य सम्यक्त्वमोहनीय क्षणितशेष हो तब, चारों गति में से किसी भी गति में जाकर उसकी समय प्रमाण जघन्य स्थिति संक्रमित करता है और उसका स्वामी चारों गतियों में से किसी भी गति का जीव होता है।

विशेषार्थ—गाथा में सम्यक्त्वमोहनीय के जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण एवं उसके स्वामी का निर्देश किया है—

जघन्यतः आठ वर्ष से अधिक आयु वाला कोई मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व उपाजित करते हुए मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का सर्वथा क्षय करके सम्यक्त्वमोहनीय को सर्वापिवर्तना द्वारा अपवर्तित करता है।^१ इस प्रकार जब सर्वापिवर्तना होती है तब सम्यक्त्वमोहनीय क्षणितशेष होती है। इस प्रकार जब सम्यक्त्वमोहनीय क्षणितशेष हो तब चारों में से चाहे किसी भी एक गति में जा सकता है, जिससे उस गति में जाकर वहाँ उसकी समयाधिक आवलिका शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की उस समय प्रमाण स्थिति को अपवर्तना-संक्रम द्वारा अपनी आवलिका के समयाधिक तीसरे भाग में संक्रमित करता है, जो उसका जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और स्वामी चारों

^१ सर्वापिवर्तना द्वारा अपवर्तित करता है, वानि व्याघातमाकिनी अपवर्तना द्वारा जितनी स्थिति कम हो सकती है, उतनी करता है। अब जितनी स्थिति सत्ता में रही उतनी स्थिति लेकर मरण प्राप्त कर सकता है और चाहे जिस गति में परिणामानुसार जा सकता है इसी कारण उसके जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी चार में से किसी भी गति का जीव हो सकता है।

निदियो में हे चिलो भी रुति में चर्तृतान जीव है तथा यत्स्थिति समयाधिक आवलिका है । तथा—

निदादुगस्स साहिय आवलियदुगं तु साहिए तसे ।

हासाईणं संखेज्ज वच्छरा ते य कोहन्म ॥४८॥

शब्दार्थ—निदादुगस्स—निदादिक की, साहिय आवलियदुगं—साधिक आवलिकादिक, तु—और, साहिए तसे—साधिक तीसरे भाग में, हासाईणं—हास्यादि का, संखेज्ज—संख्यात, वच्छरा—वर्षप्रमाण, ते—वह, य—और कोहन्म—क्रोध में ।

गाथार्थ—निदादिक की समय मात्र स्थिति को जो साधिक तीसरे भाग में संक्रमित किया जाता है, वह उसका जघन्य स्थितिसंक्रम है । साधिक आवलिकादिक यत्स्थिति है तथा हास्यादि का जो संख्यात वर्ष प्रमाण संक्रम होता है, वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम है और वह क्रोध में होता है ।

विशेषार्थ—निदा और प्रचला रूप निदादिक की अपनी स्थिति की ऊपर की एक समयमात्र स्थिति को अपने संक्रम के अंत में उदयावलिका के नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रमित किया जाता है, वह उसका जघन्य स्थितिसंक्रम है । जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

श्रीणकषायवीतरागछहमस्थगुणस्थान में क्षय करते-करते निदादिक की आवलिका प्रमाण स्थिति सत्ता में शेष रहे तब सब से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति को अपवर्तनाकरण ढारा नीचे के उदय समय से लेकर उदयावलिका के समयाधिक तीसरे भाग में जो संक्रमित किया जाता है, वह निदादिक का जघन्य स्थितिसंक्रम कहलाता है और उसका स्वामी श्रीणकषायवीतराग जीव है । उस समय यत्स्थिति आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक दो आवलिका है ।

यहाँ बस्तुस्वभाव ही यह है कि निदादिक की आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक दो आवलिकाप्रमाण स्थिति सत्ता में शेष

रहे तब ऊपर की एक समय प्रमाण स्थिति अपवर्तनाकरण द्वारा संक्रमित होती है, परन्तु मतिज्ञानावरणादि की तरह समयाधिक आवलिका शेष रहे तब नहीं। मतिज्ञानावरणादि में समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति की सत्ता शेष रहे तब तक अपवर्तना होती है। लेकिन निदानिक में आवलिका के असंख्यातवें भाग अधिक दो आवलिका रहे, वहाँ तक होती है और इसका कारण जीव-स्वभाव है।

अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान में वर्तमान क्षपक के हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्ता रूप हास्यषट्क का क्षय होते संख्यात वर्ष प्रमाण रिथति सत्ता में शेष रहती है, तो उस संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति का संज्वलन क्रोध में जो संक्रम होता है वह उसका जघन्य स्थितिसंक्रम है। उसका स्वामी नौवें गुणस्थानदर्ती जीव है। उस समय उसकी यत्स्थिति अन्तमूँहूर्त अधिक संख्यात वर्ष प्रमाण है। इसका कारण यह है कि अन्तरकरण में रहते हुए भी वह संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति को संज्वलन क्रोध में संक्रमित करता है। अन्तरकरण में दलिक नहीं होते हैं, किन्तु उससे ऊपर होते हैं। क्योंकि वह दलिकरहित शुद्ध स्थिति है, इसलिये अन्तरकरण के काल से अधिक संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में हास्यषट्क की यत्स्थिति है। इस संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा अपवर्तित करके संज्वलन क्रोध की उदयावलिका में संक्रमित करता है यह समझना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो स्थिति बहुत होने से उदयावलिका के ऊपर के भाग में प्रक्षेप हो और वैसा हो तो अन्यप्रकृति का उदयावलिका में जो अन्तिम संक्रम होता है वह जघन्य संक्रम कहलाता है¹, इस पूर्वोक्त वचन से विरोध आता है। इसलिये संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति को अपवर्तित करके उदयावलिका में संक्रमित करता है, ऐसा मानना चाहिये। तथा—

पुंसंजलणाण ठिई जहन्या आबलीदुगेष्णा ।
अंतो जोगंतीण पलियासंखंस इयराण ॥४६॥

शब्दार्थ—पुंसंजलणाण—पुरुषवेद और संज्वलन कथायों की, ठिई—स्थिति, जहन्या—जघन्य, आबलीदुगेष्णा—आबलीद्विकन्यून, अंतो—अन्तमुँहूर्त, जोगंतीण—सयोगिगुणस्थान में अन्त होने वाली, पलियासंखंस—पत्त्योपम का असंख्यातवां भाग, इयराण—इतर प्रकृतियों की ।

गाथार्थ—पुरुषवेद और संज्वलन कथायों की अन्तमुँहूर्ते न्यून जो जघन्य स्थिति है वह उनका जघन्य स्थितिसंक्रम है । यत्स्थिति अन्तमुँहूर्त सहित दो आवलिकान्यून जघन्य स्थिति है । सयोगिगुणस्थान में अन्त होने वाली प्रकृतियों की अन्तमुँहूर्त और इतर प्रकृतियों की पत्त्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति का जघन्य स्थितिसंक्रम होता है ।

द्विषेषार्थ—पुरुषवेद का आठ वर्ष, संज्वलन क्रोध का दो मास संज्वलन मान का एक मास और संज्वलन माया का पञ्चहृदि दिन प्रमाण जो जघन्य स्थितिबंध पूर्व में कहा है, वही जघन्य स्थितिबंध अन्तमुँहूर्ते न्यून उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है ।

अन्तमुँहूर्त न्यून कहने का कारण यह है कि अवाधारहित स्थिति अन्यत्र संक्रमित होती है । क्योंकि अवाधा काल में दल रचना नहीं होती है, किन्तु उससे ऊपर के समय से होती है, यानि अवाधाकाल से ऊपर के स्थानों में कर्मदलिक संभव हैं । जघन्य स्थितिबंध हो तब अवाधा अन्तमुँहूर्त प्रमाण होती है, इसीलिये अन्तमुँहूर्तन्यून स्थिति बंध पुरुषवेद आदि प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है । जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में उनकी यत्स्थिति दो आवलिकान्यून अवाधा सहित आठ वर्ष आदि जघन्य स्थितिबंध प्रमाण जानना चाहिये ।

दो आवलिकान्यून क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि बंध-विच्छेद के समय बंधी हुई उन पुरुषवेद आदि प्रकृतियों की लता का बंधावलिका जाने के बाद संक्रमित होना प्रारम्भ होता है, जिस समय से संक्रमित होना प्रारम्भ होता है उस समय से एक आवलिका

काल पूर्णरूप से संक्रमित होता जाता है और संक्रमावलिका के चरम समय में जघन्य स्थितिसंक्रम होने से बंधावलिका और संक्रमावलिका प्रमाण काल कम हो जाता है। इसलिये उन दो आवलिका के बिना और अबाधाकल सहित जो जघन्य स्थितिबंध वह जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में यस्तिथित है। स्वामी अनिवृत्तिबादरसंपराय-गुणस्थानवर्ती क्षपक है। मात्र पुरुषवेद के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी पुरुषवेद के उदय से श्रेणि आरम्भ करने वाला ही होता है।^१ इसी बात को अब कारण सहित स्पष्ट करते हैं—

पुरुषवेद के सिवाय अन्य वेद से क्षपकश्रेणि आरम्भ करने वाला हास्यादि षट्क के साथ ही पुरुषवेद का क्षय करता है और पुरुषवेद से श्रेणि आरम्भ करने वाला हास्यषट्क का क्षय होने के बाद पुरुषवेद का क्षय करता है, यानि कि पुरुषवेद से जब क्षपकश्रेणि प्राप्त करे तब उसका क्षय करने में बहुत समय मिल सकता है, तथा जिसका उदय हो उसकी उद्दीरणा भी होती है इसलिये पुरुषवेद से क्षपकश्रेणि स्वीकार करने वाले के उदय, उद्दीरणा द्वारा उसकी अधिक स्थिति दृष्टी है—भीगकर क्षय होती है। इस प्रकार पुरुषवेद से श्रेणि पर आरूढ़ हुए को ही उसका जघन्य स्थितिसंक्रम संभव है। अन्य वेद से श्रेणि पर आरूढ़ होने वाले के संभव नहीं हैं।

अब सयोगिकेवलीगुणस्थान में अन्त होने वाली प्रकृतियों के संबंध में विचार करते हैं—

संक्रम की अपेक्षा सयोगिकेवलीगुणस्थान में जिनका अन्त होता है, उन प्रकृतियों का नयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में जघन्य

१ निसी भी वेद या क्षयाय से श्रेणि आरम्भ करने का अर्थ है कि उस-उग वेद या क्षयाय का उदय हो तब उस-उग श्रेणि वा प्रारम्भ करता।

स्थितिसंक्रम होता है। सयोग्यन्तक उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—नरकट्टिक, तिर्यचट्टिक पञ्चेन्द्रियजाति के सिवाय जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत इन तेरह के सिवाय नामकर्म को नव्वै प्रकृतियाँ, साता-असातावेदनीय और उच्च-नीच-भीत्र। इन चौरानवै प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम अन्तमूर्हृत्प्रमाण होता है। क्योंकि सयोगि के इन चौरानवै प्रकृतियों की स्थिति सत्ता में अन्तमूर्हृत्प्रमाण ही होती है।

अन्तमूर्हृत्प्रमाण उस स्थिति को चरम समय में सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित करके घटा करके अयोगि के कालप्रमाण करता है। यद्यपि अयोगिकेवलीगुणस्थान का काल अन्तमूर्हृत्प्रमाण है, परन्तु वह पूर्वोक्त प्रकृतियों के सत्ताकाल से छोटा होता है। जिससे सर्वापवर्तना द्वारा अयोगि के कालप्रमाण स्थिति को शेष रखकर वाकी की अन्तमूर्हृत्प्रमाण स्थिति को अपवर्तित करता है, जिससे यहाँ अन्तमूर्हृत्प्रमाण स्थिति को घटाने रूप अपवर्तनासंक्रम रूप स्थितिसंक्रम होता है। इसीलिये उन चौरानवै प्रकृतियों का अन्तमूर्हृत्प्रमाण जघन्य स्थितिसंक्रम कहा है।

सयोगि के चरमसमय में सर्वापवर्तना होने से जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी सयोगिकेवली है। सर्वापवर्तना द्वारा उदयावलिकारहित स्थिति की अपवर्तना होती है और उदयावलिका सकल करण के अथोग्य होने से उसकी अपवर्तना होती नहीं है। जिससे जिस समय सर्वापवर्तना प्रवर्तमान होती है, उस समय यत्स्थिति—कुल स्थितिउदयावलिका को मिलाने से जितनी हो उतनी समझना चाहिये।

शंका—जैसे भौतिकानावरण आदि प्रकृतियों की समयाधिक आवलिका स्थिति शेष रहे तब क्षीणमोहगुणस्थान में समयप्रमाण जघन्य स्थितिसंक्रम कहा है। उसी प्रकार अयोगिकेवलीगुणस्थान में उम चौरानवै प्रकृतियों की समयाधिक आवलिका स्थिति शेष रहे तब उदयावलिका से ऊपर की समय प्रमाण स्थिति घटाने रूप

जघन्य स्थितिसंक्रम क्यों नहीं कहा ?

उत्तर - समस्त सूक्ष्म गा लादर दिसी भी प्रकार के योगरहित में ह पर्वत की तरह स्थिर ऐसे अयोगिकेवली भगवान आठ करणों में से किसी भी करण को नहीं करते हैं, क्योंकि नितिक्य हैं, मात्र स्वतः उदय प्राप्त कर्म का ही वेदन करते हैं इसलिये सयोगिकेवली को ही उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम होता है।

उक्त प्रकृतियों से जेष रही स्त्यानद्वित्रिक, मिथ्यात्व, मिश्रमोह, अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप वारह कषाय स्त्रीवेद, नग्न सक्वेद, नरकद्विक, तिर्यच्चद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति के सिवाय जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत इन बहीस प्रकृतियों का अप्ते-अपने क्षयकाल में पल्योपम के असंख्यात्में भाग प्रभाण स्थितिखंड का जो अंतिम संक्रम होता है, वह उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है।¹

इस प्रकार से जघन्य मिथ्यतिसंक्रम का प्रभाण जानना चाहिये। अब जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामियों का विचार करते हैं।

जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी

मिथ्यात्व और मिश्र इन दो प्रकृतियों के क्षयकाल में सर्वाप-

१ मिथ्यात्व, मिश्र और अनन्तानुबंधि के सिवाय शेष प्रकृतियों को क्षपक शेष पर आरह हुआ जीव नीबैं गुणस्थान में क्षय करता है और मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियों को क्षामिक सम्यवत्व प्राप्त करने वाले चाँथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव क्षय करते हैं। इन प्रकृतियों की मिथ्यति को क्षय करते-करते अंतिम पल्योपम का असंख्यात्मवाँ भाग प्रभाण खंड रहे और उसको भी क्षय करते हुए वह अंतिम मिथ्यतिघात के अन्तर्मुहूर्त वाल के चरम समय में सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने से लता रहित होता है। इसीलिये इन प्रकृतियों का पल्योपम का असंख्यात्मवाँ भाग प्रभाण जघन्यस्थितिसंक्रम कहा है।

वर्तना द्वारा अपवर्तित करके सत्ता में रहे हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण उसके चरम खंड को संक्रमित करने वाले अविरत, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त मनुष्य जघन्य स्थिति-संक्रम के स्वामी हैं।^१

अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते अनिवृत्तिकरण में सर्वाप-वर्तना द्वारा अपवर्तित करके सत्ता में रखे हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरमखंड को सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने वाले आरोगति के सम्यग्द्विट जीव जघन्य स्थिति-संक्रम के स्वामी हैं।

शेष स्त्यानन्दित्रिक आदि छब्बीस प्रकृतियों को क्रमपूर्वक क्षय करते हुए सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित करके सत्ता में रखे हुए अपने-अपने पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरम खंड को संक्रमित करते नीवें अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य स्थिति-संक्रम के स्वामी हैं।

जिस काल में जघन्य स्थिति-संक्रम होता है, उस काल में स्त्री, नपुसंक वेद को छोड़कर शेष प्रकृतियों की यत्स्थिति, जितनी स्थिति का जघन्य संक्रम होता है, उससे एक आवलिका अधिक है और स्त्री-वेद, नपुसंकवेद की अन्तर्मुहूर्त अधिक है।

आवलिका और अन्तर्मुहूर्त अधिक यत्स्थिति इस प्रकार जानना चाहिये कि स्त्रीवेद और नपुसंकवेद को छोड़कर शेष प्रकृतियों का पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरम स्थितिखंड नीचे की एक उदयावलिका छोड़कर संक्रमित होता है। क्योंकि उदयावलिका सकल करण के अयोग्य है। जिससे इन तीस प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-

^१ मिष्यात्व और मिश्रमोहनीय का सर्वधा क्षय जिनकालिक प्रथमसंहननी मनुष्य ही करने वाले होने से उन्होंको जघन्य स्थिति-संक्रम का स्वामी कहा है।

संक्रमकाल में यत्स्थिति संक्रमित होने वाली स्थिति से एक आवलिका अधिक है।

स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के पल्योपम के असंख्यात्मके भाग प्रमाण चरम खंड को अंतरकरण में रहते हुए संक्रमित करता है। अन्तरकरण में कर्मदलिक नहीं हैं, परन्तु ऊपर दूसरी स्थिति में हैं। अन्तरकरण का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जिससे अन्तर्मुहूर्त सहित पल्योपम का असंख्यात्मके भाग स्त्रीवेद, नपुंसकवेद की यत्स्थिति है।

इस प्रकार से जघन्य स्थितिसंक्रम का प्रमाण, यत्स्थिति और स्वामित्व प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये।^१ अब साद्यादि प्ररूपणा करने का अवसर प्राप्त है। उसके दो प्रकार हैं—१ मूलप्रकृति सम्बन्धी और २ उत्तरप्रकृतिसम्बन्धी। दोनों में से पहले मूलप्रकृति सम्बन्धी सादि आदि की प्ररूपणा करते हैं।

मूलप्रकृति सम्बन्धी सादि आदि प्ररूपणा

मूलठिईण अजहन्मो सत्तःह तिहा चतुष्विहो मोहे।

सेसविगप्ता साई अधुवा ठितिसंकमे होति ॥५०॥

शब्दार्थ—मूलठिईण अजहन्मो—मूलप्रकृतियों का अजघन्य नियतिसंक्रम, सत्तःह—सात का, तिहा—तीन प्रकार का, चतुष्विहोमोहे—गोहनीय का चार प्रकार का, सेसविगप्ता—शेष विकल्प, साई अधुवा—सादि, अधूव, ठितिसंकमे—स्थितिसंक्रम में, होति—होते हैं।

गाथार्थ—गोहनीय को छोड़वार शेष सात मूलप्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का और गोहनीय का चार प्रकार का है तथा शेष विकल्प सादि अधूव इस तरह दो प्रकार के हैं।

१. उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिसंक्रम के प्रमाण, यत्स्थिति, स्वामित्व का प्राप्ति परिणाम में देखिये।

विशेषार्थ— जघन्य स्थिति के सिवाय उत्कृष्ट स्थिति तक के समस्त स्थितिस्थानों का अजघन्य में और इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थिति के सिवाय जघन्यस्थिति तक के समस्त स्थानों का अनुत्कृष्ट में समावेश होता है। तात्पर्य यह है कि समस्त स्थितिस्थानों का जघन्य-अजघन्य इन दो में अथवा उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट इन दो में समावेश होता है।

अब इनमें सादि आदि भंगों को घटित करते हैं।

मोहनीयकर्म को छोड़कर शेष मूल सात कर्मों का अजघन्य स्थितिसंक्रम अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण यह है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का जघन्य स्थितिसंक्रम बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान की समयाधिक एक आवलिका शेष रहे, तब होता है, नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु इन चार कर्मों का जघन्य स्थितिसंक्रम सयोगिकेवली के चरम समय में होता है। यह जघन्य स्थितिसंक्रम एक समय मात्र का होने से सादि और अध्रुव-सात इस तरह दो प्रकार का है। इसके सिवाय शेष समस्त स्थितिसंक्रम अजघन्य है और वह अनादि काल से होता चला आ रहा है, जिससे अनादि है। अभव्य के अजघन्य स्थितिसंक्रम का अंत नहीं होने से अनन्त-ध्रुव एवं भव्य के बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान के अंत समय में अंत होगा, इसलिये सात-अध्रुव है। इस तरह मूल सात कर्मों के अजघन्य स्थितिसंक्रम के तीन भंग हैं।

मोहनीयकर्म का अजघन्य स्थितिसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—माहनीयकर्म का जघन्य स्थितिसंक्रम क्षपक को सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान की समयाधिक आवलिका शेष स्थिति हो तब होता है। समयमात्र का होने से वह सादि-सात है। उसके अतिरिक्त शेष समस्त स्थितिसंक्रम अजघन्य है। वह उपशास्त्रमोहगुणस्थान में क्षायिक सम्यग्हष्टि के नहीं होता है, किन्तु वहाँ से पतन हो तब होता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले के अनादि तथा अभव्य एवं भव्य की अपेक्षा

अनुक्रम से ध्रुव और अध्रुव हैं।

उत्कृष्ट, अनुकृष्ट और जघन्य रूप शेष तीन विकल्प सादि और सांत हैं। वे इस प्रकार—जो उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं वही उत्कृष्ट स्थिति संक्रमित करते हैं। उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश से होता है और वह उत्कृष्ट संक्लेश सदैव होता नहीं, विन्तु भीच-योच में हो जाता है, जिससे जब उत्कृष्ट स्थितिबंध हो तब उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम होता है। इसके सिवाय जेष काल में अनुकृष्ट स्थितिसंक्रम होता है। इस प्रकार दोनों एक के बाद एक इस क्रम से होने के कारण सादि-सांत हैं तथा जघन्य स्थितिसंक्रम एक समय प्रमाण होता है, इसलिये वह सादि-सांत है। इसको पूर्व में कहा जा चुका है।

इस प्रकार मूल कर्मों के उत्कृष्ट आदि स्थितिसंक्रम में साद्यादि भंग जानना चाहिये। सुगमता से बोध करने के लिये जिसका प्रारूप पृष्ठ १२१ पर देखिए।

अब उत्तरप्रकृतियों के सादि आदि भंगों का विचार करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों के सादि आदि भंग

तिविहो धुवसंतार्णं चउचिविहो तह चरित्मोहीणं ।

अजहङ्गो सेसासु दुविहो सेसा वि दुविगप्या ॥५१॥

शब्दार्थ—तिविहो—तीन प्रकार का, धुवसंतार्ण—ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का, चउचिविहो—चार प्रकार का, तह—तथा, चरित्मोहीण—चारित्र-मोहनीय प्रकृतियों का, अजहङ्गो—अजघन्य, सेसासु—शेष प्रकृतियों का, दुविहो—दो प्रकार का, सेसा—शेष विकल्प, वि—भी, दुविगप्य—दो प्रकार के।

गाथार्थ—ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का है, चारित्रमोहनीय का चार प्रकार का और शेष

मूलप्रकृतियों के स्थितिसंक्षेप के साचावि बंगों का प्रारूप

| प्रकृति | अजयन्त | | | जयन्त | | | अनुकृष्ट | | | उत्कृष्ट | | |
|--------------------------------|--------------------------|--------------------------------|-------|-------|--|--------------------|-----------|-----------|-----------|-----------|-----------|-----------|
| | सादि | संज्ञान | असादि | भव्य | छूब | सावि | अझुब | सादि | अझुब | परावर्तन- | परावर्तन- | परावर्तन- |
| आत्म-दर्शना अंतराय | × | जयन्त संक्रम- काल में | भव्य | अभद्य | १२ वें गुण- समया स्थिक आव- लिका | विच्छेद होने से | परावर्तन- | परावर्तन- | परावर्तन- | परावर्तन- | परावर्तन- | परावर्तन- |
| तामः गोत्र, वेदतीय, आयुः | × | | | | १३ वें गुण- स्थान के अन- | १० | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| मोहनीय | आयोप- शामिक ११ वें | | | भव्य | सात्य- प्राप्ति के | ११ | ११ | ११ | ११ | ११ | ११ | ११ |

प्रकृतियों का दो प्रकार का है तथा शेष विकल्प भी दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—जिनकी सत्ता ध्रुव है, वे ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों कहलाती हैं और ऐसी प्रकृतियाँ एक सौ तीस हैं। वे इस प्रकार—नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, तीर्थकरनाम, सम्यकत्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, उच्चगोत्र और आयु-चतुर्ज्ञ इन अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों को कुल एक सौ अट्ठावन प्रकृतियों में से कम करने पर शेष एक सौ तीस उत्तर प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ता वाली हैं। उन एक सौ तीस में से भी चारित्र-मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों को कम कर दिया जाये, क्योंकि उनके लिये पृथक से आगे कहा जा रहा है। अतएव एक सौ तीस में से चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों को कम करने पर शेष एक सौ पांच प्रकृतियों का जबन्य स्थितिसंक्रम अपने-अपने क्षय के अंत में एक समय होने से सादि-अध्रुव (सान्त) है। उसके सिवाय शेष समस्त स्थितिसंक्रम अजघन्य है और वह अनादि काल से होता चला आने से अनादि है तथा भव्य-अभव्य की अपेक्षा अनुक्रम से अध्रुव और ध्रुव है।

चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार—उपशमध्रेणि में इन पच्चीस प्रकृतियों का सर्वथा उपशम होने के बाद संक्रम नहीं होता है। वहाँ से पतन होने पर अजघन्य संक्रम होता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव (सान्त) और भव्य के अध्रुव (सांत) अजघन्य संक्रम हैं।

शेष अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य उत्कृष्ट और अनुकृष्ट ये चारों विकल्प उनकी सत्ता ही अध्रुव होने से सादि-सान्त (अध्रुव) हैं।

ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के अजाग्रत्य के सिवाय शेष जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये तीन विकल्प भी सादि-सांत भंग वाले हैं। उनमें से उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के सादि-सांत (अध्रुव) ये दो भंग मूल कर्म में जिस प्रकार से कहे गये हैं उसी प्रकार जानना चाहिये और जघन्य स्थितिसंक्रम तो अपने-अपने क्षय के अन्त में एक समय मात्र होने से सादि-सांत है।

इस प्रकार से उत्तरप्रकृतियों के जघन्य, अजाग्रत्य आदि स्थिति-संक्रम के सादि आदि चार भंगों को जानना चाहिये तथा इसके साथ ही स्थितिसंक्रम का वर्णन समाप्त हुआ।

उत्तरप्रकृतियों के स्थितिसंक्रम के साद्यादि भंगों का प्रारूप पृष्ठ १२४ पर देखिए—

अब अनुभागसंक्रम की प्ररूपणा करते हैं।

अनुभागसंक्रम प्ररूपणा

अनुभागसंक्रम प्ररूपणा के सात अनुयोगद्वारा हैं- १. भेद, २. विशेषलक्षण, ३. स्पर्धीकप्ररूपणा, ४. उत्कृष्ट अनुभागसंक्रमप्रमाण, ५. जघन्य अनुभागसंक्रमप्रमाण, ६. स्वामित्व, और ७. सादि-आदि प्ररूपणा। इनमें से भेद, विशेषलक्षण और स्पर्धीक इन तीन प्ररूपणाओं का विचार करते हैं।

भेद, विशेषलक्षण और स्पर्धीक प्ररूपणा

ठितिसंक्रमोद्व तिविहो रसमिम उब्दटणाह विन्नेऽमो ।

रसकारणओ नेय घाइसविसेसणभिहाण ॥५२॥

शब्दार्थ—ठितिसंक्रमोद्व—स्थितिसंक्रम के समान, तिविहो तीन प्रकार का, रसमिम—रस (अनुभाग) संक्रम में, उब्दटणाह—उद्वत्तेनादि, विन्नेऽमो—जानना चाहिये, रसकारणओ—रस के कारण से, नेय—समझना चाहिये, घाइसविसेसणभिहाण--घातित्व आदि विशेष नाम।

उत्तरप्रकृतियों के इथरितसंक्रम के सामादि भंग

| प्रकृतियों | अज्ञवश्य | | ज्ञवश्य | | अनुकृष्ट | | उत्तरप्रकृति | |
|---|---------------------------------------|----------------------------------|--------------------------------------|----------------------------------|----------------------------------|--|--|----------------------------------|
| | सामि | अधूव | अनादि | भूव | सामि | अधूव | सावि | अधूव |
| चारिक- मोहनीय को-८५ प्रकृतियों | ११वें गण से गिरने के वाले के | भव्य | उप- स्थान को अप्राप्त की | अभव्य | स्व- काल में | उत्कृष्ट | परा- वर्तमान होने से | परा- वर्तमान होने से |
| अधूव सत्ताका- रेन प्रकृ- तियों | अधूव सत्ता वाली होने से | अधूव सत्ता वाली होने से | × | अधूव सत्ता वाली होने से | अधूव सत्ता वाली होने से | अनुकृष्ट से, परा- वर्तमान होने से | अनुकृष्ट से, परा- वर्तमान होने से | अधूव सत्ता वाली होने से |
| पुर्वोक्त से शेष १०५ प्रकृतियों | अधूव समय में | अधूव समय में | जघन्य स्थान अप्राप्तों के | स्वक्षय समय में | स्वक्षय समय में | परा- वर्तमान होने से | परा- वर्तमान होने से | परा- वर्तमान होने से |

गाथार्थ—अनुभागसंक्रम भी स्थितिसंक्रम की तरह उद्वर्तनादि भेद से तीन प्रकार का जानना चाहिये तथा घातित्व आदि विशेष नाम रस के बारण से समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—अनुभागसंक्रम के दो प्रकार हैं—१. मूलप्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम २. उत्तरप्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम । मूल प्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के भेद से आठ प्रकार का है तथा उत्तरप्रकृतियों के अनुभाग का संक्रम मति-ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण यावत् वीयन्तिराय पर्यन्त एक सौ अट्ठावन प्रकार का है । मूल और उत्तरप्रकृतियों के रस का संक्रम होता है, जिससे उसके भी आठ और एक सौ अट्ठावन भेद होते हैं ।

इस प्रकार से भेदप्ररूपणा का आशय जानना चाहिये । अब विशेषलक्षण का कथन करते हैं—

स्थितिसंक्रम की तरह रससंक्रम के भी उद्वर्तना, अपवर्तना और प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम रूप तीन भेद हैं । सत्ता में रहे हुए अल्प रस में छूट्ठि करना उद्वर्तना, सत्ता में विद्यमान रस को कम करना अपवर्तना और विवक्षित प्रकृति के रस को वृद्यमान अत्यप्रकृति के रस रूप करना प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम कहलाता है । अर्थात् सत्ता में विद्यमान रस की जो छूट्ठि, हानि होती है और एक रूप में रहा हुआ रस अत्य स्वरूप में जैसे कि सातावेदनीय का असातावेदनीय रूप में होना । ये सब संक्रम के ही प्रकार हैं ।

इस प्रकार से अनुभागसंक्रम का विशेष लक्षण जाना चाहिये । अब रसस्पर्धक की प्ररूपणा करते हैं—

रसस्पर्धक सर्वधाति, देशधाति और अधाति इस तरह तीन प्रकार के हैं । उनमें से अपने द्वारा धात किया जा सके, दवाया जा सके ऐसे केवलज्ञानादि गुण का जो सर्वथा धात करें, उन्हें सर्वधातिरसस्पर्धक कहते हैं । अपने द्वारा धात किया जा सके ऐसे ज्ञानादि गुण के मति-

आनादि रूप एक देश को जो दबायें, धात करें, वे देशधाति रसस्पर्धक कहलाते हैं और जो रसस्पर्धक आत्मा के किसी भी गुण को दबाते नहीं, परन्तु जैसे स्वयं चोर न हो लेकिन चोर के संबंध से चोर कहलाता है, उसी प्रकार सर्वधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से सर्वधाति कहलाते हैं, उन्हें अधाति रसस्पर्धक कहते हैं।

ये अधातिस्पर्धक स्वयं आत्मा के किसी गुण का धात नहीं करते, दबाते नहीं, मात्र सर्वधाति स्पर्धकों का जब तक सम्बन्ध है, तब तक उन जैसा काम करते हैं। जैसे निर्बल बलवान के साथ मिले तब वह बलवान जैसा काम करता है, वैसे ही अधातिरस सर्वधातिरस के सम्बन्ध वाला है पश्चातक उसी तरीख पर्याप्त है।

प्रकृतियों में जो सर्वधाति, देशधाति या अधाति पना कहा गया है वह सर्वधाति आदि रसस्पर्धकों के सम्बन्ध से समझना चाहिये। यानि उस-उस प्रकार के रस के सम्बन्ध से ही सर्वधाति, देशधाति या अधाति प्रकृतियां कहलाती हैं। इसी बात को गाथा में ‘रसकारणओ नेयं धाइत्तविसेसणभिहाणं’ गद से स्पष्ट किया कि सर्वधाति आदि रस रूप कारण की अपेक्षा से ही कर्मप्रकृतियां सर्वधातिनी, देशधातिनी या अधातिनी कहलाती हैं।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं—

देसग्धाइरसेण, पगईओ होंति देसग्धाईओ ।

इयरेणियरा एमेव, ठाणसज्जा यि नेयव्वर ॥५३॥

शब्दार्थ—देसग्धाइरसेण—देशधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से, पगईओ—प्रकृतियों, होंति—होती हैं, देसग्धाईओ—देशधातिनी, इयरेणियरा—इतर से इतर (सर्वधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से सर्वधाति), एमेव—इसी प्रकार ठाणसज्जा यि—स्थानसंज्ञा भी, नेयव्वर—जानना चाहिये।

गाथार्थ—देशधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से प्रकृतियां देशधाति और सर्वधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से प्रकृतियां सर्वधाति हैं। इसी प्रकार स्थानसंज्ञा भी जानना चाहिये।

बिशेषार्थ—कर्मप्रकृतियों में सर्वधातित्व, देशधातित्व और अधातित्व ये रस के सम्बन्ध से हैं। देशधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से मतिज्ञानावरण आदि पच्चीम प्रकृतियां देशधाति सर्वधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से केवलज्ञानावरणादि बीस प्रकृतियां सर्वधाति और अधाति रसस्पर्धक के सम्बन्ध से सातावेदनीय आदि पचहत्तर प्रकृतियां अधाति कहलाती हैं।

आत्मा के ज्ञानादि गुणों को सूर्य और मेघ के हटान्त से जो प्रकृतियां सर्वथा घात करती हैं वे सर्वधाति, गुणों के एक देश को देश से घात करती हैं, वे देशधाति और जो प्रकृतियां आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करतीं, परन्तु साता आदि उत्पन्न करती हैं, वे कर्मप्रकृतियां अधाति कहलाती हैं।

इसी प्रकार एकस्थानक आदि स्थानसंज्ञा भी रस के सम्बन्ध से ही जानना चाहिये। बंध की अपेक्षा एक सौ थीस प्रकृतियों में से मति-श्रुत-अवधि और मनपर्यायज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु-अवधि-दर्शनावरण, पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्क और अन्तरायपंचक ये सबह प्रकृतियां एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस वाली हैं और शेष एक सौ तीन प्रकृतियां द्वि, त्रि और चतुःस्थानक रस वाली हैं।

कर्मप्रकृतियों में एकस्थानक आदि जो स्थानसंज्ञा कही है, वह रस—अनुभाग रूप कारण की अपेक्षा से है। जैसे कि जिन मतिज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों में एकस्थानक—अति भंद रस होता है, वे एकस्थानक रस वाली कहलाती हैं। इसी प्रकार द्विस्थानक आदि रस वाली भी समझ लेना चाहिये। अध्यवसायानुसार जिन प्रकृतियों में जैसा रस उत्पन्न हुआ हो, उन प्रकृतियों में उसके अनुरूप एकस्थानक आदि संज्ञा समझना चाहिये।

इस प्रकार से बंधापेक्षा प्रकृतियों की घातित्व और स्थानसंज्ञा

जानना चाहिये। किन्तु सम्यकत्व और मिथ्रमोहनीय का बंध नहीं होने से उनकी स्थान आदि संज्ञा नहीं बताई है। अतः अब उनके तथा क्रिय प्रकृतियों के विषय में संक्रम की अपेक्षा कुछ विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

सर्वघाइ दुष्टाणो भीसायवमणुयतिरियआङ्गं ।

इगदुष्टाणो सम्मभि तवियरोणासु जह हेठा ॥५४॥

शब्दार्थ—सर्वघाइ—सर्वघाति, दुष्टाणो—द्विस्थानक, भीसायवमणुयतिरियआङ्गं—मिथ्रमोहनीय, आतप और मनुष्य-तिर्यच आयु का, इगदुष्टाणो—एकस्थानक, द्विस्थानक, सम्मभि—सम्यकत्वमोहनीय में, तवियरो—उससे इतर (देशघाति), अणासु—अन्य प्रकृतियों में, इह—जैसा, कुछ—पूर्व में।

गाथार्थ—मिथ्रमोहनीय, आतप और मनुष्य-तिर्यच आयु का संक्रम की अपेक्षा रस सर्वघाति और द्विस्थानक होता है। सम्यकत्वमोहनीय का संक्रम की अपेक्षा रस एकस्थानक, द्विस्थानक और देशघाति होता है तथा अन्य प्रकृतियों में जैसा पूर्व में कहा है, उसी प्रकार संक्रम की अपेक्षा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—अनुभाग—रससंक्रम अधिकार में कितना और कैसा रस संक्रमित होता है, इसका विचार करना अभीष्ट है। अतएव इस गाथा में किन प्रकृतियों का कितना और कैसा रस संक्रमित होता है, यह स्पष्ट करते हैं—

मिथ्रमोहनीय, आतप और मनुष्य-तिर्यच आयु का रस द्विस्थानक और सर्वघाति संक्रमित होता है। उसमें से मिथ्रमोहनीय का रस तो सर्वघाति और मध्यम द्विस्थानक ही होता है। इसीलिये उसका संक्रम की अपेक्षा सर्वघाति और मध्यम द्विस्थानक रस बतलाया है।

आतप, मनुष्यायु और तिर्यचायु का यद्यपि द्वि, त्रि और चतुःस्थानक रस होता है। क्योंकि इनका वैसा रस बंधता है, किन्तु तथा-

स्वभाव से द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है तथा इन प्रकृतियों का रस अधाति है, जिससे स्वभावतः ही आत्मा के किसी गुण की आवृत्त नहीं करती है। लेकिन सर्वधाति अन्यान्य प्रकृतियों के रस के सम्बन्ध से वे सर्वधाति हैं, अधाति नहीं हैं। इसीलिये ऐसी प्रकृतियों को सिद्धान्त में सर्वधातिप्रतिभाग अर्थात् सर्वधातिसदृश कहा है, परन्तु सर्वधाति नहीं। क्योंकि धातिप्रकृतियों का सर्वधा क्षय होने के बाद तेरहबैं गुणस्थान में वर्तमान चार अधाति कर्मों का अनुभाग आत्मा के किसी भी गुण का धात नहीं करता है। यदि अपने स्वभाव से ही सर्वधाति होता तो केवलज्ञानावरणादि के समान आत्मा के गुणों को आच्छादित करता।

सम्यक्त्वमोहनीय का एकस्थानक और मन्त्र द्विस्थानक तथा देश-धाति रस संक्रमित होता है, अन्य प्रकार का नहीं और इसका अर्थ है उसमें अन्य प्रकार का रस होना असम्भव है।

उपर्युक्त प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों के बारे में इसी ग्रंथ के तीसरे बंधव्य अधिकार में बंध की अपेक्षा जैसा एकस्थानक एवं सर्वधाति आदि रस कहा है, यहाँ संक्रम के संदर्भ में भी उसी प्रकार का रस जानना चाहिये। जितना एवं जैसा बंधता है, उतना और वैसा ही संक्रमित होता है।

इस प्रकार सामान्य से रस का संक्रम जानना चाहिये। अब यहाँ उत्कृष्ट और जघन्य रस के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं।

संक्रमायेका उत्कृष्ट रस

दुट्ठणो चिच्य जाणं ताणं उक्कोसओ वि सो चेव।

संक्रमइ वेयगे वि हु सेसामुक्कोसओ परमो ॥५५॥

शब्दार्थ—दुट्ठणो—द्विस्थानक, चिच्य—ही, जाणं—जिनका, ताणं—उनका, उक्कोसओ—उत्कृष्ट से, वि—भी, सो चेव—वही, संक्रमइ—संक्रमित

होता है, जेयगे—वेदकसम्बन्धत्व वा, वि—भी, हु—नियम से, सेसासुषको-
सभो—शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट, परमो—चरम—चतुःस्थानक ।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियों का रस संक्रम के विषय में द्विस्थानक ही होता है, उनका उत्कृष्ट में वही रस संक्रमित होता है । वेदकसम्बन्धत्व का भी नियम से उतना ही तथा शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट चतुःस्थानक रस संक्रमित होता है ।

विशेषार्थ—मिश्रमोहनीय, आतप, मनुष्यागु और तिर्यचायु रूप प्रकृतियों का द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है । असंभवता के कारण अथवा तथा स्वभावरूप कारण से अन्य प्रकार का रस संक्रमित नहीं हो सकता है । इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट भी द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है, किन्तु अन्य किसी प्रकार का रस संक्रमित नहीं होता है ।

वेदकसम्बन्धत्व—सम्यक्त्वमोहनीय का भी उत्कृष्ट द्विस्थानक रस ही संक्रमित होता है । यद्यपि उसका एकस्थानक रस भी है, लेकिन वह जघन्य है तथा त्रि अथवा चतुःस्थानक रस मिश्र एवं सम्यक्त्वमोहनीय का होता ही नहीं है तथा शेष समस्त प्रकृतियों का संक्रम की अपेक्षा उत्कृष्ट से चतुःस्थानक रस होता है ।

इस प्रकार से संक्रमापेक्षा उत्कृष्ट रस का स्वरूप जानना चाहिये । अब जघन्य रस कितने स्थानीय संक्रमित किया जाता है ? इसको स्पष्ट करते हैं ।

संक्रमापेक्षा जघन्य रस

एकट्ठाणजहन्मं संकमद्व पुरिससम्मसंजलणे ।

इयरासु' दोट्ठाणि य जहुण्णरससंकमे लड्डुं ॥५६॥

शब्दार्थ—एकट्ठाण—एकस्थानक, जहन्म—जघन्य, संकमद्व—संक्रमित होता है, पुरिससम्मसंजलणे—पुरुषब्रह्म, सम्यक्त्वमोहनीय और संज्ञवलनचतुःक

का, इयरामु'—इतर प्रकृतियों का, बोट्टाणि—द्विस्थानक, य—और, जहाण-
रस—जघन्य रस, संक्रमे—संक्रम में, फङ्ड—स्पर्धक ।

गाथार्थ—पुरुषवेद, सम्यक्त्वमौहनीय और संज्वलनचतुष्क का
एकस्थानक जघन्य रसस्पर्धक तथा इतर प्रकृतियों का द्विस्थानक
जघन्य रसस्पर्धक संक्रमित होता है ।

बिशेषार्थ—पुरुषवेद, सम्यक्त्वमौहनीय एवं संज्वलन क्रोध, मान,
माया और लोभ का एकस्थानक रस सम्बन्धी अल्पातिअल्प रस
वाला जो स्पर्धक, वह जब संक्रमित हो तब उसे उनका जघन्य अनुभाग-
संक्रम हुआ कहते हैं ।^१

इनर—शेष कर्मप्रकृतियों के जघन्य रससंक्रम के विषय में द्विस्थानक
रसस्पर्धक समझना चाहिये । अर्थात् शेष प्रकृतियों में उनका सर्व-
जघन्य—अल्पातिअल्प रस वाला द्विस्थानक रसस्पर्धक जब संक्रमित
हो तब वह उनका जघन्य अनुभागसंक्रम हुआ कहलाता है ।

यद्यपि मति, श्रुति, अवधि और मनपर्याय ज्ञानात्मरण, चक्षु, अचक्षु
और अवधि दर्शनात्मरण तथा अन्तरायपञ्चक इन प्रकृतियों का एक-
स्थानक रस भी बंध में होता है—बंधता है, लेकिन क्षयकाल में जब
जघन्य रसस्पर्धक संक्रमित होता है, तब द्विस्थानक रस भी संक्रमित
होता है अर्थात् द्विस्थानक रस के साथ एकस्थानक रस भी संक्रमित
होता है, केवल एकस्थानक रस संक्रमित नहीं होता है । इसीलिये इन
प्रकृतियों का जघन्य रससंक्रम का विषयभूत एकस्थानक रस नहीं
कहा है ।

कदाचित् यहाँ यह कहा जाये कि जब उपर्युक्त प्रकृतियों का एक-
स्थानक रस बंधता है तब जघन्य रससंक्रमकाल में एकस्थानक रस

१. यह संक्रम कब होता है ? इसका स्पष्टीकरण आगे संक्रमस्वामित्व प्ररू-
पणा में किया जा रहा है ।

क्यों संक्रमित नहीं होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि जघन्य रस-संक्रम काल में तथाजीवस्थभाव से केवल एकस्थानक रस संक्रमित नहीं होता है, किन्तु पूर्वबद्ध द्विस्थानक और एकस्थानक दोनों संक्रमित होते हैं। इसीलिये इन प्रकृतियों का संक्रम के विषय में एकस्थानक रस नहीं कहा है। यदि इन प्रकृतियों का जघन्य रससंक्रम के विषय में एकस्थानक रस कहा होता तो अंत में जब जघन्य रससंक्रम हो तब केवल एकस्थानक रस का ही हो, द्विस्थानक का हो ही नहीं सकता है, किन्तु संक्रम तो द्विस्थानक रस का भी होता है, इसलिये एकस्थानक रस का संक्रम न कहकर द्विस्थानक रस का संक्रम कहा है। द्विस्थानक में एकस्थानक समाहित हो जाता है, किन्तु एकस्थानक में द्विस्थानक समाहित नहीं हो सकता है।

यहाँ रस-अनुभाग के संक्रम का आशय उस-उस प्रकार के रस बाले पुद्गलों का संक्रम समझना चाहिये।

इस प्रकार से उत्कृष्ट और जघन्य रससंक्रम का प्रमाण जानना चाहिये। सुगमता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

उत्कृष्ट अनुभागसंक्रमप्रमाण

| प्रकृतियाँ | स्थानप्रमाण | धातिप्रमाण |
|--|---------------------------------|-------------------------------------|
| सम्यक्त्वमोहनीय भिथ, मनुष्य-तिर्यचायु आतप उक्त से शेष | द्विस्थानक ,, चतुर्स्थानक | देशघाति सर्वघाति सर्वघाति |

जघन्य अनुभागसंक्रमप्रमाण

| प्रकृतियाँ | स्थानप्रमाण | धातिप्रमाण |
|---|------------------------|---------------------|
| सम्यक्त्व, पुरुषवेद, संज्वलन- चतुर्षक उक्त से शेष | एकस्थानक द्विस्थानक | देशघाति सर्वघाति |

अब उतने उतने रस का संक्रम करने वाला कौन होता है ? इसको उत्कृष्ट करने के लिये स्वामित्वप्रखण्डणा करते हैं। उसमें भी पहले उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों को बतलाते हैं।

उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम-स्वामित्व

बंधिय उक्कोसरसं आवत्तियाओ परेण संकामे ।

जावंतमुहू मिच्छो असुभाषं सव्वपयडीणं ॥५७॥

शब्दार्थ—बंधिय—बांधकर, उक्कोसरसं—उत्कृष्ट रस को, आवत्तियाओ—आवलिका के, परेण—बाद, संकामे—संक्रमित करने हैं, जावंतमुहू—अन्तमुहूर्त पर्यन्त, मिच्छो—मिथ्याहृष्टि, असुभाषं—अशुभ सव्वपयडीण—रभी प्रकृतियों का ।

गाथार्थ—मिथ्याहृष्टि जीव सभी अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट रस बांधकर आवलिका के बाद अन्तमुहूर्त पर्यन्त उसको संक्रमित करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वाभी का निर्देश किया है—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, मोहनीय की अट्ठाईस, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, एकेन्द्रियादि जातिचतुपक, प्रथम के सिवाय शेष पांच संहनन एवं पांच संस्थान, अशुभ वर्णादि नवक, उपघात, अशुभ विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्ति, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःखर, अनादेय, अयशकीर्ति, नीचगोत्र और अन्तरायपंचक, कुल मिलाकर अठासी अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट रस बांधकर बंधावलिका के बीतने के बाद बांधे हुए उस रस को सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्ति से लेकर सभी चारों गति के मिथ्याहृष्टि जीव अन्तमुहूर्त पर्यन्त संक्रमित करते हैं ।

यहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपयोगित को भी ग्रहण करने का कारण यह है कि यद्यपि उपर्युक्त अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का बंध संज्ञी मिथ्यादृष्टि करते हैं परन्तु वैसा रस बांधकर एकेन्द्रियादि में उत्पन्न हों तो वे एकेन्द्रियादि जीव उत्कृष्ट रस का संक्रम कर सकते हैं।

इस संदर्भ में इनना विशेष जानना चाहिये कि मात्र असंख्यात वृषयु वाले तिर्यक, मनुष्य और आनन्दादि कल्प के देव उत्कृष्ट रस को संक्रमित नहीं करते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि होने पर भी तीव्र संक्लेश का अभाव होने से वे उपर्युक्त अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को बांधते नहीं हैं और उत्कृष्ट रस के बंध का अभाव होने से वे उत्कृष्ट रस को संक्रमित भी नहीं करते हैं।

प्रश्न— भोगभूमिज एवं आनन्द आदि कल्प के देव तीव्र संक्लेश नहीं होने के कारण चाहे उत्कृष्ट रस को न बांधें परन्तु जिन संज्ञियों में से वे आते हैं, वहाँ बंधे हुए उत्कृष्ट रस को लेकर आते हैं, तो फिर वे क्यों संक्रमित नहीं करते हैं? जैसे एकेन्द्रिय पूर्वभव के बंधे हुए उत्कृष्ट रस को संक्रमित करते हैं।

उत्तर— गाथा में कहा है कि मिथ्यादृष्टि पृथ्य अथवा पाप प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रख सकते हैं। युगलिकों और आनन्द आदि देवों की आयु तो प्रशस्त प्रकृति होने से शुद्ध लेश्या से बंधती है। जिस लेश्या से बंधती है, वह लेश्या मनुष्य, तिर्यक की अन्तर्मुहूर्त आयु शेष हो तब होती है। अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में प्रशस्त लेश्या होने के कारण पूर्व में उत्कृष्ट रस कदाचित् बांधा हो, तथापि वह घट जाता है। जिससे अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस की सज्जा को लेकर युगलिक अथवा आनन्दादि में जाता नहीं। इसलिये वे उत्कृष्ट रस के संक्रम के अधिकारी नहीं हैं।

मिथ्यादृष्टि के उत्कृष्ट रस का संक्रम बंधावलिका के बाद अन्तर्मुहूर्त ही होता है, इससे अधिक समय नहीं। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त

के पश्चात् शुभ परिणामों के बांग से उसके उत्कृष्ट रस का विनाश सम्भव है। मिथ्याहृष्टि जीव पाप या शुभ प्रकृति के उत्कृष्ट रस को यथायोग्य रीति से बांधे तो भी बन्ध होने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद उन शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का संक्लेश द्वारा और अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का विशुद्धि द्वारा अवश्य नाश करता है। इसीलिये उनकी उत्कृष्ट रस के संक्रम का काल अन्तर्मुहूर्त कहा है।

आयावुज्जोबोरात् पद्मसंघयणमण्डुगाउणं ।

मित्ता सम्भा य सम्भी सेसाणं जोगि सुमियाणं ॥५८॥

ग्रन्थार्थ—आयावुज्जोबोरात्—आत्म, उद्योत, औदारिक (सप्तक), पद्मसंघयणमण्डुगाउणं—प्रथम संहनन, मनुष्याद्विक, आशुचतुष्क के, मित्ता—मिथ्याहृष्टि, सम्भा—सम्यग्हृष्टि, य—और, सम्भी—स्वामी, सेसाण—शेष, जोगि—संयोगिकेवनी, सुमियाण—शुभ प्रकृतियों के।

ग्रन्थार्थ—आत्म, उद्योत, औदारिकसप्तक, प्रथम संहनन, मनुष्याद्विक और आशुचतुष्क के उत्कृष्ट रससंक्रम के स्वामी मिथ्याहृष्टि और सम्यग्हृष्टि जानना चाहिये और शेष शुभ प्रकृतियों के संयोगिकेवली हैं।

विशेषार्थ—आत्म, उद्योत, औदारिकसप्तक, प्रथम संहनन और मनुष्याद्विक इन बारह प्रकृतियों के उत्कृष्ट रससंक्रम के स्वामी मिथ्याहृष्टि और सम्यग्हृष्टि दोनों प्रकार के जीव समझना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सम्यग्हृष्टि जीव शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का विनाश नहीं करते हैं, किन्तु विशेषतः एक सी बत्तीस सागरोपम तक उसको सुरक्षित रखते हैं, जिससे आत्म, उद्योत के सिवाय उपर्युक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को सम्यग्हृष्ट होने पर भी बांधकर बंधावलिका के अनन्तर उस उत्कृष्ट रस को उपर्युक्त काल पर्यन्त सम्यग्हृष्टि जीव संक्रमित करते हैं तथा उपर्युक्त काल पर्यन्त उस रस को सुरक्षित

रखकर बाद में मिथ्यात्व में भी जाते हैं, जिससे मिथ्याहृष्टि भी उपर्युक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को संक्रमित करते हैं।

आतप, उद्योत का उत्कृष्ट अनुभाग मिथ्याहृष्टि ही बांधते हैं। इसलिये बंधावलिका के व्यतीत होने के अनन्तर उन दोनों के उत्कृष्ट रस के संक्रम का तो उनको अभाव नहीं है और उत्कृष्ट रस सत्ता में होने पर भी मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में जाने पर सम्यग्हृष्टि भी उन दो प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को संक्रमित करते हैं। क्योंकि शुभ प्रकृति होने से सम्यग्हृष्टि उन दोनों के उत्कृष्ट रस को कम नहीं करते हैं, परन्तु सुरक्षित रखते हैं, जिससे सम्यग्हृष्टि को भी उनके उत्कृष्ट रस के संक्रम में कोई विरोध नहीं है।

चार आयु के उत्कृष्ट रस को सम्यग्हृष्टि या मिथ्याहृष्टि बांधकर बंधावलिका के दीतने के बाद उस-उस आयु की समयाधिक आवलिका शेष रहे तब तक सम्यग् अथवा मिथ्या इस प्रकार दोनों हृष्टि वाले संक्रमित करते हैं। अर्थात् चार आयु के उत्कृष्ट रस-संक्रम के स्वामी सम्यग्हृष्टि और मिथ्याहृष्टि दोनों हैं।

प्रद्यपि तीन आयु का उत्कृष्ट रसबंध मिथ्याहृष्टि और देवायु का अप्रमत्त जीव करता है। जिससे जहाँ-जहाँ बंध करे, वहाँ-वहाँ तो उत्कृष्ट रस का संक्रम घटित हो सकता है और उत्कृष्ट रस सत्ता में होने पर भी मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में जाते सम्यग्हृष्टि के तीन आयु के उत्कृष्ट रस का और सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में जाते मिथ्याहृष्टि को देवायु के उत्कृष्ट रस का संक्रम घट सकता है।

शेष सातावेदनीय, देवद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियसप्तक, आहारक-सप्तक, तीजससप्तक, समचतुरस्त्रसंस्थान, शुभवर्णादि एकादश, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, अगुरुलघु, पराघात, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थकर और उच्चगोत्र रूप त्रौपन शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को अपने-अपने बंधविच्छेद के समय बांधकर बंधावलिका के बाद सयोगिकेवली के चरम समय पर्यन्त उस उत्कृष्ट रस को संक्रमित

करता है। इसलिये इन चीपन प्रकृतियों के उत्कृष्ट रससंक्रम के स्वामी संयोगिकेवली जीव जानना चाहिये तथा गाथोत्त 'च' शब्द से उन-उन प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के बाद जिस-जिस गुणस्थान में वर्तता हो, उस-उस गुणस्थानवर्ती जीव भी समझना चाहिये। जैसे कि सातवेदनीय, यशकीर्ति और उच्चवगोत्र के उत्कृष्ट रस को बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव और शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस को तीवें दसवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव भी संक्रम करने वाले जानना चाहिये।

इस प्रकार से उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों का वर्णन जानना चाहिये। तदर्थक प्रारूप इस प्रकार है—

उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम-संक्षीप्त

| प्रकृतियां | स्वामी | उत्कृष्ट संक्रम सततकाल |
|---|--|--|
| नरकायुरहित शेष दद अंगुष्ठ प्रकृ- तियां | युगलिक आन- न्दादि कल्पवासी देवों को छोड़कर सभी मिथ्याहृष्टि जीव | अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त |
| आत्म, उद्योग, मन्त्राद्विक औंदा- रिकंसप्तक, वज्र- न्द्रिष्यभन्नाराच संहनन आयुचतुष्क | सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्याहृष्टि सभी जीव | १३२ सामग्रोपम पर्यन्त |
| पूर्वोक्त से शेष ५४ प्रकृति | उत्कृष्ट अनुभाग बंधक सम्यग्दृष्टि, मिथ्याहृष्टि क्षपक स्वस्वक्षय काल में | नमयाधिक आवलिका शेष पर्यन्त क्षयकाल से लेकर संयोगि पर्यन्त |

अब जन्मन्य अनुभागसंक्रमन के स्वानियों का निर्देश करते हैं। जन्मन्य अनुभागसंक्रम किसको हो सकता है? इसका परिज्ञान कराने के लिये गाथासूत्र कहते हैं।

जन्मन्य अनुभागलंक्रमस्वामित्व की सामान्य भूमिका

खवगससंतरकरणे अकए घाईण जो उ अणुभागो ।

तस्स अणंतो भागो सुहुमेगिदिय कए थोवो ॥५६॥

शब्दार्थ—खवगससंतरकरणे—क्षपक के अन्तरकरण, अकए—न किया हो, घाईण—घाति प्रकृतियों का, जो उ अणुभागो—जो भी अनुभाग, तस्स—उसका, अणंतो भागो—अनन्तवां भाग, सुहुमेगिदिय—सूक्ष्म एकेन्द्रिय के, कए—करने के बाद, थोवो—स्तोव, अल्प।

गाथार्थ—अन्तरकरण न किया हो, तब तक क्षपक के घाति-प्रकृतियों का जो भी अनुभाग (सत्ता में) होता है, उसका अनन्तवां भाग सूक्ष्म एकेन्द्रिय के होता है और अन्तरकरण करने के बाद स्तोक, अल्प होता है।

द्विशेषार्थ—जहाँ तक अन्तरकरण नहीं होता है, वहाँ तक सर्वधाति अथवा देशघाति कर्मप्रकृतियों का जो अनुभाग क्षपक जीव के सत्ता में होता है, उसका अनन्तवां भाग सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के सत्ता में होता है। अर्थात् जब तक अन्तरकरण किया हुआ नहीं होता है, तब तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय के सत्तागत अनुभाग से क्षपक के सर्वधाति या देशघाति प्रकृतियों का सत्तागत अनुभाग अनन्तगुणा होता है, परन्तु अन्तरकरण होने के बाद सूक्ष्म एकेन्द्रिय के सत्तागत अनुभाग से रस-घात ढारा बहुत-मा रस कम हो जाने से क्षपक के घातिकर्मप्रकृतियों का अनुभाग अल्पल्प होता है। तथा—

सेसाणं असुभाणं केवलिणो जो उ होई अणुभागो ।

तस्स अणंतो भागो असण्णपञ्चेदिए होइ ॥५७॥

शब्दार्थ—सेसाण— शेष, अनुभाण—अशुभ प्रकृतियों का, केवलिणी—केवली को, जो उ—जो भी, होइ—होता है, अनुभाग—अनुभाग, तस्स—उसका, अण्टो भाग—अनन्तवां भाग, असण्णपंचेदिए—असंजी पंचेन्द्रिय को, होइ—होता है।

गाथार्थ— शेष अशुभ प्रकृतियों का केवली के जो अनुभाग होता है, उसका अनन्तवां भाग असंजी पंचेन्द्रिय के होता है।

विशेषार्थ— शेष अशुभ प्रकृतियों का अर्थात् असात्तावेदनीय, प्रथम को छोड़कर पांच संस्थान और पांच संहनन, अशुभ वर्णादि नवक, उपधात, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःखर, अनादेय, अस्त्रिर, अशुभ, अग्नीप्ल, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र रूप तीस अघाति अशुभ प्रकृतियों का केवली भगवन्तों की सत्ता में जो अनुभाग होता, उसका अनन्तवां भाग असंजी पंचेन्द्रिय के सत्ता में होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि असंजी पंचेन्द्रिय के अनुभाग से केवली के उक्त अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुण होता है। जो अनुभाग जिसके अनन्तवें भाग हो उससे वह अनन्तगुण होता है, यानि कि सर्वज्ञाति अथवा देशवाति प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग का संक्रम क्षपक के अन्तर्करण करने के बाद जानना चाहिये और शेष असात्तावेदनीय आदि अशुभ अघातिप्रकृतियों का अनुभागसंक्रम स्योग्मि-केवली को नहो, किन्तु जिसके रस की सत्ता का अधिक नाश हो गया है, ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रियादि के जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि मिथ्याहृषि शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को संकलेश द्वारा और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को विषुद्धि द्वारा अन्तमुर्हत के बाद अवश्य नाश करता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। अतएव जघन्य अनुभाग किसको

सम्भव है, उसके ज्ञान से यह समझ में आ जायेगा कि जबन्दु अनुभाग संक्रम कीन करता है।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि सम्यग्हटिं अशुभ प्रकृतियों और शुभ प्रकृतियों के रस का क्या करता है—

सम्मद्विठ्ठी न हणह सुभाणुभागं तु चेव दिट्ठीणं ।

सम्मतमीसगाणं उवकोसं हणह खवगो उ ॥६१॥

शब्दार्थ—सम्मद्विठ्ठी—सम्यग्हटिं, न हणह—कम नहीं करता है, सुभाणुभागं—शुभ अनुभाग को, तु चेव दिट्ठीणं—और दोनों हटियों के, सम्मतमीसगाणं—सम्यक्त्व और मिथ मोहनीय के, उवकोसं—उत्कृष्ट रस वा, हणह—विनाश करता है, खवगो—क्षपक, उ—और।

गाथार्थ—सम्यग्दृष्टि शुभ अनुभाग को कम नहीं करता है तथा सम्यक्त्व एवं मिथ मोहनीय इन दो दृष्टियों के उत्कृष्ट रस का क्षपक विनाश करता है।

विशेषार्थ—सम्यग्हटिं सातावेदनीय, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पञ्चन्द्रियजगति, प्रथम संस्थान और संहस्रन, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तैजससप्तक, शुभवर्णादि एकादश, अग्नुरुलधु, पराधात, उच्छ्रवास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, ऋसदशक, निर्माण, तीर्थकर और उच्चरगोत्र इन छियासठ पुण्यप्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग का विनाश नहीं करता है परन्तु दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त सुरक्षित रखता है।

यहाँ दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त कहने का कारण यह है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का छियासठ सागरोपम उत्कृष्ट निरंतर काल है। उतने काल तक जीव सम्यक्त्व का पालन कर अन्तर्मुहूर्त के लिये मिथ में जाकर पुनः दूसरी बार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है और उसे भी छियासठ सागरोपम पर्यन्त सुरक्षित रखता है।

तत्परत्वात् या तो मोक्ष प्राप्त करता है अथवा गिरकर मिथ्यात्व में जाता है। यदि मोक्ष में जाये तो सर्वथा कर्म का क्षय करता है और यदि मिथ्यात्व में जाये तो वहाँ जाने के बाद अन्तमुहूर्त के अनन्तर उत्कृष्ट रस का नाश करता है। जिससे ऊपर के गुणस्थानों में दो छिपाए आगरोह्य पर्यात ही तुड़ रक्तियों के उत्कृष्ट रस को सुरक्षित रखता है।

सम्यकत्वादि गुणस्थानवर्ती जीव परिणाम प्रशस्त होने में पुण्य प्रकृतियों के रस को सुरक्षित रख सकता है और पाप प्रकृतियों के रस को कम करता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि अन्तमुहूर्त से अधिक पुण्य अथवा पाप किसी भी प्रकृति के रस को सुरक्षित नहीं रख सकता है।

मिथ्यादृष्टि और सम्यगदृष्टि ये दोनों सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय के उत्कृष्ट रस का नाश नहीं करते हैं, परन्तु क्षपक ही नाश करता है। क्षपक क्षयकाल में उन दोनों प्रकृतियों के उत्कृष्ट रस का विनाश करता है।¹

इस प्रकार जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामी कौन हो सकता है? इसकी सम्भावना का विचार करने के पश्चात् अब जघन्य अनुभागसंक्रमस्वामित्व की प्ररूपणा करते हैं।

जघन्य अनुभागसंक्रमस्वामित्व

धाईंगे जे खबगो जहणरसंक्रमस्स ते सामी ।

आऊण जहणठिङ्ग-बंधाओ आवली सेसा ॥६२॥

शब्दार्थ—धाईंगे—धाईंगे—धाईंगे का, जे खबगो—जो क्षपक, जहण-रससंक्रमस्स—जघन्य रससंक्रम का, ते—वह, सामी—स्वामी, आऊण—

¹ सम्मदिदिठ न हणइ मुभाणुभागं असम्मदिटी वि ।

सम्मतभीमगाण उककस्सं बजिया खिवर्ण ॥

आयु का, जहण्ठिड़—जघन्यस्थिति, द्वाओ—बंध से, आवली होसा—एक आवलिका शेष तक।

गाथार्थ—जो क्षपक है, वह धाति प्रकृतियों के जघन्य रस-संक्रम का स्वामी है। आयु के जघन्य रससंक्रम के स्वामी उस-उस आयु के जघन्य स्थितिवद से लेकर अपनी समयाधिक आवलिका शेष रहने तक के जीव हैं।

विशेषार्थ—धातिकर्म प्रकृतियों के जघन्य रससंक्रम के स्वामी क्षपकशेणि में वर्तमान जीव हैं। वे क्षपकशेणि में अन्तरकरण करने के बाद स्थितिवातादि द्वारा क्षय करते-करते उन-उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जहाँ-जहाँ संक्रमित करते हैं, वहाँ-वहाँ जघन्य रस को भी संक्रमित करते हैं। अर्थात् अन्तरकरण करने के बाद अनिदृति-बादरसंपरायगुणस्थानवर्ती क्षपक नव नोकपाय और संज्वलनचतुष्क का अन्तरकरण करने के बाद उनका अनुक्रम से क्षय करने पर उस-उस प्रकृति की जघन्य स्थिति के संक्रमकाल में जघन्य रस भी संक्रमित करते हैं।^१

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, निद्राद्विक, इन सोलह प्रकृतियों का समयाधिक आवलिका रूप शेष स्थिति में वर्तमान क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है।^२

१ क्षपक सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती समयाधिक आवलिका शेष रहे, उसी समय जघन्य संक्रम के स्वामी हैं। अतः संज्वलन लोभ के जघन्य अनुभागसंक्रम के नवामी वे ही सम्भव हैं।

२ रामार्थ से यह कथन जानें। वयोंकि निद्राद्विक का तो असंख्यभागाधिक आवलिकाद्विक शेष रहने पर क्षीणकषायगुणस्थान में जघन्य अनुभागसंक्रम होता है।

सम्यकत्व और मिश्र मोहनीय का क्षणक जीव अपने-अपने चरम खण्ड के संक्रमकाल में जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है।

चार आयु की जघन्य स्थिति को वांछकर बंधावलिका के जाने के बाद उस-उस आयु की समयाधिक एक आवलिका शेष रहे वहाँ तक जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है।^१ यहाँ जघन्य स्थिति का पहला इसलिये किया है कि आयुकर्म में जघन्य स्थिति बंधे तब रस भी जघन्य बंधता है। तथा—

अगतिस्युद्धवलगाणं संभवओ आवतिए परएणं ।

सेसाणं इगिसुहुमो घाइयअणुभागकम्मंसो ॥५३॥

शब्दार्थ—अगतिस्युद्धवलगाणं—अनन्तानुबंधी, तीर्थकरनाम और उद्वलन योग्य प्रकृतियों के, संभवओ—सम्भव से, आवतिए परएणं—आवलिका के बाद, सेसाण—शेष प्रकृतियों के, इगिसुहुमो—मूदम एकान्तिय, घाइयअणुभागकम्मंसो—जिसने प्रभूत अनुभाग का बात किया है।

गाथार्थ—जघन्य रसबंध के सम्भव से लेकर आवलिका के बाद अनन्तानुबंधी, तीर्थकर और उद्वलनयोग्य प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग को संक्रमित करता है। शेष प्रकृतियों के जघन्य

१ किसी भी कर्म की बंध होने तक उद्वर्तना होती है। अर्थात् उद्वर्तना का ब्रंश के साथ सम्बन्ध है, किन्तु अपवर्तन। वा बंध के साथ सम्बन्ध नहीं है। बंध ही वा न हो पर अपवर्तनायोग्य अद्यवमाय चाहे जह होते हैं। चार आयु दो जघन्य स्थिति बंधने पर उसका रस भी जघन्य बंधता है। यदि उस जघन्य आयु के बंधकान तक में उसके रस की उद्वर्तना न हो तो वैसा ही जघन्य रस सत्ता में रहता है और उसे समयाधिक आवलिका शेष रहे वहाँ तक संक्रमित करता है तथा जहाँ-जहाँ अन्यरवृक्ष करने रूप संक्रम घटित हो सकता है, वहाँ-वहाँ वह संक्रम तथा अन्य स्थान में उद्वर्तना, अपवर्तना जो सम्भव हो वह समझना चाहिये।

रस का संक्रम जिसने सत्ता में से प्रभूत अनुभाग का घात किया है ऐसा सूक्ष्म एकेन्द्रिय करता है।

विशेषार्थ——अनन्तानुबृद्धिचतुष्क, तीर्थकरनाम और उद्वलन-योग्य—नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारक-सप्तक, उच्चगोत्र रूप इबकीस प्रकृतियों का जघन्य रसबंध के संभव से लेकर बंधावलिका के व्यतीन होने के बाद यानि वि उक्त प्रकृतियों का जघन्य रस बांधकर आवलिका—बंधावलिका के ब्रीतने के अनन्तर जघन्य अनुभाग संक्रमित करता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वैक्रियसप्तक, देवद्विक, नरकद्विक का जघन्य अनुभाग असंज्ञी पंचेन्द्रिय संक्रमित करता है। मनुष्याद्विक और उच्चगोत्र का सूटम-निर्गोद्धिया जीव, आहारकसप्तक का अप्रमत्त, तीर्थकरनाम का अविरतसम्यग्वहस्ति, अनन्तानुबृद्धिकषाय का पश्चात् कृतसम्यवत्व—सम्यक्त्व से गिरा हुआ मिथ्याहस्ति जघन्य रस संक्रमित करता है। असंज्ञी आदि उस-उस प्रकृति का जघन्य रस बांधकर बंधावलिका के ब्रीतने के बाद संक्रमित कर सकते हैं।

इन छब्बीस प्रकृतियों का जघन्यानुभागसंक्रम एक समय मात्र होता है, तत्पश्चात् अजघन्य संक्रम प्रारम्भ होता है।

पूर्वोक्त से ज्ञेष रही सत्तानवै प्रकृतियों का जिसने सत्ता में से बहुत से रस का नाश किया है, ऐसा तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय को जितने रस की सत्ता होती है, उससे भी अल्प रस को बांधने वाला और उस भव में या अन्य द्वीन्द्रियादि भव में रहते जब तक अन्य अधिक अनुभाग न बांधे, तब तक जघन्य अनुभाग को संक्रमित करता हुआ सूक्ष्म एकेन्द्रिय तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामी है। क्योंकि अत्यन्त अल्प रस की सत्ता वाला और अत्यन्त अल्प रस बांधता सूक्ष्म एकेन्द्रिय तेजस्कायिक या वायुकायिक उसी भव में

वर्तता हो अथवा अन्य द्वीन्द्रियादि के भव में वर्तता हो, परन्तु जब तक अधिक रस न बांधे तब तक ही जघन्य रस संक्रमित करता है।

इस प्रकार से जघन्य अनुभागसंक्रम-स्वामित्व-प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगम शोध के लिये जिसका प्रारूप पृष्ठ १४६ पर देखिए।

अब क्रम प्राप्त साद्यादि प्ररूपणा का विचार करते हैं।

साद्यादि प्ररूपणा

अनुभागसंक्रम की साद्यादि प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—मूलप्रकृति-विषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक। उसमें से पहले मूलप्रकृतिविषयक साद्यादि प्ररूपणा करते हैं—

साइयबज्जो अजहण्णसंकमो पठमदुइयचरिमाणं ।

मोहस्स चउविगप्तो आउसणुष्कोसओ चउहा ॥५४॥

शब्दार्थ—साइयबज्जो—सादि के बिना, अजहण्णसंकमो—अजघन्य अनुभागसंक्रम, पठमदुइयचरिमाण—पहले, दूसरे और अंतिम कर्म का, मोहस्स—मोहनीयकर्म का, चउविगप्तो—चार प्रकार का, आउसणुष्कोसओ—आयु का अनुलूप्त अनुभाग, चउहा—चार प्रकार का।

गाथार्थ—पहले, दूसरे और अंतिम कर्म का अजघन्य अनुभाग-संक्रम सादि के बिना तीन प्रकार का तथा मोहनीय का चार प्रकार का और आयु का अनुलूप्त अनुभागसंक्रम चार प्रकार का है।

द्विशेषार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन कर्म का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि भंग को छोड़कर अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण यह है—

इन तीनों कर्मों का जघन्य अनुभागसंक्रम क्षीणमोहणस्थान की समयाधिक एक आवलिका स्थिति शेष हो तब होता है, वह एक समय

जघन्य अनुभागसंक्रम-स्वामित्व

| प्रकृतियाँ | रूपामी |
|---|---|
| धाति प्रकृतियाँ | जघन्य स्थितिसंक्रमक अन्तरकरण के बाद |
| नव नोकपाल्य, संज्वलनचतुष्क ज्ञानावरणपञ्चक, अंतरायपञ्चक दर्शनावरणघटक | शोपका, जघन्य स्थितिसंक्रमक नौवे गुणस्थानवर्ती |
| सम्यक्त्व मिथ्य मोहनीय आयुचतुष्टय | क्षीणमोही, समयाधिक आवलिका शेष |
| नरकट्टिक, देवट्टिक, वैक्रियसप्तक मनुष्यट्टिक, उच्चगोत्र | क्षयकाल में अंतिम खंड संक्रमक जघन्य स्थितिबंधक |
| आहारकसप्तक तीर्थकरनाम | जघन्य अनुभागबंधक असंझी पचेन्द्रिय सूक्ष्म निगोदजीव |
| अनन्तानुवंधिकषायचतुष्क | अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यद्विष्ट |
| उक्त से शेष ८७ प्रकृतियाँ | पश्चात् कृतसम्यक्त्व वाले मिथ्या- इष्टि |
| | प्रभूत अनुभाग की सत्ता के नाश करने वाले अग्निकायिक, वायुकायिक, अन्य भव में भी ये दोनों जब तक वृहदनुभाग का बंध नहीं करते हैं |

मात्र होने से सादि-सांत है, उसके सिवाय अन्य सब अजघन्य अनुभाग-संक्रम प्रवर्त्तमान रहता है और वह प्रत्येक अन्य की व्यवहितता से प्रवर्तित होते रहने से अनादि है, अभव्य के भविष्य में किसी भी काल में नाश नहीं होने से ध्रुव-अनन्त है और भव्य वारहवें गुणस्थान के चरम समय में अजघन्य अनुभाग-संक्रम का नाश करेगा, इसलिये उसकी अपेक्षा अध्रुव-सांत है। वारहवें गुणस्थान से पतन नहीं होने से अजघन्य अनुभागसंक्रम की सादि-शुरुआत नहीं होती है।

मोहनीय का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार है। वह इस प्रकार से जानना चाहिये—

क्षपकथ्रेण में वर्तमान जीव के दसवें गुणस्थान की समयाधिक एक आवलिका शेष स्थिति हो तब मोहनीय का जघन्य अनुभागसंक्रम होता है। एक समय मात्र ही होने से वह सादि-सांत है। उसके सिवाय अन्य समस्त अनुभागसंक्रम अजघन्य है, वह उपशमथ्रेण में वर्तमान क्षायिकसम्यक्त्वी के उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है, किन्तु उपशांतमोहगुणस्थान से पतन हो तब होता है, इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होंने अभी तक प्राप्त नहीं किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव-सांत है।

आयु का अनुकृष्ट अनुभागसंक्रम सादि आदि चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में देवायु का उक्खट अनुभाग बांधकर उसकी बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित करने की शुरुआत करता है और उसे उक्खट रस को—अनुत्तर देव के भव में आवलिका न्यून तेतीस सागरोपम पर्यन्त संक्रमित करता है। अर्थात् अनुत्तर देव के भव में रहते उक्खट रस को वहाँ तक संक्रमित करता है यावत् तेतीस सागरोपम प्रभाण स्थिति जाये और मात्र उसकी एक अंतिम आवलिका स्थिति शेष रहे। उसके सिवाय आयु का समस्त अनुभाग-

सद्गम अनुत्कृष्ट है। अनुनर देव में से मनुष्य में आते अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम प्रवर्तमान रहता है, इसलिये सादि है, उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया, उसकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव-सांत है। तथा—

साइयबज्जो वेदणियनामगोथाण होइ अणुककोसो ।

सब्बेसु सेसभेया साई अध्रुवा य अणुभागे ॥६५॥

शब्दार्थ—साइयबज्जो—सादि के बिना, वेदणियनामगोथाण—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का, होइ—होता है, अणुककोसो—अनुत्कृष्ट, सब्बेसु—सभी के, सेसभेया—शेष भेद, साई अध्रुवा—सादि, अध्रुव, य—और, अणुभाग—अनुभागसंक्रम में।

गाथार्थ—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि के बिना तीन प्रकार का है। सभी कर्मों के शेष भेद सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि के सिवाय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के उत्कृष्ट अनुभाग का बंध क्षपक्षेणि में सूक्ष्मसंपर्यगुणस्थान के चरम समय में होता है। वहाँ उत्कृष्ट रस बांधकर उसकी बंधावलिका के बीतने के बाद सयोगिकेवली के चरमसमय पर्यन्त संक्रमित बरता है और अमुक नियत काल पर्यन्त ही उत्कृष्ट रस का सद्गम होने से वह सादि-सांत है। उसके सिवाय अन्य समस्त अनुभागसंक्रम अनुत्कृष्ट है, वह सामान्यतः सभी जीवों को अनादिकाल से होता है, इसलिये अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव-सांत है।

सभी सूलकर्मों के अनुभागसंक्रमसम्बन्धी पूर्वोक्त के सिवाय शेष विकल्प सादि, अध्रुव (सांत) हैं। जैसे कि चार घातिकर्म के उत्कृष्ट,

अनुत्कृष्ट और जघन्य में तीन शेष हैं। उनमें जघन्य सादि-सांत है। जिसका स्पष्टीकरण अजघन्यभेद के विचार में किया जा चुका है। चार धातिकर्म का मिथ्याहृष्टि जब उत्कृष्ट रस बांधे और उसकी बंधावलिका के जाने के बाद जब तक सत्ता रहे, तब तक संक्रमित करता है, उसके बाद अनुत्कृष्ट को संक्रमित करता है। इस प्रकार मिथ्याहृष्टि जीव के एक के बाद एक के क्रम से उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट रस का संक्रम होते रहने से वे दोनों सादि-सांत हैं तथा चार अधातिकर्म के जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट ये तीन विकल्प शेष हैं। उनमें से अनुत्कृष्ट रससंक्रम के प्रसंग में उत्कृष्ट रससंक्रम का विचार किया जा चुका है। जघन्य रससंक्रम मूढ़म अपर्याप्त एकेन्द्रिय के होता है तथा अजघन्य भी उसी के होता है, इसलिये वे दोनों सादि-सांत हैं।

इस प्रकार से अनुभागसंक्रम विषयक मूलकर्मसम्बन्धी साद्यादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तरप्रकृतिसम्बन्धी साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

अनुभागसंक्रमापेक्षा उत्तरप्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा

अजहृष्णो चउभेऽमो यद्यगसंजलणनोकसायाण ।

साइयबज्जो सो चिच्य आण खवगो खविय मोहो ॥६६॥

शब्दार्थ—अजहृष्णो—अजघन्य, चउभेऽमो—चार प्रकार का, यद्यग-संजलणनोकसायाण—प्रथम कषाय, संज्वलन और नव नोकषायों का, साइय-बज्जो—सादि के बिना, सो चिच्य—वही (अजघन्य), आण—जिनका, खवगो—क्षपक, खविय मोहो—मोह का क्षय किया है।

गाथार्थ—प्रथम कषाय (अनन्तानुवंधिकषाय), संज्वलनकषाय और नव नोकषाय का अजघन्य अनुभागसंक्रम चार प्रकार का है तथा जिन प्रकृतियों का क्षपक जिसने मोह का क्षय किया ऐसा—जीव है, उनका अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि के बिना तीन प्रकार वा है।

विशेषार्थ—अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क, संज्वलनकषायचतुष्क तथा नव नोकषाय इन सत्रह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण यह है—अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम उन-उन प्रकृतियों के क्षयकाल में उनकी जघन्य स्थिति का जब संक्रम होता है, तब होता है और अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क का जघन्य अनुभागसंक्रम सम्यक्त्व अवस्था में उन कषायों की उद्वलनासंक्रम द्वारा सर्वथा उद्वलना हो जाये, उसके बाद गिरकर मिथ्यात्व में आने पर और वहाँ मिथ्यात्व रूप हेतु के द्वारा पुनः बंध हो तो बंधावलिका के बीतने के पश्चात् दूसरी आवलिका के प्रथम समय में वोता है।

प्रश्न—संज्वलनचतुष्क आदि प्रकृतियों का जघन्य रससंक्रम उनके जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में कहा और अनन्तानुबंधि का उस कषाय के सर्वथा उद्वलित हो जाने के बाद मिथ्यात्व में आकर पुनः बांधे और उसकी बंधावलिका के जाने के बाद दूसरी आवलिका के प्रथम समय में कहा है, तो इसका कारण क्या है? जघन्य स्थितिसंक्रमकाल में उसका जघन्य रससंक्रम क्यों नहीं वताया है?

उत्तर—अनन्तानुबंधि की जघन्यस्थिति का संक्रम अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करने पर उसका चरम खंड सर्वथा संक्रमित करे तब होता है। उस समय चरम खंड में कालभेद से अनेक समय के बंधे हुए दलिक होते हैं। अनेक समय के बंधे हुए दलिक होने के कारण उसमें शुद्ध एक ही समय के बंधे हुए दलिकों के रस से अधिक रस होना स्वाभाविक है। इसीलिये ऊपर के गुणस्थान में अनन्तानुबंधि का नाश करके गिरने पर पहले गुणस्थान में आये तब वहाँ तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम की शक्यतानुरूप अल्प स्थिति और रस वाले दलिक बांधे, बंधावलिका के बीतने के अनन्तर दूसरी आवलिका के प्रथम समय में वह शुद्ध एक समय के बंधे हुए जघन्य रस युक्त दलिक को संक्रमित

करता है, उसे जघन्य रससंक्रम कहा है। अनन्तानुबंधि के सिवाय दूसरी कोई भी मोहप्रकृति सत्ता में से सर्वथा नष्ट होने के बाद पुनः बन्धकर सत्ता प्राप्त नहीं करती, किन्तु अनन्तानुबंधिकपाय ही ऐसी है कि सत्ता में से गर्वथा नाश होने के बाद मिथ्यात्व रूप दीज नष्ट न हुआ हो तो पुनः सत्ता में आ सकती है। इसीलिये उसके जघन्य रस-संक्रम का काल और रंज्वलनादि के जघन्य रससंक्रम का काल पृथक्-पृथक् बताया है।^१

इसके अतिरिक्त इन सबह प्रकृतियों का समस्त अनुभागसंक्रम अजघन्य है। उपशमधेणि में सर्वथा उपज्ञान इन सबह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम नहीं होता है। किन्तु वहाँ से भिरने पर होता है, इसलिये वह सादि है। जिसने उस स्थान वाँ प्राप्त नहीं किया, उसकी अपेक्षा अनादि, भव्य की अपेक्षा अध्रुव और अभव्य की अपेक्षा ध्रुव है।

ज्ञानावरणपञ्चक, स्वानद्वितिक रहित दर्शनावरणपटक और अन्तरायपञ्चक रूप मोलह प्रकृतियों का धागक क्षीणमोहगुणस्थानवतीं जीव है। इह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम सादि के भिवाय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। वह इस तरह जानना चाहिये—इन मोलह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम क्षीण-कषायगुणस्थान की समयाधिक एक आवलिका स्थिति शेष रहे, तब होता है। एक समय प्रमाण होने से वह सादि-संत है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुभागसंक्रम अजघन्य है। उसकी आदि नहीं है, अतः अनादि है। भव्य के अध्रुव और अभव्य के ध्रुव है। तथा—

१. इसी प्रकार प्रायः जिन प्रकृतियों का नाश होने के पश्चात् पुनः बंध हो सकता हो, उनका जघन्य अनुभागसंक्रम अनन्तानुबंधि के समान रहना चाहिये।

सुभधुवचउबीसाए होइ अणुक्कोस साहपरिषज्जो ।
उज्जोयरिसभओरालियाण चउहा तुहा सेसा ॥६७॥

शब्दार्थ—सुभधुवचउबीसाए—धुवबंधिनी शुभ चौबीस प्रकृतियों का, होइ—होता है, अणुक्कोस—अनुत्कृष्ट, साहपरिषज्जो—सादि के बिना, उज्जोयरिसभओरालियाण—उद्योत, वज्रक्रषभनाराचसंहनम् और औदारिक-सप्तक का, चउहा—चार प्रकार का, तुहा—दो प्रकार के, सेसा—शेष ।

गाथार्थ—धुवबंधिनी शुभ चौबीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनु-भागसंक्रम सादि के बिना तीन प्रकार का है तथा उद्योत, वज्र-क्रषभनाराचसंहनन और औदारिकसप्तक का अनुत्कृष्ट रससंक्रम चार प्रकार का है और शेष विकल्प दो प्रकार के हैं ।

विशेषार्थ—प्रायः जिन प्रकृतियों का सम्यग्गृष्टि जीवों के धुव बंध होता है ऐसी शुभ धुव—ऋसदणक, सातावेदनीय, पंचेन्द्रियजाति, अगुरुलघु, उच्छ्वास, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, समचतुरस्ससंस्थान, पराधात, तैजस, कार्मण, शुभवर्णचतुष्क—चौबीस प्रकृतियों का अनु-त्कृष्ट अनुभागसंक्रम सादि को छोड़कर अनादि, धुव और अधुव इस तरह तीन प्रकार का है । यदि तैजस और कार्मण के ग्रहण से उसका सप्तक और शुभवर्णादि चतुष्क के स्थान पर शुभवर्णादि एकादश को लिया जाये तो चौबीस में बारह को मिलाने पर छत्तीस प्रकृतियाँ होती हैं ।^१ अतः विस्तार से इन छत्तीस प्रकृतियों के अनुत्कृष्ट अनु-भागसंक्रम के भंगों का विचार किया जाये तो वह अनादि, धुव और अधुव इस तरह तीन प्रकार का जानना चाहिये ।

अब इन तीन भंगों को वर्णित करते हैं—इन चौबीस प्रकृतियों

१. कर्मप्रकृति में 'तिविहो छत्तीसाए अणुक्कोसो' इस पद से छत्तीस प्रकृतियाँ ग्रहण की हैं । अतएव विवरणशालू बंधन, संधातन और वर्णादि के भेद ग्रहण करें तो भी कोई विरोध नहीं है ।

का उत्कृष्ट अनुभाग क्षपकशेणि में वर्तमान क्षपक अपने-अपने वंघ-विच्छेद के समय बांधता है। उस उत्कृष्ट रस को बांधने के अनन्तर बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रमित करना प्रारम्भ करता है और उसको वहाँ तक संक्रमित करता है, यावत् सयोगिकेवली का चरम समय प्राप्त हो। क्षपक वादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय, क्षीणमोह और सयोगिकेवली के सिवाय शेष सबको इन प्रकृतियों का अनुरुक्ष्ट अनुभाग संक्रम होता है। उसकी आदि नहीं है, अनादि काल से हो रहा है, इसलिये अनादि है। अभ्यन्तर की अपेक्षा ध्रुव-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अत्युवन्मात है।

उद्योत, वज्रकृष्णभनाराचसंहन्तन और औदारिकसप्तक का अनुरुक्ष्ट अनुभाग संक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। वह इस प्रकार— उद्योत के सिवाय शेष उक्त आठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग अत्यन्त विशुद्ध परिणामी सम्यग्विष्ट देव बांधता है और बांधकर आवलिका के व्यतीत होने के अनन्तर संक्रमित करता है तथा उद्योतनाम का सम्यक्त्व को प्राप्त करता हुआ अनिवृत्तिकरण के चरम समय में वर्तमान मिथ्याट्पिटि सातवीं नरक पृथ्वी का जीव उत्कृष्ट अनुभाग बांधता है और उसे बंधावलिका के बीतने के बाद तंक्रमित करता है। वह नौ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग को जबन्त्र अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त संक्रमित करता है। यद्यपि सातवीं नरक पृथ्वी में सम्यक्त्व में वर्तमान जीव अंतिम अन्तर्मुहूर्त में तो अवश्य मिथ्यात्व में जाता है, तो भी आगे के तिर्थन्त्रभव में जो जीव अपयाप्तावस्था के अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, उसको यहाँ ग्रहण नहीं किया है। यहाँ बीच में थोड़ा-सा मिथ्यात्व का काल होने पर भी उसकी विवक्षा नहीं की है। इसलिये दो छियासठ सागरोपम उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का काल कहा है। उत्कृष्ट से गिरने पर अनुरुक्ष्ट अनुभाग का संक्रम होता है। वह जब होता है, तब सादि, जिसने उस स्थान को प्राप्त नहीं किया उसकी अपेक्षा अनादि, अभ्यन्तर के ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है।

उत्तर प्रकृतियों के शेष विकल्प सादि, अध्रुव (सांत) इस तरह दो प्रकार के हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—अनन्तानुभवधिचतुष्क आदि सत्रह और ज्ञानादरणादि सौख्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-संक्रम अतिसंक्षिलण्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि के होता है। उत्कृष्ट अनुभाग का बधक संविशष्ट मिथ्यात्मी है और बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित करता है। अन्तमुहूर्त के बाद अनुत्कृष्ट होता है तथा जब उत्कृष्ट रस ग्राहि, तब उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम, तत्पश्चात् अनुत्कृष्ट रससंक्रम होता है। इस प्रकार अदल-बदल के क्रम से होने के कारण वे दोनों सादि-मांत हैं। जघन्य के सादि, अध्रुव (सांत) होने के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है तथा शुभ ध्रुव औरीस प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग संक्रम जिसने बहुत से रस की सत्ता का नाश किया है, ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय के होता है। जब तक उस प्रकार के बहुत से रस की सत्ता का नाश न किया हो, तब तक उसे भी अजघन्य रससंक्रम होता है, इसलिये वे दोनों भी सादि-अध्रुव (सांत) हैं। उत्कृष्ट विषयक विचार तो अनुत्कृष्ट के भंग कहने के प्रसंग में किया जा चुका है।

शेष प्रकृतियों में से शुभ प्रकृतियों का विशुद्ध परिणाम में और अशुभ प्रकृतियों का संकलेश परिणाम से उत्कृष्ट अनुभाग बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति को होता है और शेष काल में अनुत्कृष्ट रसबंध होता है। जैसे बंध होता है, उसी प्रकार संक्रम भी होता है, इसलिये वे दोनों सादि-सांत हैं तथा जघन्य अनुभाग संक्रम जिसने बहुत से रस की सत्ता का नाश किया हो ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के होता है। जब तक उस प्रकार के बहुत से रस की सत्ता का नाश न हुआ हो, तब तक अजघन्य रससंक्रम उस सूक्ष्म एकेन्द्रिय के अथवा अजघन्य रस की सत्ता वाले अन्य जीवों के भी होता है, इसलिये वे दोनों सादि-सांत हैं।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियों के जघन्यादि विकल्पों की सादि-आदि भंगों की प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगम बोध के लिये मूल और उत्तर प्रकृतियों के अनुभाग संक्रम की साद्यादि प्ररूपणा का प्रारूप इस प्रकार है—

उत्तरप्रकृतियों सम्बन्धी अनुभागसंक्षेप की सादादि प्रवृत्तया

| प्रकृतियां | अज्ञान्य | | | | ज्ञान्य | | | | अनुकृष्ट | | | | उत्कृष्ट | |
|---|---------------------------|------------------------|---------------------------|---|--------------------------------|---------------------------------------|---------------------------------------|-----------------------------|---|---|---|---|----------|--------|
| | सादि | अध्रुव | अनादि | ध्रुव | सावि | अध्रुव | सादि | अध्रुव | अनादि | ध्रुव | सादि | अध्रुव | सादि | अध्रुव |
| तेव नोकपाय संज्व. चतुष्क | उपजम श्रेणि से पतित | भव्य अप्राप्त के | सादि अभ्य- व्य | स्व-स्व क्षयकाल में | सावि होने से | उल्कृष्ट अनु- संक्रम से पतित | सादि होने | × | × | उल्कृष्ट संक्षिप्त होने मिथ्या- त्वी | सादि | अध्रुव | | |
| अनन्तानुबंधि- चतुष्क | " | " | " | " | पुनर्बंधित तीयआव केप्रथम | " | " | " | × | × | " | " | " | " |
| जाना ५, दर्शना- ६, अंतराय ५ | × | " | आदि का अभाव होने से | " | समय १२वें शूण समयाधि | " | " | " | × | × | " | " | " | " |
| माना, पचि, तीजम अहृत समन्व. शुभ प्रभूत वर्णादि ११, अगुरु, अनु- उच्छ्रवास संता वाले | सादि होने में | × | × | हतप्रभूत अनुभाग सत्ताक सूक्ष्म एके- | " | भव्य क्षणक मयोगि- वर्जी शेष | भव्य क्षणक मयोगि- वर्जी शेष | भव्य मयोगि- वर्जी शेष | स्व-स्वधा- पक काल सेसयोगि शूणस्थान पर्यन्त वर्णमान | स्व-स्वधा- पक काल सेसयोगि शूणस्थान पर्यन्त वर्णमान | " | " | " | |
| पराघात, शुभ विहायो, व्रसदग्नक, निर्मण | " | " | × | × | " | " | उल्कृष्ट अनु- संक्रम से पतित | " | सादि अप्राप्त के | अति विशुद्ध सम्यदेव | " | " | " | |
| वज्रऋ, औदारिक सप्तक | " | " | × | × | " | " | उल्कृष्ट अनु- संक्रम से पतित | " | सादि | अप्राप्त के | अति विशुद्ध सम्यदेव | " | " | |
| उद्योत | " | " | × | × | " | " | " | " | " | " | सम्यक्त्वा अभि- मुख सप्तम. नारक | सम्यक्त्वा अभि- मुख सप्तम. नारक | " | |
| वैक्रिय ७, देवद्विक उच्चमोत्र, आतप तीर्थ, आहा, ७ मनुष्यद्विक, शुभायु- क्तिक उत्तर से शेष स्थानद्विक्तिक आदि ५६ अशुभ प्रकृति | " | " | × | × | " | " | " | " | × | × | विशुद्ध पर्या. संज्ञी पंचे. | विशुद्ध पर्या. संज्ञी पंचे. | " | " |
| १५ | १० | १० | × | × | " | " | " | " | × | × | संविलष्ट पर्या. संज्ञी पंचेन्द्रिय | संविलष्ट पर्या. संज्ञी पंचेन्द्रिय | " | " |

| प्रकृतियां | मूलप्रकृति सम्बन्धी अनुभागसंक्रम को साधादि प्रलेपणा | | | अनुच्छेद | | | उच्छृष्ट |
|------------------------------|---|-----------------------|------------------|---|--|-----------------------------------|--|
| | सादि | अधूत | अधूत अनादि द्वाद | जपत्य | सादि अधूत | अनुच्छेद | |
| शानादृण, दर्शना-वरण, अन्तराच | X | प्रथम अद्विष्ठीण मोही | अप-छ्य | १२ व गुण में होने से समयाधिक आवश्यक गोप्य | सादि उच्छृष्ट होने से वाले के प्रथम समय में आवश्यक गोप्य | सादि उच्छृष्ट होने से काल होने से | सादि होने से |
| मोहनीय | | | | ११ वेगण से परित धार्यिक समय- | १० वेगुण समयाधिक आवश्यक गोप्य | ११ वेग्य से लग्न वादकों के | ११ वेग्य सादि अप्राप्त के |
| आयु | | | | अहृत प्रभृत अनुभाग वाले के वाले से | सादि हत प्रभृत अनुभाग वाले के वाले से | उच्छृष्ट भव्य सादि अप्राप्त के | उच्छृष्ट भव्य सत्ताका अनुभ्य अनुत्तर अनुभाग देवों के |
| ताम, गोप, वैदनीय | | | | | | | ११ अदि का अभाव होने से १२, १३ व गुण- |

इस प्रकार अनुभागसंक्रम का विचार समाप्त हुआ ।

प्रदेशसंक्रम

अब क्रमप्राप्त प्रदेशसंक्रम का प्रतिपादन करते हैं। इसके विचार करने के पांच अधिकार हैं—१. भेद, २. लक्षण, ३. साथादि प्ररूपण, ४. उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामी और ५. जन्य प्रदेशसंक्रमस्वामी। इन पांच अधिकारों में से पहले भेद और लक्षण इन दो अधिकारों का विविधात्त कही गयी है।

प्रदेशसंक्रम के भेद एवं लक्षण

विज्ञा-उद्बलण-अहापवत्त-गुण-सञ्चासंकमेहि अण् ।

जं नैह अण्णपगङ्गं पएससंकामणं एयं ॥६८॥

शब्दार्थ—विज्ञा-उद्बलण-अहापवत्त-गुण-सञ्चासंकमेहि—विध्यात, उद्बलन, यथाप्रवृत्त, गुण और सर्व संक्रम द्वारा, अण्—परमाणुओं को, ज—जो, नैह—ले जाया जाता है, अण्णपगङ्गं—अन्यप्रकृतिरूप, पएससंकामण—प्रदेशसंक्रमण, एयं—वह।

गाथार्थ—विध्यात-उद्बलन-यथाप्रवृत्त-गुण और सर्व संक्रम द्वारा कर्मपरमाणुओं को जो अन्यप्रकृति रूप ले जाया जाता है, वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ—विध्यातसंक्रम, उद्बलनासंक्रम, यथाप्रवृत्तसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम के भेद से प्रदेशसंक्रम पांच प्रकार का है।

इन पांच संक्रम प्रकारों द्वारा जिनकी बंधावलिका व्यतीत हो चुकी है, ऐसे सत्तागत कर्मपरमाणुओं—वर्गणाओं को पतदग्नहप्रकृति में प्रक्षेप करके उस रूप करना प्रदेशसंक्रम कहलाता है। इन पांचों मंक्रम द्वारा जीव अन्य स्वरूप में रहे हुए सत्तागत कर्मपरमाणुओं को पतदग्नहप्रकृति रूप करता है। जैसे कि सत्तावेदनीय के परमाणुओं को

बंधती हुई असाता रूप में अथवा असाता के परमाणुओं को बंधती हुई साता रूप करे तो वह सब प्रदेशसंक्रम कहलाता है। अर्थात् विद्यातादि संक्रमों द्वारा कर्मपरमाणुओं को जो अन्यप्रकृति रूप किया जाता है, उसे प्रदेशसंक्रम कहते हैं।

इस प्रकार सामान्य से प्रदेशसंक्रम का लक्षण और उसके भेद जानना चाहिये। अब पूर्वोक्त पांचों भेदों में से क्रमानुसार पहले विद्यातसंक्रम का स्वरूप बतलाते हैं।

विद्यातसंक्रम

जाण न बंधो जायह आसज्ज गुणं भवं व पर्गीर्णं ।

विज्ञाओ ताणंगुलभसंखभागेण आणस्य ॥५६॥

शब्दार्थ— जाण न बंधो जायह—जिनका बंध नहीं होता हो, आसज्ज गुणं भवं व—गुण अथवा भव के आश्रय से, पर्गीर्ण—प्रकृतियों का, विज्ञाओ विद्यातसंक्रम, ताणंगुलभसंखभागेण—उनको अंगुल के असंख्यातवे भाग के द्वारा, अणस्य—अन्यथा (परप्रकृतिरूप)।

गाथार्थ—जिन कर्मप्रकृतियों का गुण अथवा भव के आश्रय से बंध न होता हो, उन प्रकृतियों का विद्यातसंक्रम होता है। प्रथम समय में विद्यातसंक्रम द्वारा जितना दलिक परप्रकृति में संक्रमित किया जाता है, उस प्रमाण से शेष दलिकों को भी संक्रमित किया जाये तो उनको अंगुल के असंख्यातवे भाग में विद्यमान आकाश प्रदेश जितने समयों द्वारा संक्रान्त किया जाता है।

विशेषार्थ—संक्रम का सामान्य लक्षण तो प्रकरण के प्रारंभ में कहा जा चुका है और प्रदेशसंक्रम द्वारा सत्तागत कर्मपरमाणुओं को अन्य स्वरूप किया जाता है। वे कर्मपरमाणु अन्य स्वरूप कैसे होते हैं, यह प्रदेशसंक्रम के पांचों भेदों का स्वरूप जानने से समझा जा सकेगा।

अतएव प्रथम विद्यातसंक्रम का स्वरूप और वह किन प्रकृतियों का होता है, इसको बतलाते हैं—

विद्यात—विशिष्ट सम्बन्धकर्त्ता आदि गुण अथवा देवादि भव के आश्रय से जिन कर्मप्रकृतियों का बंध शांत हुआ है—नाट हुआ है, बंध नहीं होता है, वैसी प्रकृतियों का जो संक्रम होता है, उसे विद्यात-संक्रम कहते हैं।

यह विद्यातसंक्रम किन प्रकृतियों का होता है, इसको स्पष्ट करने के लिये भव या गुण के आश्रय से जिन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है, उन प्रकृतियों को बतलाते हैं कि मिथ्यात्वगुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, जिससे उन सोलह प्रकृतियों का सासादन आदि गुणस्थानों में गुणनिमित्तक बंध नहीं होता है। इसी प्रकार से सासादनगुणस्थान में पञ्चीस प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, उनका मिथ आदि गुणस्थानों में बंध नहीं होता है। अविरल-सम्यग्विजिगुणस्थान में दस प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, उनका देशविरत आदि गुणस्थानों में, देशविरतगुणस्थान में चार का बंधविच्छेद होता है, उनका प्रमत्त आदि गुणस्थानों में, प्रमत्तगुणस्थान में छह प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है, उनका अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में बंध नहीं होता है। जिस-जिस गुणस्थान से बंध नहीं होता है, उन-उन प्रकृतियों का वहाँ से विद्यातसंक्रम प्रबतित होता है।

वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, देवद्विक, नरकद्विक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अग्रापित और आतप इन सत्ताईस प्रकृतियों को नारक और सनक्तुमार आदि स्वर्ग के देव भवन-निमित्त से बांधते नहीं हैं। तिर्यंचद्विक और उद्योत के साथ पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतियों को आनत आदि के देव बांधते नहीं हैं। संहनन-षट्क, प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष संस्थान, नपुंसकवेद, मनुष्य-द्विक, औदारिकसप्तक, एकान्त तिर्यंचगतिप्रायोग्य स्थावरदशाक, दुर्भेग-

गत्रिक, नीचगोत्र और अप्रशस्त विद्यायोगति, इन प्रकृतियों को भव-स्वभाव से युगलिक बांधते नहीं हैं।

इस प्रकार जो-जो प्रकृतियाँ जिस-जिस गति में भवनिमित्त में बंधती नहीं, उन-उनका वहाँ-वहाँ विद्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस-जिस कर्म का जिस-जिसको अथवा जहाँ-जहाँ गुणनिमित्त अथवा भवनिमित्त से बंध नहीं होता है, वह-वह कर्म, उस-उस को अथवा वहाँ-वहाँ विद्यातसंक्रमयोग्य है। अर्थात् उन-उन कर्मप्रकृतियों का वहाँ-वहाँ विद्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है, ऐसा समझना चाहिये।

अब दलिक के प्रमाण का निरूपण करते हैं—

विद्यातसंक्रम द्वारा पहले समय में जितना कर्मदलिक परप्रकृति में प्रखेप किया जाता है, उतने प्रमाण से शेष दलिक को भी परप्रकृति में प्रखेप किया जाये तो अंगुलमात्र क्षेत्र के असंख्यानवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने समयों द्वारा पूर्ण रूप से संक्रमित किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम समय में जितना कर्म-दलिक विद्यातसंक्रम द्वारा अन्यप्रकृति में संक्रमित किया जाता है, उस प्रमाण से यदि उस प्रकृति के अन्य दलिक को संक्रमित किया जाये तो उसको पूर्ण रूप से संक्रमित करने में उपर्युक्त आकाशप्रदेशों की संख्या प्रमाण समयों जितना (असंख्यात उत्तरपिणी-अवसर्पिणी प्रमाण) काल व्यतीत होगा।

इस संक्रम द्वारा किसी भी कर्मप्रकृति के सभी दलिक सत्ता में से निशेष नहीं होते हैं। यहाँ तो असत्कल्पना से इस क्रम से यदि संक्रमित हों तो कितना काल व्यतीत होगा, इसका नकेतमात्र किया है।

यह विद्यातसंक्रम प्रायः यथाप्रवृत्तसंक्रम के अन्त में प्रवर्तित होता है। ऐसा कहने का कारण यह है कि यथाप्रवृत्तसंक्रम सामान्य

पितृयात्मकम्-प्रारूप

| प्रकृतिया | स्वाभित्व | प्रत्यय |
|--|----------------------------------|---------------|
| मिथ्यात्म, नरकायुवंजित मिथ्यात्मगुण, में अंत होने वाली (१४) | सासादनादिक गुणस्थान | गुणप्रत्यय से |
| तिर्यचायुवंतिजसासादन में अंत होने वाली (२४) | मिश्रादिक | " |
| मिथ्यात्म, मिश्रमो मनुष्यायुरहित चतुर्थ गुण, में अंत होने वाली (८) | अविरतादिक देशविरतादिका | " |
| पंचम गुणस्थान में अंत होने वाली (४) | प्रमत्तसंयतादिक | " |
| प्रमत्तसंयतगुण, में अंत होने वाली (६) | अप्रमत्तादिक | " |
| बैक्रिय ७, देवद्विक, नरक- द्विक, एक, जाति ४ स्थावर, सूक्ष्म, साधा- अपर्याप्ति, आतप (२०) | सभी नारक, सनत्कुमारा- दिक देव | भवप्रत्यय से |
| नरकद्विक, देवद्विक, बैक्रिय ७, विकलत्रिक, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधा- (१७) | ईशान पर्यन्त के देव | " |
| तिर्यचद्विक, उद्योत, पूर्वो- क्ति (२०) | आनतादिक के देव | " |
| संह. ६, कुसस्थान ५, नपुः मनु, द्विक, औदा. ७. | युगलिक तिर्यच, मनुष्य | " |
| तिर्यचप्रायोग्य १०, अप. नरकद्विक, दुर्भगत्रिक, नीचगोत्र, अशुभ विहा- योगति (२८) | | |

है, बंधयोग्य सभी प्रकृतियों का वह होता है और विद्यातसंक्रम नो गुण अथवा भव निमित्त से जो-जो प्रकृतया बंध में से विच्छिन्न हुई, उन-उनका होता है। जिससे साधरणतया पहले यथाप्रवृत्तसंक्रम प्रवर्तित होता है और बंध में से विच्छिन्न होने के बाद विद्यातसंक्रम को प्रवृत्ति होती है। इसीलिये यह कहा है कि यथाप्रवृत्तसंक्रम के अन्त में विद्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है तथा प्रायः कहने का कारण यह है कि अन्य संक्रमों के प्रवर्तित होने के बाद भी यदि विद्यातसंक्रम प्रवर्तित हो तो इसमें कोई बावा नहीं है। जैसे कि उपशमश्रेणि में गुणसंक्रम प्रवर्तित होने के अनन्तर मरण प्राप्त करके अनुत्तरविमान में जाये तो गुणनिमित्त से नहीं बंधने वाली प्रकृतियों का विद्यातसंक्रम होता है और उपशमसम्यक्त्व प्राप्ति के अंतरकरण में मिथ्यात्व और मिथ्य मोहनीय के गुणसंक्रम के अंत में विद्यातसंक्रम होता है। उक्त समय कथन का दर्शक प्रारूप पृष्ठ १६२ पर देखिये।

इस प्रकार से विद्यातसंक्रम का स्वरूप जानना चाहिये। अब उद्वलनासंक्रम का स्वरूप निर्देश करते हैं।

उद्वलनासंक्रम

पलियस्ससंख्याग्नं अंतमुहुत्तेण तीए उद्वलइ ।

एवं पलियसंख्यभागेण कुणइ निल्लेवं ॥७०॥

शब्दार्थ—पलियस्ससंख्याग्न—पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण खंड को, अंतमुहुत्तेण—अन्तमुहूर्त काल में, तीए—उसको, उद्वलइ—उद्वलना करता है, एवं—इसी प्रकार, पलियासंख्यभागेण—पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण काल द्वारा, कुणइ—करता है, निल्लेवं—निर्लेप।

गाथार्थ—(सत्तागत स्थिति के बग्गभाग से) पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण खंड को अन्तमुहूर्त काल में उद्वलित करता है। इसी प्रकार से उद्वलना करते हुए, पल्योपम के असंख्यातवे भाग मात्र काल में उसको सर्वथा निर्लेप करता है।

विशेषार्थ— कर्मों को सत्ता में से निर्मूल करने में जो उपयोगी साधन हैं, उनमें उद्वलनासंक्रम भी एक प्रबल साधन है। उद्वलना का अर्थ है उखाड़ना, सत्ता में से निर्मूल-निःशेष करना अर्थात् जिस संक्रम द्वारा सत्तागत स्थिति के अग्रभाग में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने खंड को लेकर अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करना, फिर दूसरा खंड लेकर उसे अन्तर्मुहूर्त काल में नष्ट करना, इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंड को लेते हुए और उसे अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करते हुए सत्तागत संपूर्ण स्थिति को अन्तर्मुहूर्त काल में या पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में नाश करना।

पहले गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय आदि को निर्मूल करते पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण काल जाता है और ऊपर के गुणस्थान में अनन्तानुबंधि आदि कर्मप्रकृतियों को निर्मूल करते अन्तर्मुहूर्त काल जाता है।

इसी बात को तथा किन-किन प्रकृतियों में उद्वलनासंक्रम प्रवृत्ति होता है, अब क्रमपूर्वक स्पष्ट करते हैं—

पहले उद्वलनयोग्य कर्मप्रकृतियों के पल्योपम के असंख्यातवें भगा मात्र स्थितिखंड को अन्तर्मुहूर्त काल में उद्वलित करता है, उसके बाद पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण दूसरे स्थितिखंड को उद्वलित करता है, उसके बाद तीसरे स्थितिखंड को उद्वलित करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंड को उद्वलित-खंडित-नाश करता हुआ उद्वेलित उस कर्म को पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में निर्लेप करता है, यानि कि संपूर्ण रूप से निर्मूल करता है, सत्ता रहित करता है। लेकिन यहाँ यह ध्यान रखना नाहिये कि किसी भी कर्म को निर्मूल करना हो तब स्थिति के अग्र-ऊपर के भाग से निर्मूल करता आता है, परन्तु बीच में से अथवा उदय समय से निर्मूल नहीं करता है।

अब पल्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थितिखंड के विषय में जो विशेष है, उसको कहते हैं—

यदमाओ बीअखंड विसेसहीण छिह्ने अबणेह ।

एवं जाव दुचरिम असंख्यगुणियं तु अंतिमयं ॥७१॥

शब्दार्थ——यदमाओ—प्रथम स्थितिखंड से, बीअखंड—दूसरा खंड, विसेसहीण—विशेषहीन, छिह्ने—स्थिति से, अबणेह—दूर करता है, एवं—इसी प्रकार, जाव—पर्यन्त, तक, दुचरिम—द्विचरमखंड, असंख्यगुणियं—असंख्यानगुण, तु—और, अंतिमयं—अन्तिम ।

गाथार्थ——स्थिति के प्रथम स्थितिखंड से स्थिति का दूसरा खंड विशेषहीन स्थिति से (अन्तर्मुहूर्त से) दूर करता है। इस प्रकार द्विचरमखंड तक जानना चाहिये। अंतिम खंड असंख्यानगुण वर्णा जानना चाहिये।

विशेषार्थ——उद्वलनासंक्रम द्वारा पल्योपम के असंख्यात्में असंख्यात्में भाग प्रमाण जो स्थिति के खंड दूर किये जाते हैं—नष्ट किये जाते हैं, उनमें पहले स्थितिखंड से दूसरा स्थिति का खंड विशेषहीन दूर किया जाता है, तीसरा उससे भी हीन दूर किया जाता है, इस प्रकार पूर्व-पूर्व से हीन-हीन स्थिति के खंडों को द्विचरम स्थितिखंड पर्यन्त दूर किया जाता है। इसका नात्पर्य यह है कि पल्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थितिस्थानों में रहे हुए दलिकों को एक साथ दूर करने का प्रयत्न किया जाये तो उतने समस्त स्थानों में से पहले समय में अमुक प्रमाण में दलिक लेकर दूर किया जाता है, दूसरे समय में समस्त में से दलिक लेकर दूर किया जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल में पल्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण खंड को एक साथ दूर किया जाता है।

जैसे कि पल्योपम के असंख्यात्में भाग के असत्कल्पना से सौ स्थान मान लिये जायें तो पहले समय में उन सौ में से दलिक लेकर दूर किये

जाते हैं, दूसरे समय में भी सौ में से दलिक दूर किये जाते हैं, इसी प्रकार से अन्तर्मूहूर्त के अंतिम समय में भी उन्हीं सौ में से दलिक लेकर उस खंड को विशेष किया जाता है। नत्पञ्चात् दूसरा खंड लो, उसे भी पूर्वोक्त क्रम से दूर किया जाता है, फिर तीसरा खंड लो, उसे भी इसी क्रम से निलेष किया जाता है। विशेष यह है कि पल्योपम के असंख्यात्मेभाग प्रमाण खंड लेने का जो कहा है, वह उत्तरोत्तर हीन समझना चाहिये। पहला खंड बड़ा, दूसरा उससे छोटा, तीसरा उससे भी छोटा, इस तरह द्विचरमखंड पर्यन्त समझना चाहिये। उत्तरोत्तर छोटे-छोटे खंड लेने के संकेत का कारण यह है कि असंख्यात् के बसंख्यात् भेद होने से यह सम्भव है।

इस प्रकार यहाँ स्थिति के खंडों में तारतम्य होने से उनका अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा इस तरह दो प्रकार से विचार करते हैं। दोनों में अनंतरोपनिधा द्वारा तो द्विचरमखंडपर्यन्त पूर्व-पूर्व खंड से उत्तरोत्तर खंड हीन-हीन है। जिसका पूर्व में संकेत भी किया जा चुका है।

अब परंपरोपनिधा द्वारा विचार करते हैं —पहले स्थितिखंड की अपेक्षा कितने ही स्थिति के खंड स्थिति की अपेक्षा असंख्यातभाग-हीन होते हैं, कितने ही संख्यातभागहीन, कितने ही संख्यातगुणहीन तो कितने ही असंख्यातगुणहीन होते हैं।

जब प्रदेशपरिमाण की अपेक्षा विचार करते हैं तब स्थिति के पहले खंड में कुल मिलाकर जो दलिक होते हैं, उससे स्थिति के दूसरे खंड में विशेषाधिक होते हैं, उससे तीसरे खंड में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व खंड से उत्तरोत्तर खंड में विशेषाधिक-विशेषाधिक दलिक द्विचरमखंडपर्यन्त होते हैं। यह दलिकों की अपेक्षा अनन्तरोपनिधा द्वारा विचार किया गया।

अब यदि परंपरोपनिधा द्वारा दलिकों की अपेक्षा से विचार किया जाये तो वह इस प्रकार है—पहले स्थितिखंड से दलिक की अपेक्षा

कोई स्थितिखंड असंख्यातभाग अधिक होता है, कोई संख्यातभाग अधिक, कोई संख्यातगुण अधिक तो कोई असंख्यातगुण अधिक होता है।

अब अनुकूल अन्तिम खंड का विचार करते हैं—द्विचरम स्थितिखंड से चरम स्थितिखंड स्थिति की अपेक्षा असंख्यातगुण है, यानि कि जितना बड़ा पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण द्विचरम स्थितिखंड है, उससे असंख्यातगुण बड़ा पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण चरम स्थितिखंड है तथा गत 'तु' शब्द अधिक अर्थ का मूचक होने से चरम स्थितिखंड पहले स्थितिखंड की अपेक्षा दलिकों की हप्टि से असंख्यातगुण बड़ा है और स्थिति की अपेक्षा असंख्यातवां भाग-मात्र है।

इस प्रकार उद्वलनासंक्रम द्वारा दूर करने के लिये जो खंड हैं वे कितने प्रमाण वाले हैं? इसका विचार किया, अब द्विचरमखंड तक के खंडों में के दलिकों को कहाँ निश्चिप्त किया जाता है, इसको बतलाते हैं—इतनी स्थिति कम ही, अमुक स्थितिखंड दूर किया यह कब कहलाता है जबकि जितनी-जितनी स्थिति दूर होना हो, उतने-उतने स्थानों में के दलिकों को दूर करके उतनी भूमिका साफ की जाये, दलबिना की कीजाये। यहाँ उद्वलनासंक्रम द्वारा पल्योपम के असंख्यादलबिना की कीजाये। यहाँ उद्वलनासंक्रम द्वारा पल्योपम के असंख्यातवां भाग प्रमाण खंड लेकर उतने स्थानों में के दलिक दूर करके भूमिका साफ करना है, यानि कि उन दलिकों को कहाँ निश्चिप्त किया जाता है, यह बताना चाहिये, इसलिये अब उसको स्पष्ट करते हैं—

खंडदलं सद्गाणे समए समए असंख्यगुणणाए ।

सेडोए परद्गाणे विसेतहोणाए संकुभद ॥७२॥

शब्दार्थ—खंडदल—स्थितिखंड के दलिकों को, सद्गाणे—स्वस्थान में, समए समए—प्रतिसमय, असंख्यगुणणाए—असंख्यातगुण रूप, सेडोए—धैर्य से,

परद्वारे—परस्थान में, विशेषहीन रूप, संछुम्बह—संक्रमित किया जाता है।

गाथार्थ—प्रतिसमय प्रत्येक स्थितिखंड के दलिक स्वस्थान में असंख्यातगुण रूप श्रेणि से और परस्थान में विशेषहीन रूप श्रेणि से संक्रमित किया जाता है।

हिशेषार्थ—पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण वाह में से जितनी स्थिति दूर करने के लिये समय-समय जो दलिक संक्रमित करने के लिये ग्रहण किये जाते हैं, उनमें से पहले सभय में अल्प दलिक उत्कीर्ण किये जाते हैं, यानि उखाड़े जाते हैं—वहाँ से उन दलिकों को लेकर अन्यथ प्रक्षिप्त किया जाता है, दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण उत्कीर्ण किये जाते हैं। इस प्रकार से उत्कीर्ण करते हुए—उस प्रथम खंड को दूर करते जो अन्तर्मुहूर्तकाल जाता है, उसके चरम समय में द्वितीय सभय से असंख्यातगुण उत्कीर्ण किये जाते हैं। यह प्रथम खंड के उत्कीर्ण करने के विधि जानना चाहिये। इसी क्रम से द्वितीय खंड तक के समस्त स्थितिखंडों को उत्कीर्ण किया जाता है।

अब इन दलिकों का कहाँ प्रक्षेप किया जाता है? इसको स्पष्ट करते हैं—स्थितिखंड के दलिक को प्रतिसमय स्वस्थान में असंख्यात-गुणाकार रूप और परस्थान में विशेषहीन श्रेणि से संक्रमित किया जाता है। वह इस प्रकार—पहले सभय में स्थितिखंड का जो कर्मदलिक अन्यप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है—अन्यप्रकृति रूप किया जाता है, वह अल्प है, उससे उसी समय स्वस्थान में नीचे जो प्रक्षिप्त किया है, वह पर में प्रक्षिप्त किया उससे असंख्यातगुण होता है।

उद्वलनासंक्रम द्वारा स्थितिखंड में से ग्रहण किया गया दलिक कितना ही पररूप करता है और कितना ही जिस प्रकृति को उद्वलनासंक्रम द्वारा निर्भूल किये जाने का प्रयत्न किया जाता है, उसके अपने जो स्थान उद्वलित किये जाते हैं, उनके सिवाय शेष नीचे के

स्थानों में प्रक्षिप्त किये जाते हैं। उनमें जितने पर में गये वे तो कम ही हुए परन्तु नीचे स्वस्थान में जो गये, वे तो कम न होकर जो प्रकृति उद्दलित होती है, उसी के अपने नीचे के स्थानों को पुण्ड करने वाले होते हैं। उद्दलनासंक्रम का यह क्रम है। द्विचरम स्थितिखंडपर्यन्त तो इस रीति से स्व और पर में दलिकनिक्षेप होता है, परन्तु अंतिम खंड का दलिक तो स्वयं उद्दलित होने से नीचे अपने में दल प्रक्षेप का कोई स्थितिस्थान नहीं होने से पर में ही प्रक्षिप्त करके निशेष किया जाता है और वह प्रकृति निर्मल होती है।

पहले समय में नीचे स्वस्थान में जो दलिक निक्षिप्त किया गया उससे दूसरे समय में स्वस्थान में नीचे जो दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है, वह असंख्यातगुण होता है और पहले समय में पर में जो दलिक प्रक्षिप्त किया, उससे दूसरे समय में जो दलिक पर में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह विशेषहीन होता है, उससे भी तीसरे समय में स्वस्थान में जो दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है, वह दूसरे समय में स्वस्थान में प्रक्षिप्त किये गये दलिक से असंख्यातगुण है और तीसरे समय में पर-प्रकृति में जो प्रक्षिप्त किया जाता है, वह दूसरे समय में परस्थान में प्रक्षिप्त किये गये दलिक से विशेषहीन है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय में स्वस्थान में जो दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है उससे उत्तरोत्तर समय में स्वस्थान में असंख्यातगुण प्रक्षिप्त किया जाता है तथा पूर्व-पूर्व समय में परस्थान में जो प्रक्षिप्त किया जाता है—पररूप किया जाता है, उससे उत्तरोत्तर समय में परस्थान में हीन-हीन प्रक्षिप्त किया जाता है—अन्य रूप हीन-हीन किया जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त अथवा जो एक स्थितिखंड को उत्कीर्ण करने का काल है, उसके चरमसमयपर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार से द्विचरमखंड तक के समस्त स्थितिखंडों की उत्कीर्ण करने की विधि जानना चाहिये।

अब चरमखंड के दलिक के उत्कीर्ण करने की विधि कहते हैं—

चरम स्थितिखंड में जो कुछ भी दलप्रमाण है, उसमें से सकल करण के अद्योग्य होने से उदयावलिकागत दलिक को छोड़कर शेष सभी दलिक पर में प्रक्षिप्त किया जाता है और वह इस प्रकार—पहले समय में अल्प, दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण प्रक्षिप्त किया जाता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण पर में प्रक्षेप अन्तर्मुहूर्त के चरमसमय पर्यन्त होता है। यहाँ पहला, दूसरा या चरम समय आदि जो कहा गया है, वह अंतिम खंड को उद्वलित करते हुए जो अन्तर्मुहूर्त काल होता है, उसका समझना चाहिये। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

चरमखंड के अंतिम समय में जो कुछ भी दलिक पर में प्रक्षिप्त किये जाते हैं, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं। सर्वसंक्रम अर्थात् समस्त दलिकों का संक्रम। सर्वसंक्रम होने के बाद किसी भी खंड का दलिक शेष नहीं रहता है। चरमखंड के अन्तर्मुहूर्त के चरमसमय में समस्त दलिक पर में प्रक्षिप्त किये जाने में सर्वसंक्रम प्रवर्तित होता है, अथवा यह कहा जा सकता है कि अंतिम समय का वह समस्त दलिक जो पर में जाता है, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं। उद्वलनासंक्रम द्वारा अंतिम खंड उद्वलित किये जाने के बाद एक उदयावलिका शेष रहती है, जिसे स्तिरुक्संक्रम द्वारा संक्रमित बारके दूर किया जाता है।^१

द्विचरमस्थितिखंड के दलिक को चरमसमय में जितना स्व और पर स्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, इस प्रकार से पर में प्रक्षिप्त करते उस चरम खंड के निर्मल होने में कितना समय ब्यतीत होता है, अब यह स्पष्ट करते हैं—

दुचरिमखंडस दलं चरिमे जं देइ सपरद्धाणंभि ।

तमाणेणस्स वलं पल्लंगुलसंखभागेहि ॥७३॥

^१ सुगम बौद्ध के लिये उक्त समग्र कथन का इर्षक प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

शब्दार्थ—दुचरिमखंडस्स—द्विचरमखंड का, बलं—दलिक, चरिमे—चरमसमय में, जं—जो, देह—प्रक्षिप्त किया जाता है, सपरद्वाणीमि—सब और पर स्थान में, तम्माणेणस्स—इस प्रमाण से, बलं—दलिक, पहलंगुलसंख्यार्गेहि—पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल और अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश के समय प्रमाण ।

गाथार्थ—चरम समय में द्विचरमखंड का जो दलिक स्व और पर में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से चरमखंड का वह दलिक पर में प्रक्षेप करते अनुक्रम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल और अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे आकाश प्रदेश के समय प्रमाण काल में दूर होता है, निर्वेष होता है ।

विशेषार्थ—चरमसमय में द्विचरमस्थितिखंड का जो प्रदेशप्रमाण अपने ही चरम स्थितिखंड रूप स्वस्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से चरम स्थितिखंड का दलिक प्रतिसमय अन्य में संक्रमित करते पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में वह चरमखंड पूर्ण रूप से निर्मूल किया जाता है । अर्थात् उस चरमखंड को सर्वथा निर्मूल करने में पल्योपम का असंख्यातवां भाग जितना काल लगता है तथा चरमसमय में द्विचरम स्थितिखंड का दलिक जितना परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से अपहृत किया जाता चरमखंड का दलिक अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण समयों द्वारा अपहृत किया जाता है । अर्थात् चरमसमय में द्विचरम स्थितिखंड के दलिक को जितना पर में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से चरमखंड को पर में संक्रमित किया जाये तो उस चरमखंड को सम्पूर्ण रूप से निर्मूल होने में अंगुल के असंख्यातवें भाग के आकाश प्रदेशप्रमाण समय व्यतीत हो जाते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अंगुल मात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने चरमस्थितिखंड के ऊपर कहे गये प्रमाण वाले दलिक के बांड होते हैं ।

यह क्षेत्र की अपेक्षा मार्गण—विचार हुआ और कालापेक्षा विचार इस प्रकार है—द्विचरम स्थितिखंड का जितने प्रमाण वाला कर्मदलिक चरमसमय में परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, उसने प्रमाण वाले चरम स्थितिखंड का दलिक यदि प्रतिसमय परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाये तो वह चरम स्थितिखंड असंख्यात उत्सपिणी-अवसर्पिणी काल में निलौप होता है—निर्मूल, नष्ट, सत्तारहित होता है। इस प्रकार अमुक प्रमाण द्वारा चरमस्थितिखंड का दलिक पर में संक्रान्त किया जाता है तो उसमें कितना काल व्यतीत होता है, इसका विचार जानना चाहिये। अर्थात् उद्वलनासंक्रम द्वारा स्व में नीचे अधिक दलिक उतरते हैं, जिससे उस प्रमाण से संक्रमित करते समय कम लगता है और पर में अल्प संक्रमित किया जाता है, जिससे उस प्रमाण द्वारा संक्रमित करते काल अधिक लगता है। किसी प्रकृति को सत्ता में संनिर्मूल करने के लिये जहाँ भाव उद्वलन प्रवृत्त होती है, वहाँ पल्योपम का असंख्यातवां भाग जितना काल लगता है और यदि साथ में गुणसंक्रम भी होता है तब अन्तमुहूर्त में कोई भी कर्मप्रकृति निर्मूल हो जाती है।

यहाँ ‘चरमसमय’ शब्द द्वारा द्विचरमखंड उद्वलित करते जो अन्तमुहूर्त काल जाता है, उसका चरमसमय ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार से उद्वलनासंक्रम का अर्थ क्या है, वह किस प्रकार से होता है और दलिक कहाँ संक्रमित होते हैं, इस सबका कथन किया। अब उद्वलित की जाती प्रकृतियों के स्वामियों का निर्देश करते हैं। अर्थात् किस-किस प्रकृति की कौन-कौन उद्वलना करता है, इसका विचार करते हैं।

उद्वलनासंक्रम के स्वामी

एवं उद्वलनासंक्रमेण नासेह अश्वरओ आहारं ।

सम्मोऽणमिच्छमीसे छत्तीस नियट्ठी जा माया ॥७४॥

शब्दार्थ- -एवं—इस प्रकार से, उद्वलनासंक्रमण—उद्वलनासंक्रम द्वारा, नासेह—निर्मूल करता है, अधिरओः—अविरत, आहार—आहारकस्तक को, सम्प्रो—सम्यग्दृष्टि, अणमिच्छमीसे—अनन्तानुबंधि, मिथ्यात्व और मिथ्य मोहनीय, छत्तीस—छत्तीस प्रकृतियों का, निषट्टी—अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थानवर्ती, जा—यावत्, पर्यन्त की, माया—माया।

गाथार्थ- इस प्रकार से उद्वलनासंक्रम द्वारा अविरत जीव आहारकस्तक को निर्मूल करता है, सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबंधि, मिथ्यात्व और मिथ्य मोहनीय का नाश करता है और माया तक की छत्तीस प्रकृतियों का अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव नाश करता है।

विशेषार्थ- उद्वलनासंक्रम द्वारा जिस प्रकार से कर्मप्रकृतियों को सत्ता में से निर्मूल करने की विधि पूर्व में कही है, उस प्रकार से अविरत जीव आहारकस्तक को निर्मूल करता है। यानि कि विरतिपते में से जिस समय आहारकस्तक की सत्ता बाला जोव अविरतपते को प्राप्त करता है, उस समय से अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद आहारकस्तक की उद्वलना प्रारंभ करता है और उसे गल्योपम के असंख्यातवे भाग में निर्मूल करता है। क्योंकि आहारकस्तक की सत्ता अविरत के नहीं होती है, विरत के ही पाई जाती है तथा अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत या सर्वविरत जीव अनन्तानुबंधि, मिथ्यात्वमोहनीय और मिथ्यमोहनीय की अन्तर्मुहूर्त काल में पूर्व की तरह उद्वलना बारता है तथा मध्यम आठ कषाय, नव नोकषाय, स्त्यानधित्रिक, नामकर्म की तेरह प्रकृति और संज्वलन क्रोध, मान, माया हन छत्तीस प्रकृतियों को अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव पूर्वोत्त प्रकार से अन्तर्मुहूर्त काल में उद्वलित करता है। तथा—

सम्मीसाई मिच्छो सुरदुगवेऽविष्टकमेगिदो ।

सुहुमतसुच्चमणुदुगं अंतमुहृत्तेष अगिभद्दी ॥७५॥

शब्दार्थ—सम्मीलीय—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय को, जिन्होंने—
मिथ्याहृष्टि जीव, सुरवृगेत्विष्वकर्मणिवी—देवद्विक, वैक्रियषट्क का एक-
न्द्रिय, सुहृत्सुच्चमण्डुग—सूक्ष्मत्रस उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक का, अंत-
सुहृत्तेण—अन्तमुहूर्त काल में, अगिवट्टी—अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती
जीव।

गाथार्थ—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय का मिथ्याहृष्टि जीव
तथा देवद्विक एवं वैक्रियषट्क का एकेन्द्रिय जीव नाश
(उद्वलना) करता है और उच्चगोत्र तथा मनुष्यद्विक का सूक्ष्म-
त्रस नाश करता है। अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव
अन्तमुहूर्त काल में (छत्तीस प्रकृतियों की) उद्वलना करता है।

विशेषार्थ—मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला
मिथ्याहृष्टि जीव सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की पूर्वोक्त प्रकार से
पल्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण काल में उद्वलना करता है।
नामकर्म की पञ्चानव्रै प्रकृतियों की सत्ता वाला एकेन्द्रिय जीव पहले
देवद्विक की उद्वलना करता है, तत्पश्चात् वैक्रियशरीर, वैक्रिय-
अंगोपांग, वैक्रियबंधन, वैक्रियसंघातन और नरकद्विक रूप वैक्रियषट्क
को एक साथ पल्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण काल में उद्वलित
करता है तथा सूक्ष्मत्रस—तेजस्काय और वायुकाय के जीव पहले
उच्चगोत्र को और उसके बाद मनुष्यद्विक को पूर्वोक्त क्रम से पल्योपम
के असंख्यात्में भाग प्रमाण काल में उद्वलित करते हैं।

गाथा ७० के 'पलियासंखियभागेण कुणइ णिलेव' इस अंश में
उद्वलनासंक्रम द्वारा उद्वलित की जाती कर्मप्रकृतियों का सामान्य
से पल्योपम का असंख्यात्मां भाग प्रमाण जो काल बतलाया है,
उसका यहाँ अपवाद कहते हैं—'अणिअट्टी अंतसुहृत्तेण' अर्थात्
अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव पूर्वोक्त गाथा में कही गई
छत्तीस प्रकृतियों को अन्तमुहूर्त काल में पूर्ण रूप से उद्वलित करता
है—नाश करता है तथा गाथा ७४ में कहा गया 'छत्तीस नियट्टी'

पद अन्य का उपलब्धण रूप होने से क्षायिक सम्बन्ध उपाजित करते हुए चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव अनन्तानुबंधि, मिश्यात्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय को भी अन्तर्मुहूर्त काल में उद्वलित करते हैं। इस गाथा में तेरह प्रकृतियों की उद्वलना के व्यापियों का निर्देश किया है।

यही जितनी प्रकृतियों के लिये उद्वलना का अन्तमुहूर्त काल बताया है, उनके सिवाय शेष अन्य प्रकृतियों के लिये पत्योपम का असंख्यात्व भाग प्रमाण उद्वलना का काल समझना चाहिये। इसी प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिये कि ७६वीं गाथा में उनचास और ७५वीं गाथा में तेरह कुल वासठ प्रकृतियों के स्वामियों का निर्देश किया है। उनमें से मिश्रमोहनीय पहले गुणस्थान में और क्षायिक सम्बन्ध उपाजित करते हुए भी उद्वलित की जाती है और नरकट्टिक का एकेन्द्रिय में तथा नीदें गुणस्थान में भी उद्वलन होता है। इसलिये इन तीन प्रकृतियों को दो बार न गिनकर एक बार ही लेने से कुल वासठ प्रकृतियों में मैं तीन प्रकृतियों को कम करने पर उनसठ होती हैं तथा ७६वीं गाथा में बंधन के पञ्चम भेद की विवक्षा से आहारकसप्तक को लिया है, जब कि ७५वीं गाथा में बंधन के पांच भेदों की विवक्षा करके वैक्रियचतुष्क को ग्रहण किया है। यदि दोनों स्थानों पर बंधन के पन्द्रह भेदों की विवक्षा की जाये तो ७४वीं गाथा में कही गई उनचास और ७५वीं गाथा में बताई गई सोलह को मिलाने पर पैंसठ प्रकृति होती हैं। उनमें से मिश्र और नरकट्टिक को कम करने पर वासठ प्रकृतियां उद्वलनयोग्य होती हैं और यदि दोनों स्थानों पर पांच बंधन की विवक्षा की जाये तो गाथा ७४ में कही गई छियालीस और गाथा ७५ में कही गई तेरह कुल उनसठ प्रकृतियों में से मिश्र-मोहनीय और नरकट्टिक को कम करने पर छप्पन प्रकृतियां उद्वलनयोग्य होती हैं। उद्वलनयोग्य इतनी ही प्रकृतियां हैं। अन्य प्रकृतियां उद्वलनासंक्रम योग्य नहीं हैं।

यहाँ यह छ्यान रखना चाहिये कि सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना पहले कही किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करते हुए जो नहीं कही है, तो उसका कारण यह है कि उद्वलनासंक्रम द्वारा स्व और पर दोनों में दलिकों का प्रक्षेप किया जाता है। चौथे आदि में सम्यक्त्वमोहनीय के दलिक दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होने से पर में नहीं जाते हैं, मात्र स्व में ही संक्रान्त होते हैं, इसीलिये चतुर्थ आदि गुणस्थानों उसकी उद्वलना नहीं होती है।

उद्वलनासंक्रमयोग्य प्रकृतियों का स्वामित्व और काल दर्जक प्रारूप गृष्ठ १७७ पर देखिये।

इस प्रकार से उद्वलनासंक्रम का स्वरूपनिर्देश करने के अनन्तर, अब यथाप्रवृत्तसंक्रम का वर्णन करते हैं।

यथाप्रवृत्तसंक्रम

संसारत्था जीवा सबंधजीवाण सद्गुणमाणा ।

संकामे तणुरुवं अहापदत्तीए तो णाम ॥७८॥

शब्दार्थ—संसारत्था—संसारस्थ, जीवा—जीव, सबंधजीवाण—स्वबंध-योग्य प्रकृतियों के दलिकों को, तद्गुणमाणा—दल के प्रमाण में, संकामे—संक्रमित करता है, तणुरुवं—तदनुरूप—योगानुसार, अहापदत्तीए—यथाप्रवृत्ति से, तो—इसलिये, णाम—नाम।

गायार्थ—संसारस्थ जीव स्वबंधयोग्य प्रकृतियों के दलिकों को उन-उन प्रकृतियों के सत्तागत दल के प्रमाण में (अनुरूप) योगानुसार संक्रमित करता है, इसलिये उसका यथाप्रवृत्त ऐसा नाम है।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्तसंक्रम यानि योग की प्रवृत्ति के अनुरूप होने वाला संक्रम। यदि योग की प्रवृत्ति अल्प हो तो अल्प दलिकों का संक्रम होता है, मध्यम प्रवृत्ति हो तो मध्यम और यदि योग

उद्वलना संक्रमयोग्य प्रकृतियों का स्वामित्व और काल

| प्रकृति | उद्वलनस्वामित्व | उद्वलनकाल |
|---|--|------------------|
| मिथ्याहृष्टियों की २३ व आहारकसप्तक | अविरत | पल्यासंख्येय भाग |
| सम्यक्त्व देवद्विक वैक्रियसप्तक नरकद्विक युगपत् | २८ की सत्ता वाले मिथ्याहृष्टि, २८ या २७ की सत्ता वाले आहारक, तीर्थकर नाम रहित ६५ नाम-कर्म की सत्ता वाले एकेन्द्रिय | " |
| उच्चगोत्र, मनुष्य-द्विक | अग्निकायिक, वायु-कायिक | " |
| सम्यभृष्टि की ४२, स्त्यानद्वित्रिक स्थाव. मूढम, तिर्यच-द्विक, नरकद्विक, आतप उद्योत, एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियत्रिकसाधारण मध्य आठ कषाय, नव नोकषाय, संज्व. क्रोध, मान, माया | नौवें गुणस्थानवर्ती अपक | अन्तमुहूर्त |
| मिथ्यात्व, मिश्र. ४, ५, ६, ७, गुणस्थान-अनन्तानुबंधित्वतुष्क | वर्ती | " |

की प्रवृत्ति उत्कृष्ट हो तो-उत्कृष्ट अधिक दलिकों का संक्रम होता है। योग की प्रवृत्ति के अनुसार ही इस संक्रम के होने से यथाप्रवृत्त यह सार्थक नाम है।

इस संक्रम द्वारा संसाररूप जीव स्वबंधयोग्य ध्रुवबंधिनी अथवा अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के दलिकों के—जिस कर्मप्रकृति के दलिकों को संक्रमित करते हैं, उसके सत्तागत दलिकों के—अनुरूप संक्रमित करते हैं। उस काल में यदि ध्रुवबंधिनी या अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के दलिक अधिक बंधते हों अथवा तद्भव बंधयोग्य कितनी ही अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का उस समय बंध न हो, परन्तु पूर्व के बंधे हुए बहुत से दलिक सत्ता में हों तो अधिक संक्रमित करते हैं, अल्प हों तो अल्प संक्रमित करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्ता में विद्यमान दलिकों के अनुसार—दलिकों के प्रमाण में संक्रमित करते हैं। वे भी जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट जिस प्रकार की योगप्रवृत्ति हो तदनुरूप—उस प्रकार से संक्रमित करते हैं। जघन्य योग में वर्तमान अल्प दलिक, मध्यम योग में वर्तमान मध्यम और उत्कृष्ट योग में वर्तमान उत्कृष्ट—अधिक दलिकों को संक्रमित करते हैं। इसी कारण इस संक्रम का यथाप्रवृत्तसंक्रम यह सार्थक नाम है।

‘स्वबंधयोग्य प्रकृतियों को संक्रमित करते हैं’ इस कथन का आशय है कि यद्यपि कितनी ही अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का संक्रमकाल में बंध न हो किन्तु जिन प्रकृतियों की उस भव में बंध की योग्यता हो, परन्तु उनके बंध का अभाव होने पर भी यथाप्रवृत्तसंक्रम की प्रवृत्ति होती है। जिन प्रकृतियों का बंध हो उन्हीं का यथाप्रवृत्तसंक्रम होता है, यदि ऐसा कहना होता तो ‘बद्धमान’ ऐसा गाथा में संकेत होता। लेकिन ग्रंथकार ने गाथा में ऐसा संकेत नहीं किया है। इसलिये बंधती हों या उस भव में बंधयोग्य हों अथवा संक्रमकाल में बंधती न हों तो भी उनका यथाप्रवृत्तसंक्रम होना सम्भव है।

धूववंधिनी प्रकृतियों के यथाप्रवृत्तसंक्रमक तद्वंचक हैं तथा तद्भवयोग्य परावर्तमानवंधिनी प्रकृतियों के संक्रमक तद्वंचक और अवन्धक दोनों हैं।

यह संक्रम योगानुरूप होता है। इसके व्राधक विध्यात् या गुण संक्रम हैं।

इस प्रकार से यथाप्रवृत्तसंक्रम का स्वरूप जानता जाहिये। अब क्रमप्राप्त गुणसंक्रम का निर्देश करते हैं।

गुणसंक्रम

अशुभाण परस्त्वं वद्यतीत्यु असंख्यगणाएः।

सेहीए अपुष्ट्वाई छुभंति गुणसंक्रमो एसो ॥७७॥

शब्दार्थ—अशुभाण—अशुभ प्रकृतियों के, परस्त्वं—प्रदेशाग्र, वद्यतीत्यु—वद्यमान प्रकृतियों में, असंख्यगणाएः—असंख्यातगुण, सेहीए—श्रेणि से, अपुष्ट्वाई—अपूर्वकरणादि, छुभंति—संक्रित करते हैं, गुणसंक्रमो—गुणसंक्रम एसो—यह।

गाथार्थ—(अवध्यमान) अशुभ प्रकृतियों के प्रदेशाग्र को वद्यमान प्रकृति में असंख्यात् गुणश्रेणि से अपूर्वकरण आदि जीव जो संक्रमित करते हैं, यह गुणसंक्रम कहलाता है।

दिशोधार्थ—अवध्यमान अशुभ प्रकृतियों के दलिकों को अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती जीव प्रति समय असंख्य गुणश्रेणि से वद्यमान प्रकृतियों में जो संक्रमित करते हैं, वह गुणसंक्रम है। पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय में असंख्य-असंख्य गुणाकार रूप से जो संक्रम वह गुणसंक्रम, यद् गुणसंक्रम शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है।

अपूर्वकरण आदि गुणस्थान से जिन अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, वे इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, आतप और नरकायु को छोड़कर मिथ्याहृष्टि के वंधयोग्य तेरह तथा अनन्तानुवंधिचतुष्क, तिर्यचायु और उद्योग को छोड़कर शेष सादनगुणस्थानयोग्य उत्तीर्ण तथा अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क रूप आठ

कषाय, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, शोक, अरति, असातावेदनोय इन चौदह प्रकृतियों को मिलाने पर कुल छियालीस अब्द्यमान अशुभ प्रकृतियों का अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों से गुणसंक्रम होता है।

अपर जो प्रकृतियां छोड़ी हैं, उनके छोड़ने का कारण यह है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधिचतुष्का को अपूर्वकरणगुणस्थान प्राप्त होने के पूर्व ही अविरतसम्यग्हष्टि आदि गुणस्थानवर्ती जीव क्षायिक सम्यवत्व प्राप्त करते हुए क्षय करते हैं। आतप, उद्योत शुभ प्रकृतियां हैं, अतः उनका गुणसंक्रम नहीं होता है तथा आयु का परप्रकृति में संक्रम नहीं होता है, इसीलिये मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों का निषेध किया है।

निद्राद्विक, उपधात, अशुभवर्णादि नवक, हास्य, रति, भय, चुगुण्मा इन अशुभ प्रकृतियों का अपूर्वकरणगुणस्थान में जिस समय बंधविच्छेद होता है, उसके बाद से गुणसंक्रम होता है।

इस प्रकार अपूर्वकरणगुणस्थान से जिन प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, उनके नाम जानना चाहिये।

अब गुणसंक्रम का दूसरा अर्थ कहते हैं—अपूर्वकरण आदि संज्ञा वाले करण की अर्थात् सम्यक्त्वादि प्राप्त करते जो तीन करण होते हैं, उनमें के अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण^१ की प्रवृत्ति जब से होती है, तब से अब्द्यमान अशुभ प्रकृतियों के दलिकों को असंख्यात गुणश्चेष्णि से बद्यमान प्रकृतियों में जो प्रक्षेप किया जाता है, उसे भी गुणसंक्रम कहते हैं। गुणसंक्रम का ऐसा भी अर्थ होने से क्षणकाल में मिथ्यात्व, मिश्रमोहनीय और अनन्तानुबंधिचतुष्क का अपूर्वकरण रूप करण से लेकर गुणसंक्रम होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। किन्तु अब्द्यमान समस्त अशुभप्रकृतियों का गुणसंक्रम तो आठवें गुणस्थान से ही होता है।

^१ इन करणों में भी चौथे से सातवें गुणस्थान तक में मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और अनन्तानुबंधिचतुष्क का गुणसंक्रम होता है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि अप्रमत्तसंयतगुणस्थान तक में बंधविच्छेद होने वाली छियालीस और अपूर्वकरण गुणस्थान में बंधविच्छेद को प्राप्त होने वाली निद्राद्विक आदि सोलह, इस प्रकार बासठ तथा अपूर्वकरण संज्ञा वाले अपूर्वकरण से अनन्तानुबंधिचतुष्क, मिथ्यात्व और मिथ्र ये छह कुल विचाहर अड़सठ प्रकृतियों का गुणसंक्रम वताया है। यदि इनमें अशुभ वर्णचतुष्क को लिया जाये तो पांच प्रकृतियों को कम करने पर कुल चैसठ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होना वताया है। परन्तु पुरुषवेद और लोभ के बिना संज्वलनत्रिक, इन चार प्रकृतियों का भी गुणसंक्रम सम्भव है। क्योंकि अपूर्वकरण से अब्ध्यमान समस्त अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, जिससे निद्राद्विक आदि प्रकृतियों का गुणसंक्रम वताया है। इसी प्रकार नौवें गुणस्थान में अपने-अपने बंधविच्छेद के बाद इन चार प्रकृतियों का गुणसंक्रम होने में कोई बाधा नहीं दिखती है। क्यों कि छठे कर्म-ग्रंथ की गाथा ६७ की टीका में भी बंधविच्छेद के समय में समयन्यून दो आवलिका काल में बंधे हुए सत्तागत दलितों का उतने ही काल में गुणसंक्रम द्वारा क्षय करता है, ऐसा वताया है तथा उद्वलनासंक्रम द्वारा भी जिन प्रकृतियों वा अन्तर्मुहर्तकाल में क्षय होता है, वहाँ भी उद्वलनासंक्रम के अंतर्गत गुणसंक्रम माना है। परन्तु यदि उस उद्वलनानुविद्ध गुणसंक्रम की विवक्षा न करें तो नौवें गुणस्थान में उद्वलनासंक्रम द्वारा क्षय को प्राप्त होती मध्यम आठ कदायादि शेष प्रकृतियों का भी गुणसंक्रम घटित नहीं हो सकता है, लेकिन उन प्रकृतियों को गुणसंक्रम में ग्रहण किया है, इसलिये इन चार प्रकृतियों (पुरुषवेद, लोभ बिना संज्वलनत्रिक) का भी गुणसंक्रम अवश्य सम्भव है, तथापि वहाँ उनकी विवक्षा क्यों नहीं की गई है? विद्वज्जन इसको स्पष्ट करने की कृपा करें।

इस प्रकार से गुणसंक्रम की वक्तव्यता जानना चाहिये। अब सर्वसंक्रम का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

सर्वसंक्रम

चरमठिईए रइयं पइसभयवसंखियं पएसगं ।

ता छुमइ अझयगाई जावंते सद्वसंकामो ॥७८॥

शब्दार्थ—कालदिन, चरण सिंहिंड में, रइयं—रचित, पइसगं—प्रतिसमय, असंखियं—असंख्यात् गुणाकार रूप से, पएसगं—प्रदेशात्, ता—तब तक, छुमइ—संक्रमित करता है, अझयगाई—अन्य प्रकृति में, जावंते—यावत् अंतिम, सद्वसंकामो—सर्वसंक्रम ।

विशेषार्थ—उद्वलनासंक्रम करते हुए चरमस्थितिखंड में स्वस्थानप्रक्षेप द्वारा जो दलिक रचित हैं, उन्हें अन्य प्रकृति में प्रतिसमय असंख्यात् गुणाकार रूप से तब तक संक्रमित करता है, यावत् द्विचरम प्रक्षेप प्राप्त हो और अंतिम जो प्रक्षेप होता है उसे सर्वसंक्रम कहते हैं ।

विशेषार्थ—यह पूर्व में बताया जा चुका है कि उद्वलनासंक्रम द्वारा पर और स्व में दलिक प्रक्षेप होता है और उसमें भी पर में अल्प एवं स्व में अधिक प्रक्षेप होता है । ऐसे उद्वलनासंक्रम द्वारा संक्रमित किये जाते स्वस्थानप्रक्षेप द्वारा चरमस्थितिखंड में जो दलिक रचित किया गया है—प्रक्षिप्त किया गया है, उसे पूर्व-पूर्व समय से जल्दीतर समय में असंख्यात्-असंख्यात् गुणाकार रूप से अन्तमुहूर्त परप्रकृति में प्रक्षिप्त करता है और अन्तमुहूर्त काल में वह चरमखंड निलेप होता है ।

भह उद्वलनासंक्रम कहाँ तक कहलाता है और सर्वसंक्रम किसे कहते हैं ? इसका स्पष्टीकरण यह है—

उद्वलनासंक्रम करते हुए स्वस्थान-प्रक्षेप द्वारा चरम स्थितिखंड में जो कर्मदलिक प्रक्षिप्त किया है, उसे प्रतिसमय परप्रकृति में असंख्यात्-असंख्यात् गुणाकार रूप से वहाँ तक संक्रमित करता है कि यावत् द्विचरम प्रक्षेप आता है । यहाँ तक तो उद्वलनासंक्रम कहलाता है और अन्तमुहूर्त के अंतिम समय में जो चरम प्रक्षेप होता है, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं । तात्पर्य यह कि जिस प्रकृति में

उद्वलनासंक्रम प्रवृत्त होता है, उस प्रकृति के चरम खंड का चरमसमय में पूर्ण रूप से पर में जो प्रक्षेप होता है, उसे सर्वसंक्रम कहते हैं।

इस प्रकार से सर्वसंक्रम का स्वरूप जानना चाहिये। अब किस संक्रम को रोक कर कौन-सा संक्रम प्रवृत्त हो सकता है, इसका विचार करते हैं।

परस्पर वाधक संक्रम

बाह्य अहापवत्तं सहेजाहो गुणो व विज्ञाओः ।

उद्वलणसंक्रमसवि कसिणो चरिमिमि खंडमिमि ॥७६॥

शब्दार्थ—बाह्य—बाह्य—वर्णित कर, रोककर, अहापवत्त—यथाप्रवृत्त-संक्रम जो, सहेजाहो—अपने हेतु के द्वारा, गुणो—गुणसंक्रम, व—अवधा विज्ञाओ—विद्यातसंक्रम, उद्वलणसंक्रमसवि—उद्वलनासंक्रम के भी, कसिणो—सर्वसंक्रम, चरिमिमि खंडमिमि—चरम खंड में :

गाथार्थ—सब हेतु के सामर्थ्य से यथाप्रवृत्तसंक्रम को रोक कर गुणसंक्रम अथवा विद्यातसंक्रम प्रवृत्त होता है। उद्वलना-संक्रम के चरमखंड में चरभप्रक्षेप रूप सर्वसंक्रम भी होता है।

विशेषार्थ—अपने गुण या भव रूप निमित्त को प्राप्त करके अबैध होने रूप हेतु की प्राप्ति—संबन्ध के सामर्थ्य द्वारा यथाप्रवृत्तसंक्रम को रोककर गुणसंक्रम या विद्यातसंक्रम प्रवृत्त होता है। यथाप्रवृत्तसंक्रम सामान्य है, जिससे गुण या भव रूप हेतु के द्वारा कर्म-प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के पश्चात् विद्यातसंक्रम या गुणसंक्रम प्रवृत्त होता है। अतएव यथाप्रवृत्तसंक्रम को वाध कर, उसको हटा कर गुणसंक्रम या विद्यातसंक्रम प्रवृत्त होता है तथा सर्वसंक्रम उद्वलनासंक्रम के चरमखंड का चरमप्रक्षेप रूप है। इसलिये यह सर्वसंक्रम भी उद्वलनासंक्रम को हटा कर प्रवृत्त होता है, यह समझना चाहिये।^१

१ प्रदेशसंक्रम के उक्त पांच भेदों में संक्षिप्त प्रकृतियों की मूर्ची परिणाम में देखिये।

उक्त पांच संक्रम के अतिरिक्त स्तिबुकसंक्रम नाम का भी एक छठा प्रदेशसंक्रम है। किन्तु उसे छठे भेद के रूप में नहीं कहा है। क्योंकि उसमें करण का लक्षण घटित नहीं होता है। करण तो सलेश्य जीव के व्यापार को कहते हैं। अतः जहाँ-जहाँ लेश्यायुक्त वीर्य का व्यापार होता है वहाँ संक्रम, बंधन आदि करणों की प्रबृत्ति होती है। लेकिन स्तिबुकसंक्रम की प्रबृत्ति में वीर्यव्यापार कारण नहीं है, वह तो साहजिक रूप से होता है। इसके द्वारा किसी भी प्रकार के वीर्यव्यापार के विनाफल देने के सन्मुख हुआ एक समय मात्र में भोगा जाये इतना दलिक अन्य रूप होता है तथा यह भी विशेष है कि संक्रमकरण द्वारा अन्य स्वरूप हुआ कर्म अपने मूलस्वरूप को छोड़ देता है, जबकि स्तिबुकसंक्रम द्वारा अन्य में गया दलिक सर्वथा अपने मूल स्वरूप को छोड़ता नहीं है, यानि कि सर्वथा पतद्वयप्रकृति रूप में परिणित नहीं होता है। संक्रमकरण द्वारा बंधावलिका के जाने के बाद उदयावलिका से ऊपर का दलिक अन्य रूप होता है और स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदयावलिका के उदयगत एक स्थान का ही दलिक उदयवती प्रकृति के उदयसमय में किसी भी प्रकार के प्रयत्न के सिवाय जाता है। यह स्तिबुकसंक्रम तो अलेश्य अयोगिकेवली भगवान को अयोगिकेवलिगुणस्थान के द्विचरमसमय में तिहत्तर प्रकृतियों का होता है। इस कारण स्तिबुकसंक्रम को आठ करण के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया है, फिर भी यहाँ उसका स्वरूप इसलिये कहते हैं कि वह भी एक प्रकार का संक्रम है।

स्तिबुकसंक्रम

पिङ्डपगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाओ ।

संकामिङ्गण वैयह जं एसो धिबुगसंकामो ॥८०॥

शब्दार्थ—पिङ्डपगईण—पिङ्डप्रकृतियों का, जा—जो, उदयसंगया—उदयप्राप्त, तीए—जसमें, अणुदयगयाओ—अनुदयप्राप्त, संकामिङ्गण—संक्रामित

करके, बेयह—वेदन की जाती है, जो—जो, एसो—यह, विद्युगसंक्रमो—स्तिवुकसंक्रम ।

गाथार्थ—पिंड प्रकृतियों की उदयप्राप्त जो प्रकृति है, उसमें अनुदयप्राप्त प्रकृति संक्रमित करके वेदन की जाती है, यह स्तिवुकसंक्रम कहलाता है ।

विशेषार्थ—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संधातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति रूप चौदह पिंडप्रकृतियों में से प्रत्येक की उदय प्राप्त जो प्रकृति होती है, उसके समान काल वाली उदयस्थिति में जिस प्रकृति का उदय नहीं है, अनुदय है, उसको संक्रमित करके जो अनुभव किया जाता है, उसे स्तिवुकसंक्रम कहते हैं । जैसे उदयप्राप्त मनुष्यगति में शेष तीन गति के दलिकों को, उदयप्राप्त एकेन्द्रियजाति में शेष जाति के दलिकों को जो संक्रमित किया जाता है, यह स्तिवुक-संक्रम कहलाता है । प्रदेशोदय भी इसका अपरनाम है । दोनों समानार्थक ही हैं ।

सत्ता में असंख्य स्थितिस्थान होते हैं और वे क्रमशः अनुभव किये जाते हैं । एक साथ एक से अधिक स्थितिस्थान अनुभव नहीं किये जाते हैं । जिस कर्मप्रकृति के फल को अपने स्वरूप से साक्षात् अनुभव किया जाता है, उसके अनुभव किये जाते—उदय समय में जिसका अवाधाकाल बीत गया है, परन्तु स्वरूप से फल दे सके ऐसी हिप्ति में नहीं है, वैसी प्रकृति का उदयसमय—उदयप्राप्त स्थिति-स्थान जीव की किसी भी प्रकार की वीर्यप्रवृत्ति के बिना सहजभाव से संक्रमित होता है । जिससे ऊपर कहे गये ‘समानकाल वाली उदयस्थिति में’ पद का यह तात्पर्य हुआ कि संक्रमित होने वाली प्रकृति का उदयस्थान होना चाहिये एवं पतद्वयप्रकृति का भी उदयस्थान होना चाहिये । उदयस्थान में उदयस्थान का संक्रमण होना । यहीं उदयस्थान में उदयस्थान का संक्रमण होता है, जिससे

दोनों की उदयकाल रूप समानस्थिति घट सकती है। अबाधाकाल बीतने के अनन्तर तो प्रत्येक कर्म अवश्य फल देने के समुख होता है। उसमें कोई कर्म अणने स्वरूप से फल दे, ऐसी स्थिति में तो कोई कर्म अन्य में मिल कर फल दे, ऐसी स्थिति में होता है। जैसे कि जिस गति की आयु का उदय हो उसके अनुकूल सभी प्रकृतियों का स्वरूपतः और उनके सिवाय अन्य प्रकृतियों का पररूप से उदय होता है। पररूप से जो उदय उसी का नाम ही प्रदेशोदय या स्तिबुकसंक्रम कहलाता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि अबाधाकाल बीतने के बाद प्रत्येक कर्मप्रकृति फल देने के उन्मुख होती है, यानि जो स्वरूप में अनुभव की जाये, उसकी जैसे उदयावलिका होती है, उसी प्रकार जो पररूप से अनुभव की जाये, उसकी जैसे उदयावलिका होती है। उदयावलिका अर्थात् उदयसमय से लेकर एक आवलिका काल में भोगे जायें, उतने स्थितिस्थान। वे स्थितिस्थान तो दोनों में हैं ही, किन्तु एक को रसोदयावलिका कहते हैं और दूसरे को प्रदेशोदयावलिका-स्तिबुकसंक्रम कहते हैं।

नामकर्म की अनेक प्रकृतियाँ हैं। किन्तु सभी का नहीं, अमुक का ही रसोदय होता है और शेष प्रकृतियाँ प्रदेशोदय के रूप में अनुभव की जाती हैं। इसीलिये गाथा में जो मात्र पिडप्रकृतियों का संकेत किया है, वह बहुत्व की अपेक्षा से है। जिससे अन्य प्रकृतियों में भी यदि उनका स्वरूप से उदय न हो तो उनमें भी स्तिबुकसंक्रम प्रवृत्त होता है, ऐसा समझना चाहिये। जैसे कि धयकाल में संज्वलन क्रोधादि की शेषीभूत उदयावलिका संज्वलन मान आदि में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित होती है।

इस प्रकार से स्तिबुकसंक्रम की लाक्षणिक व्याख्या जानना चाहिये। अब विध्यात आदि गुणसंक्रम पर्यन्त के अपहारकाल के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं।

विद्यात् आदि संक्रमों के अपहरणकाल का असंख्यत्व
गुणमाणेण दलितं हीरंतं योवएष निट्ठाइ ।
कालोऽसंख्येण अहृषिज्ञ उद्वलणगाणं ॥८१॥

शब्दार्थ—गुणमाणेण—गुणसंक्रम के प्रमाण से, दलित—दलिक, हीरंत—अपहरण किया जाता, योवएष—अल्पकाल में, निट्ठाइ—निलेप होता है, कालोऽसंख्येण—असंख्यातगुण काल, अहृषिज्ञ उद्वलणगाण—यथाप्रवृत्त, विद्यात् और उद्वलना संक्रमों द्वारा ।

गाथार्थ—गुणसंक्रम के प्रमाण द्वारा अपहरण किया जाता चरमखंड का दलिक अल्पकाल में निलेप होता है और यथाप्रवृत्त, विद्यात् और उद्वलना संक्रमों द्वारा उसी खंड के दलिक का अपहरण किये जाने में अनुक्रम से असंख्यातगुण असंख्यातगुण काल होता है ।

विरोधार्थ—उद्वलनासंक्रम के स्वरूपकथन के प्रसंग में जो चरम खंड का निर्देश किया था, उस चरमखंड के दलिक को गुणसंक्रम के प्रमाण से अपहार किया जाये—पर में निषेप किया जाये तो वह चरमखंड अल्पकाल में ही—अन्तर्मुहूर्तकाल में पूर्ण रूप से निलेप होता है तथा उसी चरमखंड के दलिक को यथाप्रवृत्त, विद्यात् और उद्वलना संक्रम के प्रमाण से यानि कि उस-उस संक्रम के द्वारा जितना-जितना अपहृत किया जा सके—पर में संक्रमित किया जा सके, उस प्रमाण से यदि अपहरण किया जाये तो अनुक्रम से असंख्यात-असंख्यातगुण काल में अपहरण किया जा सकता है । इसीलिये उनका अपहरण काल अनुक्रम से असंख्यात-असंख्यातगुण जानना चाहिये ।

असंख्यातगुण काल कहने का कारण यह है कि यदि उस चरम-खंड को यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा अपहार किया जाये तो वह खंड पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में निलेप होता है । इसीलिये गुणसंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल से यथाप्रवृत्त-संक्रम द्वारा होने वाला अपहारकाल असंख्यातगुण होता है ।

यदि उसी चरम खंड को विद्यातसंक्रम द्वारा अपहार किया जाये तो वह चरम खंड असंख्यात् उत्सपिणी-अवसपिणी काल में निर्लेप होता है। इसीलिये यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल से विद्यातसंक्रम द्वारा होने वाला अपहारकाल असंख्यातगुण है तथा उसी चरम खंड को द्विचरमस्थितिखंड के चरमसमय में परप्रकृति में जितना दलिक निश्चिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से उद्वलनासंक्रम द्वारा अपहार किया जाये तो वह चरम खंड अति प्रभुत असंख्यात् उत्सपिणी-अवसपिणी द्वारा निर्लेप होता है, जिससे विद्यातसंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल से उद्वलनासंक्रम द्वारा होने वाला अपहारकाल इस प्रकार से असंख्यातगुणा होता है।

यदि विद्यात् और उद्वलना संक्रमों द्वारा होने वाले अपहार का क्षेत्रापेक्षा विचार किया जाते हों अंगुल है अलंकारों द्वारा में वर्तमान आकाश प्रदेश जितने समय प्रमाण काल में होता है। मात्र उद्वलनासंक्रम द्वारा होने वाले अपहारकाल में बृहत्तम् अंगुल का असंख्यातवां भाग ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ जो संक्रमविषयक काल का अल्पबहुत्व कहा है, उससे यह जाना जा सकता है कि किस संक्रम का कितना बल है। सबसे अधिक बलशाली गुणसंक्रम है, उससे कम यथाप्रवृत्तसंक्रम और उससे भी कम बलवान् विद्यातसंक्रम है। यद्यपि योगानुसार संक्रम होता है, परन्तु कालमेद से होने के कारण यह अल्पबहुत्व संभव है। गुणसंक्रम द्वारा होने वाला संक्रम तो सदा अधिक ही होता है। बंधयोग्य प्रकृतियों का संक्रम और बंधविच्छेद होने के बाद होने वाला उसी का संक्रम, इसमें हीनधिकता रहती है। बंधयोग्य का अधिक और बंधविच्छेद होने के बाद अल्प दलिक का संक्रम होता है। उद्वलनासंक्रम तो ऊपर के गुणस्थानों में होता है, उसका बल यथाप्रवृत्त से अधिक है। क्योंकि उसके द्वारा अन्तमुहूर्त में कर्मप्रकृति निःसत्ताक होती है। उद्वलनासंक्रम में स्व में प्रधिप्त किया जाता है, उस हिसाब से यदि निश्चिप्त किया

जाये तो यथाप्रवृत्तसंक्रम जितना बल और पर में जो प्रक्षेप किया जाता है, उस हिसाब से निश्चिप्त किया जाये तो उससे बहुत ही अल्प बल है। प्रकृति को निःसत्ताक करने में उद्वलनासंक्रम उपयोगी है। जहाँ-जहाँ वह संभव है, वहाँ-वहाँ वह-वह प्रकृति निःसत्ताक होती है। प्रधम गुणस्थान में कतिपय प्रकृतियों का उद्वलनासंक्रम होता है, परन्तु ऊपर के गुणस्थान से पहले गुणस्थान में हीनबल वाला होता है।

इस प्रकार से गुणसंक्रम आदि के काल का अल्पबहुत्व जानना चाहिये। परन्तु द्विचरमखंड तक के खंडों का दलिक उद्वलनासंक्रम द्वारा पर और स्व में इन एकारणों से ही हो सकता है किंतु उत्तम है। यहाँ जो अल्पबहुत्व कहा है, उसमें द्विचरमखंड को पर में यदि संक्रमित किया जाता है, उस हिसाब से चरमखंड का दलिक पर में निश्चिप्त किया जाये तो जितना काल हो उतना काल उद्वलना-संक्रम का लेना है, यह बताने के लिये तथा यथाप्रवृत्तसंक्रम का भी प्रमाण बताने के लिये आचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

जं दुचरिमस्स चरिमे सपरट्ठाणेसु देई समयम्भि ।

ते भागे जहकमसो अहापघसुव्वलणमाणे ॥८२॥

शब्दार्थ—जं—जो, दुचरिमस्स—द्विचरमखंड के, चरिमे—चरम, सपरट्ठाणेसु—स्व और पर रथान में, देई—प्रक्षिप्त किया जाता है, समयम्भि—समय में, ते—वे, भागे—भाग, जहकमसो—यथाक्रम से, अहापघसुव्वलणमाणे—यथाप्रवृत्त और उद्वलना संक्रम का प्रमाण।

गाथार्थ—द्विचरमखंड के चरम समय में स्व और पर स्थान में जो दलिकभाग प्रक्षिप्त किया जाता है, वे दलिकभाग यथाक्रम—अनुक्रम से यथाप्रवृत्त और उद्वलना संक्रम के प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—द्विचरमखंड का चरमसमय में जो दलिकभाग स्व और पर स्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, संक्रमित किया जाता है,

वे दलिक-भाग अनुक्रम से यथाप्रवृत्तसंक्रम और उद्वलनासंक्रम के नाम हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वमाध्य में चरमखंड को शुणसंक्रम आदि के द्वारा संक्रमित किये जाते होने वाले काल का जो अल्प-बहुत्व कहा है, उसमें यथाप्रवृत्त और उद्वलना संक्रम द्वारा चरम-खंड को संक्रमित किये जाते कौन-सा प्रमाण लेना चाहिये इसका उल्लेख नहीं किया है। जिसको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि उद्वलना-संक्रम में द्विचरमखंड का चरमप्रक्षेप करने पर जितना दलिक स्व-स्थान में निश्चिप्त किया जाता है, वह प्रमाण यथाप्रवृत्तसंक्रम में ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् उस प्रमाण से चरमखंड को संक्रमित करते हुए जितना काल हो उतना काल यथाप्रवृत्तसंक्रम का लेना चाहिये। इसी हेतु से ही उद्वलनासंक्रम द्वारा द्विचरमखंड का चरम प्रक्षेप करने पर जितना दलिक स्व में निश्चिप्त करता है, उस प्रमाण से चरमखंड के संक्रमित करते जितना काल होता है उसके तुल्य यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करने पर काल होता है, यह कहा है।

उद्वलनासंक्रम में द्विचरमखंड का चरमप्रक्षेप करने पर जितना दलिक पर में प्रक्षिप्त किया जाता है वह प्रमाण उद्वलनासंक्रम में लेना चाहिये। यानि द्विचरमखंड का चरमप्रक्षेप करने पर पर में जितना दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है उस प्रमाण से चरमखंड को अन्यथा संक्रमित करते हुए जितना काल होता है उतना काल उद्वलना का लेना चाहिये। उक्त प्रमाण से लेने पर उपर्युक्त अल्पबहुत्व सम्भव है।

इस प्रकार से सविस्तार पांचों प्रदेशसंक्रमणों का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त साद्यादि प्ररूपणा करते हैं। किन्तु मूल कर्मों का परस्पर संक्रम नहीं होता है। अतएव उत्तरप्रकृतियों के संक्रम के विषय में साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों संबंधी साद्वादि प्रलयणा

उत्तरा ध्रुवध्वीसगसयस्स अजहन्नसंकमो होइ ।

अणुक्षोसो विहु वज्जिय उरालियावरणनविघ्ने ॥८३॥

शब्दार्थ—उत्तरा—चार प्रकार का, ध्रुवध्वीसगसयस्स—ध्रुव एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का, अजहन्नसंकमो—अजघन्य संकम, होइ—होता है, अणुक्षोसो—अनुत्कृष्ट, विहु—भी, वज्जिय—छोड़कर, उरालियावरणनविघ्न—औदारिकसत्त्वक, नव आवरण और अंतरायपर्वतक ।

गाथार्थ—पूर्वोत्तर ध्रुव एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का अजघन्य संक्रम चार प्रकार का है और औदारिकसत्त्वक, नव आवरण और अंतरायपर्वतक को छोड़कर शेष प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट भी चार प्रकार का है ।

विशेषार्थ—पूर्व में कही गई ध्रुवसत्ता वाली एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशसंक्रम सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा ऐसा और कर्मक्षय करने के लिये प्रयत्नवांत अपितकमणि जीव सभी ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है और वह नियत बालपर्यन्त ही होने से सादि-सांत है । उसके सिवाय जो प्रदेशसंक्रम अन्य जीवों के होता है, वह सब अजघन्य है । वह अजघन्य प्रदेशसंक्रम उपशमणेण में जंधविच्छेद होने के बाद पतदग्रह का अभाव होने से किसी भी प्रकृति का नहीं होता है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिये सादि है । उस स्थान को जिसने प्राप्त नहों किया, उसकी अपेक्षा अनादि, अभन्न के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है । तथा—

औदारिकसप्तक, ज्ञानावरणपर्वत, चक्रुदर्णनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्का और अंतरायपर्वतक को छोड़कर शेष एक सौ पांच ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम भी सादि आदि चार प्रकार है । जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा ऐसा और

कर्मक्षय के लिये उद्यत गुणितकर्माणि जीव उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है, अन्य कोई नहीं करता है। उसको यह नियतकाल पर्यन्त ही होने से सादि-सांत है। उसके सिवाय अन्य सब प्रदेशसंक्रम अनुत्कृष्ट है और वह उपशमश्रेणि में बंधविच्छेद होने के बाद नहीं होता है, वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिए सादि है, उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले की अपेक्षा अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव हैं। तथा—

सेसं साइ अधुर्व जहन्नम् सामी य खवियकम्मंसो ।

ओरालाइसु मिच्छो उक्कोसगस्स गुणियकम्मो ॥८४॥

शब्दार्थ—सेसं—शेष विवर्त्य, साइ वधुर्व—राति, इदुर्ग, बहुर्—जघन्य प्रदेशसंक्रम, सामी—स्वामी, य—और, खवियकम्मंसो—क्षपित-कर्माणि, ओरालाइसु—बीदारिकादि का, मिच्छो—मिथ्यात्व में, उक्कोसग-स्स—उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का, गुणियकम्मो—गुणितकर्माणि ।

गाथार्थ—शेष सर्व विकल्प सादि, अध्रुव हैं। जघन्य प्रदेश-संक्रम का स्वामी क्षपितकर्माणि है और उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का गुणितकर्माणि स्वामी है। बीदारिकादि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम मिथ्यात्व में होता है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में जिन प्रकृतियों के विकल्पों के लिये कहा गया है, उनके उक्त विकल्पों के सिवाय जघन्य आदि सर्व सादि-सांत जानना चाहिये। उनमें एक सौ पाँच प्रकृतियों के तो जघन्य और उत्कृष्ट में दो विकल्प शेष हैं और उनका विचार प्रायः अनुत्कृष्ट और अजघन्य का स्वरूप कहने के प्रसंग में किया जा चुका है। उनके नियतकाल पर्यन्त ही होने से जघन्य और उत्कृष्ट सादि-अध्रुव (सांत) ही होते हैं।

बीदारिकसप्तक आदि इवकीस प्रकृतियाँ जिनको पूर्व गाथा में वर्जित किया है, उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम गुणितकर्माणि मिथ्याहृष्टि के होता है, उसके अतिरिक्त शेष काल में अनुत्कृष्ट होता है।

इस प्रकार मिथ्याहृष्टि में एक के बाद एक के क्रम से होने के कारण वे दोनों सादि-सांत हैं और उनके जघन्य विकल्प का विचार तो अजघन्य कहने के प्रसंग में किया जा चुका है कि वह सादि-सांत होता है।

ध्रुवसत्ता वाली एक सौ तीस प्रकृतियाँ हैं। उनमें से एक सौ छब्बीस प्रकृतियों के विकल्पों का विचार किया जा चुका है और शेष चार प्रकृतियों का कहते हैं कि मिथ्यात्वमोहनीय की ध्रुवसत्ता है, लेकिन सम्यकत्व और मिश्र मोहनीय रूप उसका पतदग्रह स्थायी नहीं होने से उसका किसी भी प्रकार का कोई संक्रम सदैव होता नहीं है। किन्तु जब पतदग्रह प्रकृति हो तब होता है और वह भी भव्यात्मा को नियतकाल पर्यन्त होता है, इसलिये इसके जघन्य आदि चारों विकल्प सादि-सांत हैं। अभव्य के तो मिथ्यात्व के प्रदेशों का संक्रम ही नहीं होता है।

नीचगोत्र और साता-असाता वेदनीय परावर्तमान प्रकृति होने से उनके अजघन्यादि सादि-सांत जानना चाहिये। क्योंकि जब साता का बंध हो तब असातावेदनीय का संक्रम हो और असाता का बंध हो तब सातावेदनीय का संक्रम हो। उच्चगोत्र का बंध होने पर नीचगोत्र का संक्रम होता है और नीचगोत्र का बंध हो तब उच्चगोत्र का संक्रम होता है। जो प्रकृति बंधती हो उसमें अवध्यमान प्रकृति का अजघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, इसलिये उन प्रकृतियों के अजघन्य आदि संक्रम स्थायी नहीं होने से उनमें सादि-सांत भंग ही घटित हो सकते हैं तथा अद्वृत सत्ता वाली अट्ठार्हस प्रकृतियों के अजघन्यादि प्रदेशसंक्रम उनके अद्वृतसत्ता वाली होने से ही सादि-सांत हैं।

इस प्रकार से साद्यादि भंग प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगमता से बोध करने वाला जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

प्रदेशांकम की साक्षाति संग प्रस्तुपणा

| प्रकृतियाँ | अध्ययन्त | | अनुसन्धान | | उत्तराध्य | |
|---|--|---|---|---|---|--|
| | सावि | अध्युव | अनादि | ध्रुव | सावि | अध्युव |
| अनन्तरोक्त २१ रहित १०५ ध्रुव सत्ताका | उपशम शेणि गे पतित ज्ञाना ५. दर्शना ५. बांतराय ५ औदारिक सप्तक (२?) | अभ्यम साक्षा- प्राप्त कर्मण ज्ञाना ५. दर्शना ५. बांतराय ५ औदारिक सप्तक (२?) | अभ्यम साक्षा- प्राप्त कर्मण ज्ञाना ५. दर्शना ५. बांतराय ५ औदारिक सप्तक (२?) | अभ्यम शेणि से होने से कर्मण ज्ञाना ५. दर्शना ५. बांतराय ५ औदारिक सप्तक (२?) | उपशम शेणि से कर्मण ज्ञाना ५. दर्शना ५. बांतराय ५ औदारिक सप्तक (२?) | अभ्यम शेणि से कर्मण ज्ञाना ५. दर्शना ५. बांतराय ५ औदारिक सप्तक (२?) |
| शेष अधुव सत्ताका | अधुव सत्तावाली व. होने से | अधुव सत्तावाली व. होने से | अधुव सत्ता होने से | अधुव सत्ता होने से | अधुव सत्ता होने से | अधुव सत्ता होने से |
| नीच्योक्त सातां-क्षाता | परावर्त माना त्रिवेष | पतदश्वा ध्रुव होने परावर्त से | पतदश्वा ध्रुव होने परावर्त से | पतदश्वा ध्रुव होने परावर्त से | पतदश्वा ध्रुव होने परावर्त से | पतदश्वा ध्रुव होने परावर्त से |

स्वामित्व प्ररूपणा

अब स्वामित्व प्ररूपणा करने का क्रम प्राप्त है। वह दो प्रकार की है—उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व और जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व। जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामी शुणितकर्मीश और उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी गुणितकर्मीश जीव है। उसमें भी औदारिक-सप्तक, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुर्क और अंतरायपंचक इन इकलीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी शुणितकर्मीश मिथ्याहृष्टि है और शेष प्रकृतियों के स्वामी यथासंभव ऊपर के गुणस्थानवर्तों जीव हैं। जिसका स्पष्टीकरण यथास्थान आगे किया जा रहा है। परन्तु शुणितकर्मीश किसे कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? इसको स्पष्ट करने के लिये एहते गुणितकर्मीश की व्याख्या करते हैं।

गुणितकर्मीश

बायरतसकालूणं कर्मठिह जो उ बायरपुढवीए।

पञ्जसापज्जसदीहेयर आउगो बसिउ ॥८५॥

जोगकसाउकोलो बहुसो आउं जहन्न जोगेण ।

बंधिय उवरिल्लासु ठिइसु निसेग बहुं किर्चा ॥८६॥

बायरतसकालमेवं बसितु अंते य सत्तमविलहए ।

लहुपज्जत्तो बहुसो जोगकसायाहिओ होउं ॥८७॥

जोगजबमज्ज उवरि मुहृत्तमच्छितु जीवियवसाणे ।

तिचरिमदुचरिमसमए पूरितु कसायमुक्कोसं ॥८८॥

जोगुक्कोसं दुचरिमे चरिमसमए उ चरिमसमयंमि ।

संपुज्जगुणियकर्म्मो पगायं तेणेह सामित्ते ॥८९॥

शब्दार्थ— बायरतसकालूण—बादर ऋसकाय की कायस्थिति काल से न्यून, कर्मठिह—कर्मस्थिति, जो—जो, उ—और बायरपुढवीए—बादर

पृथ्वी में, पञ्चाशापञ्जस—पर्याप्ति और अपर्याप्ति भवों में, दीहेपर आठगो—दीर्घं और अल्प आयु से, वसित्त—रहकर।

बायरतसकालमेव—उत्कृष्ट है और इनाम में, लहुसो—अनेक बार, आड़—आयु को, जहज जोगेण—जघन्य योग से, अधिष्ठित—बांधकर, उत्तरिल्लाखु—ऊपर के, छिसु—स्थितिस्थानों में, निसेण—निषक को, एवु—प्रभूत, किहचार—करके।

बायरतसकालमेव—बादर असकाल में भी इसी प्रकार, वसित्तु—रहकर, अते—अंत में, य—और, सत्तमकिष्टइए—सातवीं नरकपृथ्वी में, लहुपञ्जसो—शीघ्र पर्याप्तपना प्राप्त कर, लहुसो—अनेक बार, जोगकसायाहिओ—उत्कृष्ट योग एवं कथाय वाला, होउ—होकर।

जोगजवमज्जा—योग यवमध्य से, उचरि—ऊपर, मुहुत्तमचित्तु—अन्तर्मुहूर्त रहकर, जीवियवसाणे—आयु के अन्त में, तिचरिमद्वाचरित्समए—त्रिचरम और द्विचरम समय में, पूरितु—पूरित कर, कसायसुकोसं—उत्कृष्ट कथाय।

जोगुक्कोसं—उत्कृष्ट योग, द्वुचरिसे—द्विचरम में, चरित्समए—चरम समय में, उ—और, चरित्समयेमि—चरम समय में, सपुभगुचिकम्भो—संपूर्ण गुणितकर्माश, पगवं—प्रकृत, तेणेह—उसका यहाँ, समित्ते—स्वामित्व में।

गाथार्थ—कोई जीव बादर असकाय की कायस्थितिकाल न्यून कर्मस्थिति पर्यन्त बादर पृथ्वी में पर्याप्त और अपर्याप्त भवों में दीर्घं और अल्प आयु से रहकर—

अनेक बार उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट कथाय में रहते एवं आयु को जघन्य योग से बांध कर तथा ऊपर के स्थितिस्थानों में कर्म का निषेक प्रभूत (अधिक) करके बादर अस में उत्पन्न हो, तथा—

वहाँ (बादर अस में) भी इसी प्रकार अपने कायस्थितिकाल पर्यन्त रहकर और अंत में सातवीं नरक पृथ्वी में शीघ्र पर्याप्तपना प्राप्त करके और वहाँ अनेक बार उत्कृष्ट योग एवं उत्कृष्ट

कषाय वाला होकर—

अपनी आयु के अंत में योग के यवमध्य के ऊपर के योग-स्थानों में अन्तर्गुह्यता पर्यन्त इकार तथा शिवरम एवं दिव्यरम समय में उत्कृष्ट कषाय और द्विचरम एवं चरम समय में उत्कृष्ट योग पूरित करते ।

द्विचरम और चरम समय में उत्कृष्ट योग वाला हो । इस विधि से अपने आयु के चरम समय में वह सत्तम नरकपृथ्वी का जीव संपूर्ण गुणितकर्मी होता है । ऐसा जीव ही प्रकृत में—उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व के विषय में—अधिकृत है । अर्थात् ऐसे जीव का ही यहाँ अधिकार है । ऐसा गुणितकर्मी जीव उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—इन पांच गाथाओं में आचार्य ने गुणितकर्मी जीव की स्वरूपव्याख्या की है । गुणितकर्मी अर्थात् प्रभूत कर्मवर्गणाओं से सम्पन्न-युक्त जीव । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ऋस जीव दो प्रकार के हैं—१. सूक्ष्म ऋस और २. बादर ऋस । द्वीन्द्रियादि जीव बादर ऋस और तेजस्काय तथा बायुकाय के जीव सूक्ष्म ऋस कहलाते हैं । यहाँ सूक्ष्म ऋसों का व्यवलेद करने के लिये प्रथकार आचार्य ने बादर पद ग्रहण किया है । द्वीन्द्रिय आदि बादर ऋसों की पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण जो कायस्थितिकाल कहा है, उससे न्यून मोहनीयकर्म की सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति पर्यन्त कोई जीव बादर पृथ्वीकाय के भवों में से पर्याप्त के भवों में दीर्घ आयुष्य से और अपर्याप्त के भवों में अल्प आयुष्य से रहे ।

यहाँ बादर और पर्याप्त विशेषण युक्त पृथ्वीकाय के जीव को ग्रहण करने का कारण यह है कि शेष एकेन्द्रियों की अपेक्षा बादर पृथ्वीकाय की आयु अधिक होती है तथा शेष एकेन्द्रियों की अपेक्षा पर्याप्त खर बादर पृथ्वीकाय के अत्यन्त बलबान होने से दुःख सहन

करने की धमता उसमें अधिक होती है, जिससे उसे बहुत से कर्म-पुद्गलों का क्षय नहीं होता है, अर्थात् ऐसे जीव के कर्मबन्ध अधिक होता है और क्षय अल्प प्रमाण में।

'पञ्जत्तापञ्जत' पद से पर्याप्ति के बहुत से भव और अपर्याप्ति के अल्प भव ग्रहण करने का स्वेच्छा किया है। निरन्तर अपर्याप्ति के भव नहीं करने और दीच में अल्प (कुछ) अपर्याप्ति के भी भव ग्रहण करने का कारण यह है कि मिर्फ़ पर्याप्ति की उत्तीर्णी कायस्थिति नहीं होती है, किन्तु पर्याप्ति-अपर्याप्ति दोनों को मिलाकर होती है। जिससे पूर्ण कायस्थिति को ग्रहण करने के लिये दीच में अपर्याप्ति के भव लिये हैं, अर्थात् दो हजार साँगरोपम न्यून सत्तर कोडाकोडी साँगरोपम प्रमाण स्वकायस्थिति में जितने कम में कम हो सकते हैं उतने अपर्याप्ति के भव और शेष सब पर्याप्ति के भव ग्रहण करना चाहिये।

इन भवों में भी अपर्याप्ति के भव अल्प और पर्याप्ति के भव अधिक ग्रहण करने का कारण यह है कि अधिक कर्मपुद्गलों का सत्ता में से क्षय न हो। अन्यथा निरन्तर जन्म और मरण को प्राप्त करते हुए प्रभूत (बहुत) कर्मपुद्गलों का सत्ता में से क्षय होता है। किन्तु यहाँ उसका प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो बंध अधिक हो और सत्ता में से क्षय अल्प हो उससे प्रयोजन है। क्योंकि यहाँ गुणितकर्मांश का स्वरूप बताया जा रहा है।

इस प्रकार से पर्याप्ति के अनेक-बहुत से और अपर्याप्ति के अल्प भवों को करके अनेक बार उत्कृष्ट योगस्थान में और कषायोदय-जन्य संक्लेशस्थान में रहकर अर्थात् अनेक बार उत्कृष्ट योग एवं उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला होवे।

यहाँ उत्कृष्ट योग में और उत्कृष्ट संक्लेश में रहने के संकेत करने का कारण यह है कि उत्कृष्ट योगस्थान में वर्तमान जीव अधिक मात्रा में कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है और उत्कृष्ट संक्लेशस्थान में वर्तमान जीव उत्कृष्ट स्थिति बांधता है, अधिक कर्मपुद्गलों की उद्वर्तना और अल्प कर्मदलिक की अपवर्तना करता है। अधिक

उद्वर्तना और अल्प अपवर्तना करने का कारण ऊपर के स्थानों को कर्मदलिकों से पुष्ट करने का संकेत करता है।

इसके बाद प्रत्येक भव में आयु के बंधकाल में जघन्य योग से आयु का बंध करके और यहाँ जघन्य योग से आयु का बंध करने का कारण यह है कि यद्यपि आयु के योग्य उत्कृष्ट योग में रहता जीव आयुकर्म के बहुत से पुद्गलों को ग्रहण करता है, परन्तु तथाप्रकार के जीवस्वभाव से ज्ञानावरणकर्म के अधिक पुद्गलों का क्षय करता है। यहाँ जो मात्र ज्ञानावरण कर्म के ही अधिक पुद्गलों का क्षय करने को कहा है उसमें जीवस्वभाव ही कारण है। किसी भी कर्म के प्रभूत पुद्गल सत्ता में से कम हों, उसका यहाँ प्रयोजन नहीं है, इसीलिये जघन्य योग से आयु बंध करने का संकेत किया है।

इसके बाद ऊपर के स्थितिस्थानों में कर्मपुद्गलों को क्रमबद्ध व्यवस्थित निश्चिप्त करने रूप निषेक अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अधिक करके और (क्योंकि ऊपर के स्थानों में अधिक निषेप करने के कथन का कारण यह है कि नीचे के स्थान तो उदय द्वारा भोगे जाकर क्षय हो जायेगे, परन्तु ऊपर के स्थानों में प्रक्षिप्त दलिक ही गुणितकर्मीश होने तक स्थित रह सकेंगे) इस प्रकार से बादर पृथ्वीकाय में पूर्वकोटि पृथक्त्वाधिक दो हजार सामरोपम न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त रहकर वहाँ से निकले और निकलकर बादर त्रसकाय में उत्पन्न हो।

फिर ऊपर जो गुणितकर्मीश के योग्य विधि कही है, उस विधि पूर्वक पूर्वकोटि पृथक्त्वाधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण बादर त्रस-काय के कायस्थितिकालपर्यन्त बादर त्रस में रहकर, उतने काल में अधिक से अधिक चितनी बार सातवीं नरकपृथ्वी में जा सके उतनी बार उस पृथ्वी में जाये और उन नारक भवों में के अंतिम सातवीं नरकपृथ्वी के भव में अन्य समस्त दूसरे नारकों से शीघ्र पर्याप्तभाव को प्राप्त हो—शीघ्र पर्याप्त हो।

यहाँ अपर्याप्ततास्था में काल वह जाए जिसलिये शीत पर्याप्ति-भाव प्राप्त करने का संकेत किया है तथा सातवीं नरकपृथ्वी में अनेक बार उत्कृष्ट योगस्थान और उत्कृष्ट कषायोदयजन्य उत्कृष्ट संक्लेशस्थान को प्राप्त होता है और सातवीं नरकपृथ्वी के भव में वर्तमान जीव की आयु दीर्घ होती है एवं उत्कृष्ट कषायजन्य उत्कृष्ट संक्लेश तथा उत्कृष्ट योग हो सकता है। इसलिये जितनी बार जाया जा सके, उतनी बार सातवीं नरकपृथ्वी में जाये यह संकेत किया है तथा अपर्याप्ति की अपेक्षा पर्याप्ति का योग असंख्यातगुणा होता है और अधिक योग होने के कारण अधिक कर्मपुद्गलों को ग्रहण कर सकता है तथा गुणितकर्मीश के प्रसंग में जो अधिक कर्मपुद्गलों का ग्रहण करे और अल्प दूर करे, ऐसे जीव का प्रयोजन होने से शीघ्र पर्याप्त हो यह कहा है।

इसके बाद जो पहले योगाधिकार में आठ समय कालमान वाले योगस्थान कहे हैं, उनकी यबमध्य संज्ञा है। अतः पहले जिसका वर्णन किया है ऐसा वह सातवीं नरकपृथ्वी का जीव अपनी अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब यबमध्य योगस्थान से ऊपर के सात, छह आदि समय के काल वाले योगस्थानों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनुक्रम से बढ़ता जाये अर्थात् अनुक्रम से बुद्धिगत योगस्थानों में जाये। योग में बढ़ने के कारण वह अधिक कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है तथा अपनी आयु के अंत समय से पूर्व तीसरे और दूसरे समय में उत्कृष्ट कषायोदय-जन्य उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामी हो और दूसरे समय में तथा पहले—अपनी आयु के अंतिम समय में उत्कृष्ट योग वाला हो।

यहाँ उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट संक्लेश दोनों एक साथ एक समय, काल ही होते हैं, अधिक काल नहीं होते हैं, इसीलिये तीसरे और दूसरे समय में उत्कृष्ट संक्लेश तथा दूसरे और पहले समय अर्थात् नरकायु के अंतिम समय में उत्कृष्ट योग इस प्रकार सम-विषम रूप से उत्कृष्ट संक्लेश एवं उत्कृष्ट योग ग्रहण किया है। त्रिचरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट संक्लेश ग्रहण करने

का कारण उद्वर्तना अधिक हो और अपवर्तना अल्प हो, यह है तथा चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग ग्रहण करने का कारण कर्म-पुद्यगलों का परिपूर्ण संचय हो, यह है। इस प्रकार के स्वरूप वाला नारक अपनी आयु के चरम समय में सम्पूर्ण गुणितकर्माणि होता है।

उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम की स्वामित्वप्ररूपणा में उपर्युक्त स्वरूप वाले गुणितकर्माणि जीव का ही अधिकार है। क्योंकि वैसा उत्कृष्ट प्रदेश का संचय-सत्ता वाला जीव ही उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कर सकता है।

इस प्रकार से गुणितकर्माणि—अधिक-से-अधिक कर्माणि की सत्ता वाले जीव का स्वरूप जानना चाहिये। अब किस प्रकृति का कौन उत्कृष्ट प्रदेश का संक्रम करता है, इसके लिये आचार्य गाथासूत्र कहते हैं।

औदारिकसप्तक आदि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तत्त्वे तिरियाग्य आलिगोवर्द्धि उरलएक्कबीसाए ।

सायं अणंतर बंधिङ्गण आली परमसाए ॥६०॥

शब्दार्थ—तत्त्वे—वहाँ से—सातवीं नरक पृथ्वी से निकलकर, तिरियाग्य—तिर्यचगति में आगत-आया हुआ, आलिगोवर्द्धि—एक आवलिका के जाने के बाद, उरलएक्कबीसाए—ौदारिकादि इकीस प्रकृतियों का, सायं—सातावेदनीय को, अणंतर—अनन्तर, बंधिङ्गण—बांधकर, आली—आवलिका, परमसाए—बाद में असातावेदनीय में।

गाथार्थ—वहाँ से—सातवीं नरकपृथ्वी से निकलकर तिर्यचगति में आया हुआ वह जीव आवलिका जाने के बाद ौदारिक आदि इकीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। तिर्यचगति में साता को बांधकर आवलिका के अनन्तर बध्यभान असातावेदनीय में सातावेदनीय का संक्रम करे, वह उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम है।

विशेषार्थ—पूर्व में जिसका स्वरूप कहा है, ऐसा वह गुणित-कर्मीश जीव सातवीं नरकपृथ्वी से निकलकर पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय में उत्पन्न हो और वहाँ वह तिर्यंच अपने भव की प्रथम आवलिका के चरम समय में औदारिकसप्तक, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक रूप इकीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।^१ इसका कारण यह है कि नरकभव के चरम समय में उत्कृष्ट योग द्वारा उपर्युक्त इकीस प्रकृतियों के प्रभूत कर्मदलिक ग्रहण किये हैं, उनको बंधावलिका के बाद संक्रमित करता है, उससे पूर्व नहीं तथा अन्य कोई दूसरे स्थान पर इतने अधिक कर्मदलिक सत्ता में हो नहीं सकते हैं, इसलिये नारकी में से निकलकर तिर्यंच में आने के बाद उस भव की प्रथम आवलिका के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा—

नरकभव से निकलकर तिर्यंचभव में आये, वहाँ उस भव के प्रथम समय से लेकर सातावेदनीय को उसके उत्कृष्ट बंधकाल पर्याप्त बांधकर तत्पश्चात् असातावेदनीय का बंध करे। उस असातावेदनीय की बंधावलिका के चरम समय में जिसकी बंधावलिका बीत चुकी है, ऐसे तिर्यंच के भव में प्रथम समय से उत्कृष्ट बंधकाल तक बंधा हुआ सम्पूर्ण प्रदेशसत्ता वाला सातावेदनीय कर्म बह्यमान उस असाता-

^१ सातवीं नरकपृथ्वी का जीव वहाँ से निकलकर संस्यात वर्षाधु वाले गर्ज पर्याप्त तिर्यंच में ही उत्पन्न होता है, इसीलिये नारकी के बाद का अनन्तरबतीं तिर्यंच का भव ग्रहण किया है। सातवीं नरकपृथ्वी के जीव में अपनी आगु के चरम समय में बाधे हुए कर्म की बंधावलिका तिर्यंचगति में अपनी प्रथम आवलिका के चरम समय में पूर्ण होती है, इसी कारण वहाँ प्रथम आवलिका का चरम समय ग्रहण किया है।

वेदनीय में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।^१ तथा—

कम्भच्छउवके असुभाणवज्ज्ञमाणीण सुहुमरागते ।

संछोभण्मि नियगे चउबीसाए निषट्टिस्त ॥६१॥

शब्दार्थ—कम्भच्छउवके—चार कर्म को, असुभाणवज्ज्ञमाणीण—अवध्यमान अशुभ प्रकृतियों का, सुहुमरागते—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में, संछोभण्मि—संक्रमण, नियगे—अपने-अपने, चउबीसाए—चौबीस प्रकृतियों का, निषट्टिस्त—अनिवृत्तिबादर को।

गाथार्थ—चार कर्म की अवध्यमान अशुभ प्रकृतियों का सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा अनिवृत्तिबादर को अपने-अपने चरम संक्रम के समय में चौबीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसंपराय अवस्था में अवध्यमान दर्शनावरण, वेदनीय, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की निद्राद्विक, असातावेदनीय, प्रथम बिना पांच संस्थान और पांच संहसन, अशुभ वर्णादि नवक, उपञ्चात, अप्रशस्त त्रिहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, अपशङ्कीति और नीचगोत्र रूप बत्तीस अशुभ

^१ साता-असाता ये दोनों परावर्तमान प्रकृति हैं, अतः अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल बंधती नहीं है। यहाँ रातबी भरक्षृध्वी में जितनी बार अधिक-से-अधिक बंध सके, उल्लंघनी बार असाता को बांधकर उसको पुष्ट वलिक बाली करे, फिर वहाँ से मरण कर तिर्यंच में आकर प्रारम्भ के अन्तर्मुहूर्त में साता का बंध करे और पूर्व की असाता को संक्रमित करे। इस प्रकार संक्रम हारा और बंध द्वारा सातावेदनीय पुष्ट हो, जिससे उसकी बंधा-वलिका बीतने के बाद अनन्तर समय में बंधती हुई असाता में साता का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करे। इस प्रकार से सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम सम्भव हो सकता है।

प्रकृतियों का गुणितकर्मीण क्षपक जीव के सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में (गुणसंक्रम द्वारा) उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

'नियट्रिटस्स' अर्थात् अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान में वर्तमान गुणितकर्मीण क्षपक के मध्यम आठ क्षाय, स्त्यानद्विक्रिक, तियंच-द्विक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, साधारण और छह नोकप्राय इन चौबीस कर्मप्रकृतियों का जिस समय चरम संक्रम होता है, उस समय सर्वसंक्रम द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।
तथा—

संछोभणाए दोण्हं मोहाणं वेयगस्स खणसेसे ।

उप्पाइय सम्बलं मिच्छतगए तमतमाए ॥६२॥

शब्दार्थ—संछोभणाए—संक्रम, दोण्हं—दोनों, मोहाणं—मोहनीय का, वेयगस्स—वेदक का, खणसेसे—क्षण अन्तर्मूहूर्त शेष हो, उप्पाइय—उत्पन्न करके, सम्बलं—सम्यक्त्व को, मिच्छतगए—मिथ्यात्व में जाये, तमतमाए—तमस्तमा नरकपृथ्वी में।

गाथार्थ—दोनों मोहनीय—मिथ्यात्व और मिथ मोहनीय का अपने-अपने चरम संक्रम के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा तमस्तमा नरकपृथ्वी में अन्तर्मूहूर्त आयु शेष रहे तब सम्यक्त्व उत्पन्न करके मिथ्यात्व में जाये तब वेदक सम्यक्त्व-मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

क्षिरोषार्थ—‘दोण्हं मोहाणं’—मोहद्विक अर्थात् मिथ्यात्व और मिथ मोहनीय का क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करते क्षपक जीव के उन दो प्रकृतियों का जिस समय चरम संछोभ-संक्रम हो उस समय सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। मिथ्यात्व और मिथ मोहनीय के चरमखंड की उद्वलना करते उस चरमखंड के दल को पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय में असंल्य-असंल्य गुणाकार से पर में—सम्यक्त्वमोहनीय में चरम समय पर्यन्त निर्दिष्ट करता है, जिससे चरम समय में सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम घटित हो सकता है। चरम समय में जो समस्त दल पर में संक्रमित किया

जाता है, उसे ही सर्वसंक्रम कहते हैं, इसीलिये वहाँ सर्वसंक्रम द्वारा यह कहा है।

तमस्तमा नामक सातवीं नरकपृथ्वी में अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे सब औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके और उस सम्यक्त्व के काल में जितना शक्य हो, उतने दीर्घ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त गुणसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय को मिथ्यात्व एवं मिथ्र मोहनीय के दल को संक्रमित करने के द्वारा पुष्ट करके सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व में जाये, वहाँ उसके—मिथ्यात्व के प्रथम समय में ही सम्यक्त्वमोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करना है।

अब अनन्तानुबंधि के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामी का निर्देश करते हैं।

अनन्तानुबंधि:उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

भिन्नमुहूर्ते सेसे जोगकसाउकसाई काऊण ।

संजोअणाविसंजोयगस्स संछोभाणाए सि ॥६३॥

शब्दार्थ—भिन्नमुहूर्ते—अन्तर्मुहूर्त, सेसे—शेष, जोगकसाउकसाई—योग और कषाय को उत्कृष्ट, काऊण—करके, संजोअणाविसंजोयगस्स—अनन्तानुबंधि के विसंयोजक के, संछोभाणाए—संक्षोभ के समय, सि—इनकी।

गाथार्थ—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब योग और कषाय को उत्कृष्ट करके (नरक में से निकलकर तिर्यच में आकर) अनन्तानुबंधि के विसंयोजक के चरम संक्षोभ-संक्रम के समय इनका (अनन्तानुबंधि कषायों का) उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—सातवीं नरकपृथ्वी में वर्तमान गुणितकर्मीण जीव अपनी जब अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे, तब उत्कृष्ट योगस्थानों और उत्कृष्ट कषायस्थानों को करके उत्कृष्ट योगस्थानों और उत्कृष्ट कषायोदय-जन्य संक्लेशस्थानों को प्राप्त करके उस सातवीं नरकपृथ्वी में से

निकलकर (तिर्यंच में आकर) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करे और उसके बाद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के रहते अनन्तानुबंधि कषायों की उत्कृष्टता क्षय करते के लिये प्रयत्न करे और क्षय करते हुए अनन्तानुबंधि के चरमखंड का चरमप्रक्षेप करे तब सर्वसंक्रम द्वारा उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। इसका तात्पर्य यह है कि चरमखंड का समस्त इलिक चरमसमय में सर्वसंक्रम द्वारा जितना पर में संक्रमित किया जाये, वह अनन्तानुबंधि कषायों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

अब वेदात्रिक के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम-स्वामित्व का निर्देश करते हैं।

वेदात्रिक : उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

ईसाणागयपुरिसस्त इतिथाए व अट्ठवासाए ।

मासपुहुत्तम्भहिए नपुंसगस्त चरिमसंछोभे ॥६४॥

शब्दार्थ—ईसाणागयपुरिसस्त—ईशान देवलोक से आगत पुरुष के, इतिथाए—स्त्री के, व—अथवा, अट्ठवासाए—आठ वर्ष की उम्र वाले, मासपुहुत्तम्भहिए—मासपृथक्त्व अधिक के, नपुंसगस्त—नपुंसकवेद का, चरिमसंछोभे—चरम संक्षीभ के समय ।

गायार्थ—मासपृथक्त्व अधिक आठ वर्ष की उम्र वाले ईशान देवलोक से आगत पुरुष अथवा स्त्री के चरम समय में नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—वेद मोहनीय के पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद ये तीन भेद हैं। इन तीन भेदों में से यहाँ नपुंसकवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामी का निरूपण करते हुए बताया है—

कोई गुणितकर्मीश ईशान देवलोक का देव संकिळष्ट परिणामी द्वारा एकेन्द्रियप्रायोग्य कर्मबंध करते हुए नपुंसकवेद को बार-बार बांधकर, उसके बाद ईशान देवलोक में से च्युत हो पुरुष अथवा स्त्री

हो और वह पुरुष अथवा स्त्री अपनी मासपृथक्त्व अधिक आठ वर्ष की उम्र वाला हो, तब क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो, तब क्षपकश्रेणि में नपुंसकवेद का क्षय करते हुए उस पुरुष अथवा स्त्री को चरमप्रक्षेप^१ काल में सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

अब स्त्रीवेद के संक्रमस्वामित्व का कथन करते हैं—

पूरित् भोगभूमोसु जीविष वासाणि-संखियाणि तओ ।

हस्तिङ्गं तैवाग्य लहु छोमे इत्थिवेयस्त ॥६५॥

शब्दार्थ—पूरित्—पूरित—पूरित करके, भोगभूमोसु—भोगभूमि में, जीविष—जीवित रहकर, वासाणि-संखियाणि—असंख्यात वर्ष, तओ—तदनन्तर, हस्तिङ्गं—जघन्य स्थिति, वैवाग्य—देव में उत्पन्न हो, लहु छोमे—चरम संक्षोभ काल में, इत्थिवेयस्त—स्त्रीदेव का ।

गाथार्थ—भोगभूमि में असंख्य वर्ष पर्यन्त स्त्रीवेद को बांधकर एवं पूरितकर और उत्तना काल वहाँ जीवित रहकर जघन्य स्थिति वाले देव में उत्पन्न हो और वहाँ से च्यव कर मनुष्य में उत्पन्न हो और शीघ्र क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो, वहाँ स्त्रीवेद

१ चरमप्रक्षेप जर्तान् नपुंसकवेद को उद्वलनासंक्रम द्वारा पल्योपम के असंख्यातवे भाग जैसे खंड कर-करके हूर करते हुए चरमखंड के सिवाय ऐष समरत खंडों को रख और पर में संक्रमित करके निर्लेप करता है। प्रत्येक खंड को संक्रमित करते हुए अन्तर्मुहूर्त काल जाता है। इसी प्रकार चरमखंड को पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से पर में संक्रमित करते अन्तर्मुहूर्त के चरम समय में जो समस्त पर में संक्रमित करता है—वह चरमप्रक्षेप कहलाता है।

इसी प्रकार जहाँ भी चरमप्रक्षेप शब्द आये वहाँ चरमखंड का चरम समय में जो समस्त प्रक्षेप हो, उसको प्रहण करना चाहिये ।

का क्षय करते हुए चरम संक्षोभकाल में उसका उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम होता है।

विशेषार्थ— भोगभूमि में असंख्यात वर्षपर्यन्त स्त्रीवेद को बांधकर और अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पूरित करतथा वहाँ उतने ही वर्ष पर्यन्त जीवित रहकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना काल जाये तब अकालमृत्यु^१ द्वारा मरण प्राप्त करके दस हजार वर्ष प्रमाण देव की जघन्य स्थिति बांधकर देवरूप में उत्पन्न हो। इसका तात्पर्य यह है कि युगलिकभव में भात्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग जीवित रहकर और उतने काल में स्त्रीवेद को बार-बार बांधकर तथा अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पुष्ट करके दस हजार वर्ष की जघन्य आयु बांधकर देवरूप से उत्पन्न हो और देव भव में भी स्त्रीवेद का बंध कर एवं पूर्ण कर अपनी आयु के अंत में मरण प्राप्त कर कोई भी वेदयुक्त मनुष्य हो, वहाँ मास-पृथक्त्व अधिक आठ वर्ष की आयु बीतने के बाद क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो और वहाँ स्त्रीवेद का क्षय करते हुए उसके चरम प्रक्षेप-काल में सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने पर स्त्रीवेद का उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम होता है।

अब पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निर्देश करते हैं।

वरिसधरित्य पूरिय सम्यस्तमसंख्यासियं लभिष्य ।

गन्तुं मिच्छुस्तव्यो जहन्नदेवटिठङ्गं भोक्त्वा ॥६६॥

आगन्तुं लहु पुरिसं संछुभमाणस्स पुरिस्वेअस्स ।

^१ इस पद से ऐसा प्रतीत होता है कि युगलिकों की अकाल मृत्यु संभव है। परन्तु सिद्धान्त से इसमें विरोध आता है। विद्वज्जन स्पष्ट करने की कृपा करें।

शब्दार्थ—वरिसवर्तीत्य—नपुंसक और स्त्री वेद को, पुरित—पूर कर, सम्मलमसंख्यात् सियं—असंख्यात् वर्षप्रमाण सम्यक्त्व को, लभित्य—प्राप्त कर, पालन कर, गंहुं—जाकर, मिहृष्टसं—मिथ्यात्व में, अभो—इसके बाद, जहूनवेदविठ्ठः—जघन्य देव स्थिति को, भोक्त्वा भोगकर।

आगच्छु—आकर, लहु—शीघ्र, पुरितं—पुरुषवेद को, संक्षुप्तभाणस्त—संक्षुध करने वाले के, पुरिसवेक्षस्त—पुरुषवेद का।

गायार्थ—नपुंसक और स्त्री वेद को पूरकर, तत्पश्चात् असंख्यात् वर्षप्रमाण सम्यक्त्व प्राप्त कर—पालन कर, बाद में मिथ्यात्व में जाकर, वहाँ से जघन्य देवस्थिति वाला होकर और वहाँ से च्यव कर मनुष्य में उत्पन्न हो, वहाँ शीघ्र ही क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो तो उस श्रेणि में पुरुषवेद को संक्षुध करने वाले, संक्रमित करने वाले वो पुरुषवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—वर्षवर अर्थात् नपुंसकवेद को ईशान देवलोक में बहुत काल पर्यन्त बंध द्वारा तथा स्वजातीय अन्य कर्म प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पूरित, पुष्ट करके, अधिक दलिक की सत्ता वाला करके आपु के पूर्ण होने पर वहाँ से च्यव कर संख्यात् वर्ष की आयु वालों^१ में उत्पन्न होकर फिर असंख्यात् वर्ष की आयु वाले युगलिकों में उत्पन्न हो। वहाँ संख्यात् वर्ष पर्यन्त स्त्रीवेद को बंध द्वारा और अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा पुष्ट करे, तत्पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करे, उस सम्यक्त्व को असंख्यात् वर्ष पर्यन्त पाले और उस सम्यक्त्व के निमित्त से उतने वर्ष पर्यन्त पुरुषवेद का बंध करे। सम्यक्त्व के काल में पुरुषवेद को बांधता

^१ यहाँ 'संख्यात् वर्ष की आयु वाला' इस पद के संकेत से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यच दोनों का ग्रहण किया जा सकता है।

वह जीव उस पुरुषवेद में स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के दलिकों को निरन्तर संक्रमित करता है। युगलिक में पह्योपम के असंख्यात्में भाष प्रभाण सर्वाधिपर्यन्त जोड़ित रहकर अंत में मिथ्यात्म में जाकर दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य आयु वाले देव में उत्पन्न हो, वहाँ अन्तमुङ्गते के बाद पर्याप्त होकर सम्यक्त्व को प्राप्त करे, वहाँ भी सम्यक्त्व के निमित्त से पुरुषवेद का बंध करे और उसमें स्त्री एवं नपुंसक वेद के दलिक संक्रमित करे, उसके अनन्तर देवभव से च्यव कर मनुष्य में उत्पन्न हो और वहाँ सात मास अधिक आठ वर्ष बीतने के बाद क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो तो क्षपकश्रेणि में आरूढ़ वह गुणितकर्मणि जीव अभी तक जिसके प्रचुर दलिकों को एकत्रित किया है, उस पुरुषवेद का जो चरमप्रक्षेप करता है, वह उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

यहाँ बंधविच्छेद होने के पहले दो आवलिका काल में जो दलिक बांधा है, वह अत्यन्त अल्प होने से उसका चरमसंक्रम उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के रूप में नहीं लेना है, किन्तु उसको छोड़कर एकत्रित हुए शेष दलिक का जो चरमसंक्रम होता है, वह उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहलाता है।^१

१ पुरुषवेद जहाँ तक बंधता था, वहाँ तक तो उसका यथाप्रवृत्तसंक्रम होता था और बंधविच्छेद होने के बाद क्षपकश्रेणि में उसका गुणसंक्रम होता है। उस गुणसंक्रम के द्वारा पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात असंख्यात गुणाकार रूप से संक्रमित करते अंतिम जिस समय में उसके पूर्व समय से असंख्यातगुण संक्रमित करे वह उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कह सकते हैं। परन्तु बंधविच्छेद होने के बाद दो समय न्यून दो आवलिका काल में अंतिभ जो सर्वसंक्रम होता है, उसे उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के रूप में नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि सर्वसंक्रम द्वारा अंतिम समय में जो संक्रमित करता है वह बंधविच्छेद के समय जो बंधा था वह शुद्ध एक समय का ही संक्रमित करता है, जिससे वह दलिक अति अल्प

इस प्रकार से वेदविक के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामियों को जानना चाहिये । अब संज्वलनत्रिक—क्रीध, मान, माया के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामियों को जानलाले हैं ।

संज्वलनत्रिक : उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तस्सेव सगे कोहस्स माणमायाणमवि कसिणो प्राहुआ।

शब्दार्थ—तस्सेव—उसी को, सगे—अपना, कोहस्स—कोध का: माणमायाणमवि—मान और माया का भी, कसिणो—कृत्स्न-चरम ।

गाथार्थ—उसी को अपना कृत्स्न चरम संक्रम होने पर क्रीध का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा इसी प्रकार मान और माया का भी उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये ।

चिह्नशार्थ—पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का जिस प्रकार से और जो स्वामी है उसी प्रकार से ही वही संज्वलन क्रीध, मान और माया के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का भी स्वामी है ।

इस संसार में परिष्ठभण करते हुए ब्रांधी गई और क्षपणकाल में नहीं बंधने वाली स्वजातीय अशुभ प्रकृतियों का ग्रणसंक्रम ढारा प्रभूत मात्र में एकत्रित हुए के संज्वलन क्रीध का जब चरम प्रक्षेप होता है, तब उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है । यहाँ भी बैधविच्छ्वेद होने से पहले दो आवलिका काल में जो दलिक बोधे थे, उनको छोड़कर शेष दलिकों के चरम प्रक्षेप के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये ।

संज्वलन मान एवं माया के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिये ।

होने से उस उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के रूप में नहीं गिना जा सकता है । क्रीध, मान, माया का भी इसी तरह उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम सम्भव हो सकता है । विशेष केवलीगम्य है । विद्वज्ञ स्पष्ट करने की कृपा करें ।

अब संज्वलन लोभ, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र के उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम के स्वामियों का निर्देश करते हैं।

संज्वलन लोभ आदि प्रकृतित्रयः उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

चउरुवसमित्तु खिधं लोभजसाणं ससकभस्ते।

चउसमगो उच्चस्सा खबगो नीया चरिमबंधे ॥६८॥

शब्दार्थ—चउरुवसमित्तु—चार बार मोहनीय का उपशम करके, छिधं—शीघ्र, लोभजसाण—संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का, ससक-भस्ते---अपने संक्रम के अंत में, चउसमगो—चार बार मोह का उपशम करने वाला, उच्चस्सा—उच्चगोत्र का, खबगो—क्षपक, नीया—नीचगोत्र का चरिमबंधे—चरमबंध होने पर।

गाथार्थ—चार बार मोहनीय का उपशम करके शीघ्र क्षपक-श्रेणि प्राप्त करने वाले के अपने संक्रम के अंत में (संज्वलन) लोभ और यशःकीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा चार बार मोह का उपशम करने वाले क्षपक के जब नीच-गोत्र का चरम बंध हो तब उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ—'चउरुवसमित्तु' अर्थात् अनेक भवों में भ्रमण करने के द्वारा चार बार मोहनीय को उपशमित करके और चौथी बार की उपशमना होने के बाद शीघ्र क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुए गुणितकर्मण्य उसी जीव को अंतिम संक्रम के समय संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

यहाँ चार बार उपशमश्रेणि प्राप्त करने का कारण इस प्रकार है— उपशमश्रेणि जब प्राप्त करे तब उस श्रेणि में स्वजातीय अन्य प्रकृतियों के प्रभूत दलिकों का गृणसंक्रम द्वारा संक्रम होने से संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति ये दोनों प्रकृति निरन्तर पूरित-पूष्ट होती हैं— प्रभूत दलिकों की सत्ता वाली होती है, इसीलिये उपशमश्रेणि का ग्रहण किया है तथा संसार में परिघ्रमण करते हुए चार बार ही

मोहनीय का पूर्ण उपशम होता है, पांचवीं बार नहीं होता है, इसी-लिये चार बार मोहनीय को उपशमित करके यह कहा है।

संज्वलन लोभ का चरम प्रक्षेप कहाँ होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि संज्वलन लोभ का अन्तर्प्रक्षेप अन्तर्वर्त्य में अवश्यमय में जानना चाहिये उसके बाद नहीं । क्योंकि उसके बाद लोभ का प्रक्षेप-संक्रम ही नहीं होता है । इस विषय में पहले कहा जा चुका है—

अन्तरकरणमि कए चरित्स्मोहेणपुञ्चितसंक्रमणं ।

अन्तरकरण क्रिया काल प्रारम्भ हो तब चारित्स्मोहनीय की उस समय बंधने वाली प्रकृतियों का क्रमांक संक्रम होता है, उत्क्रम से संक्रम नहीं होता है । जिससे अन्तरकरण क्रिया शुरू होने के बाद तो संज्वलन लोभ का संक्रम ही नहीं होता है । अतः जिस समय से लोभ का संक्रम बंद हुआ, उससे पहले के समय में बंध और अन्य प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पुष्ट हुए उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है ।

इसी प्रकार अपूर्वकरणगुणस्थान में जिस समय नामकर्म की तीस प्रकृतियों का अतिम बंध होता है, उस समय बंध द्वारा और स्वजातीय अवध्यमाल अन्य प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पुष्ट हुई यशः-कीर्ति प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है । तीस प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के बाद वह अकेली यशःकीर्ति प्रकृति ही बंधने से वही पतद्यग्रह है, अन्य कोई पतद्यग्रहप्रकृति नहीं है, जिससे यशःकीर्ति का संक्रम नहीं होता है । यही स्पष्ट करने के लिये तीस का बंध-विच्छेद समय ग्रहण किया है ।

अब उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहाँ होता है ? इसको स्पष्ट करते हैं—

मोह का उपशम करते हुए मात्र उच्चगोत्रकर्म ही बंधता है, नीचगोत्र नहीं बंधता है । इतना ही नहीं, किन्तु नीचगोत्र के दलिक गुणसंक्रम द्वारा उच्चगोत्र में संक्रमित होते हैं । इसीलिये यहाँ भी

चार बार मोहनीय के सर्वोपशम का संकेत किया है। यानि चार बार मोहनीय को उपशमित करता हुआ—उच्चगोत्र को बांधता जीव नीचगोत्र को गुणसंक्रम द्वारा उच्चगोत्र में संक्रमित करता है। चार बार मोह का सर्वोपशम दो भव में होता है, जिससे दो भव में चार बार मोहनीय को उपशमित करके तीसरे भव में मिश्यात्व में जाये, वहाँ नीचगोत्र बांधे और नीचगोत्र को बांधता हुआ उसमें उच्चगोत्र को संक्रमित करे, उसके बाद पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर उसके बल से उच्चमोज को बांधता दुक्षा उसमें नीचगोत्र को संक्रमित करे। इस प्रकार अनेक बार उच्चगोत्र और नीचगोत्र को बांधता^१ बत में नीचगोत्र का बंधविच्छेद कर मोक्षगमनेच्छुक जीव नीचगोत्र के बंध के चरण समय में बंध और गुणसंक्रम द्वारा पुष्ट हुए उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। इस प्रकार से उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

पराघातादि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वाभित्व

परघात सकलतसच्चसुसरादितिसासखगतिच्चउरंसं ।

सम्मधुवा रिसभजुपा संकामइ विरचिया सम्मो ॥६६॥

शब्दार्थ—परघात—परघात, सकल—संपूर्ण (पञ्चेन्द्रियजाति), तसच्चउ—त्रसच्चतुर्षक, सुसरादिति—मुखरादित्रिक, सास—उच्छ्वासनाम, खगति—शुभ विहायोगति, चउरंस—त्रसच्चतुरस्त्रसंस्थान, सम्म—सम्यग्हर्षाट, धुवा—ध्रुवबंधिनी, रिसभजुपा—वज्रऋभषनाराचसंहनन सहित, संकामइ—संक्रमित करता है, विरचिया सम्मो—सम्यग्हर्षाट युक्त।

गाथार्थ—परघात, पञ्चेन्द्रियजाति, त्रसच्चतुर्षक, मुखरादित्रिक, उच्छ्वासनाम, शुभ विहायोगतिनाम और सम्चतुरस्त्रसंस्थान

१ यहाँ एक के बाद दूसरा इस क्रम से कितनी ही बार उच्चगोत्र और नीचगोत्र बांधे, यह नहीं कहा है।

रूप सम्यग्हटि की शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियाँ वज्रकृषभनाराच-
संहनन सहित सम्यग्हटि युक्त जीव संक्रमित करता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में तेरह शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के
उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निर्देश किया है—

पराधातनाम, पञ्चेन्द्रियजाति, त्रसचतुष्क—त्रस, ब्रादर, पर्याप्ति
और प्रत्येक, मुस्वरादित्रिक—मुस्वर, मुभग, आदेय तथा उच्छवास-
नाम, प्रशस्त विहायोगति और समचतुरस्स्थाननाम इन बारह
पुण्य प्रकृतियों का प्रत्येक गति बाला सम्यग्हटि जीव प्रति समय
अवश्य बंध करता है। जिससे ये प्रकृतियाँ 'सम्यग्हटि शुभध्रुवसंज्ञा'
बाली कहलाती हैं तथा वज्रकृषभनाराचसंहनन को तो देव और
नारक भव में वर्तमान सभी सम्यग्हटि जीव ही प्रति समय बांधते
हैं, मनुष्य, तिर्यच नहीं बांधते हैं। सम्यग्हटि मनुष्य और तिर्यच तो
मात्र देवादित्रियों अछृतियों को ही बांधते हैं और उनका बंध
करने वाले होने से उनको संहनन का बंध नहीं होता है, जिससे प्रथम
संहनननामकर्म सम्यग्हटि शुभध्रुवसंज्ञा बाला नहीं कहलाता
है। इसीलिये उसे बारह प्रकृतियों से पृथक् कहा है।

इन तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम इस प्रकार है—

छियासठ सागरोपम पर्यन्त क्षयोपशमिक सम्यक्त्व का अनुपालन
करता जीव प्रति समय उपर्युक्त प्रकृतियों को बांधता है। तत्पश्चात्
अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त मिथगुणस्थान में जाकर द्वासरी बार क्षयोपशमिक
सम्यक्त्व प्राप्त करे। उस द्वासरी बार प्राप्त किये क्षयोपशमिक
सम्यक्त्व को भी छियासठ सागरोपम पर्यन्त अनुभव करता वह जीव
इन समस्त प्रकृतियों को बांधता है। सम्यग्हटि जीव को इन प्रकृतियों
की विरोधी प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। यहाँ इतना विशेष
है कि—

उपर्युक्त तेरह प्रकृतियों में से बारह का तो एक सौ बत्तीस
सागरोपम पर्यन्त निरंतर बंध और प्रथम संहनन का देव, नारक के

भव में जब-जब जाये तब बंध लेना चाहिए। इस प्रवार सम्यग्वृष्टि होते सम्यक्त्वी के जिनका बंध ध्रुव है, ऐसी बारह प्रकृतियों को एक सौ बत्तीस सातगोप्तम पर्यन्त बंध द्वारा और अन्य स्वजातीय प्रकृतियों के संक्रम द्वारा पुष्ट करके तथा वज्रकृष्णभनाराचसंहनन को मनुष्य, तिर्यक्त भव हीन देव, नारक भव में यथासंभव उत्कृष्ट काल तक बंध द्वारा और अन्य स्वत्तातीर्थ प्रकृतियों के राङ्गण द्वारा परिष्ठ करके सम्यग्वृष्टि के शुभध्रुवसंज्ञा वाली उपर्युक्त बारह प्रकृतियों का अपूर्वकरणगुणस्थान में बंधविच्छेद होने के बाद बंधावलिका पूर्ण होने के अनन्तर यशःकीर्ति में संक्रमित करते उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा

वज्रकृष्णभनाराचसंहनन का देवभव से च्यवकर मनुष्यभव में आकर सम्यग्वृष्टि होते देवगतिप्रायोग्य बंध करते आवलिका काल के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। देवभव में चरम समय जो प्रथम संहनननामकर्म बंधा, उसका बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रम होता है, इसीलिये देव से मनुष्य में आकर आवलिका काल के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है।

प्रश्न—बारह प्रकृतियों के साथ ही प्रथम संहनन का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम क्यों नहीं बताया, पृथ्वे से निर्देश क्यों किया है?

उत्तर—बारह प्रकृतियों तो आठवें गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त निरन्तर बंधती हैं, क्योंकि ये सम्यग्वृष्टि ध्रुवसंज्ञा वाली हैं। जिससे बंध द्वारा और सातवें गुणस्थान तक यथाप्रदृत्तसंक्रम द्वारा तथा आठवें गुणस्थान के प्रथम समय से अन्य स्वजातीय अशुभ प्रकृतियों के गुणसंक्रम द्वारा अतीव प्रभूत दल वाली होती है, इसलिये आठवें गुणस्थान में बंधविच्छेद होने के बाद एक आवलिका—बंधावलिका का अतिक्रमण करके बृथ्यमान यशःकीर्तिनाम में इन बारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है तथा प्रथम संहनन तो सम्यग्वृष्टि मनुष्य को बंधता नहीं, क्योंकि सम्यग्वृष्टि मनुष्य तो देवभवयोग्य प्रकृतियों का बंध करता है, जिससे मनुष्यभव में वह बंध द्वारा पुष्ट नहीं होता

है तथा वंश नहीं होने से उसमें अन्य किन्हीं प्रकृतियों के दलिक संक्रमित भी नहीं होने हैं। अतएव यदि आठवें गुणस्थान में बारह प्रकृतियों के साथ उसका उत्कृष्ट संक्रम कहा जाये तो वह अटित नहीं होता है। क्योंकि देव में से मनुष्य में आकर जहाँ तक आठवें गुणस्थान में ब्रह्मविच्छेदस्थान तक नहीं पहुँचे, वहाँ तक व्यज्ञकृषभ-नाराचसंहनन को अन्य में संक्रमित करने के द्वारा हीनदल बाला करेगा। जिससे बारह के साथ उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम अटित नहीं हो सकता है। इसीलिये देव से मनुष्य में आकर आबलिका के बीतने के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है।

नरकद्विकादि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

तरथद्वुगस्त विष्णोमे पुष्पकोडीपुहुत्तनिचियस्त ।

थावरउज्जोयायवएगिदीणं नपुंससमं ॥१०७॥

शब्दार्थ—नरथद्वुगस्त—नरकद्विक आ, विष्णोमे—चरम प्रक्षेप के समय, पुष्पकोडीपुहुत्तनिचियस्त—पूर्व कोटिपृथक्त्व पर्यन्त वाखि गये, थावरउज्जोयायवएगिदीणं—स्थानर, उद्योग, आत्मनाम और एकेन्द्रिय-जाति का, नपुंससमं—नपुं सकवेद के समान।

गाथार्थ—पूर्वकोटिपृथक्त्व तक वाखि गये नरकद्विक का (नीबें गुणस्थान में उसके) चरमप्रक्षेप के समय उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम होता है तथा स्थानर, उद्योग, आत्मनाम और एकेन्द्रिय-जाति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम नपुं सकवेद की तरह जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्वकोटि वर्ष की आयु बाले तिथीन के सात भवों में बार-बार नरकगति, नरकानुशूलि रूप नरकद्विक का वंश करे और आठवें भव में मनुष्य होकर क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हो तो आरूढ़ हुए उस जीव के नरकद्विक को अन्यत्र संक्रमित करते जब चरम प्रक्षेप हो, तब सर्वसंक्रम द्वारा उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा—

स्थावरनाम, उद्योतनाम, आतपनाम और एकेन्द्रियजाति इन चार प्रकृतियों का उल्कृष्ट प्रदेशसंक्रम नयुंसक्वेद की तरह होता है। नयुंसक्वेद का उल्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जिस तरह बताया गया है, उसी प्रकार इन चार प्रकृतियों का भी उल्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

मनुष्याद्विक का उल्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वापित्व

तेत्तीसयरा पालिय अन्तमुहूर्तूणगाई सम्मतं ।

बंधितु सत्तमाओ निगम्म समए नरदुगस्स ॥१०१॥

शब्दार्थ——तेत्तीसयरा—तेत्तीरा सागरोपम, पालिय—पालन करके, अन्तमुहूर्तूणगाई—अन्तमुहूर्तन्यून, सम्मतं—सम्यक्त्व को, बंधितु—बांधकर, सत्तमाओ—सातवीं नरकपृथ्वी से, निगम्म—निकलकर, समए—समय में नरदुगस्स—मनुष्याद्विक का ।

गाथार्थ—अन्तमुहूर्तन्यून तेत्तीस सागरोपमपर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर और उन्हें काल सम्यक्त्व के निमित्त से मनुष्याद्विक का बंध कर सातवीं नरकपृथ्वी से निकलकर तिर्यचभव में जाये, तब उस तिर्यचभव में प्रथम समय में ही मनुष्याद्विक का उल्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ—सातवीं नरकपृथ्वी का कोई नारक जीव पर्याप्त होने के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करे और उसका अन्तमुहूर्तन्यून^१ तेत्तीस

१ यहाँ अन्तमुहूर्तन्यून कहने का कारण यह है कि सम्यक्त्व लेकर वोईं जीव सातवीं नरकभूमि में जाता नहीं है और सम्यक्त्व लेकर सातवीं नरक से अन्य गति में भी नहीं जाता है। परन्तु पर्याप्त होने के बाद सम्यक्त्व उल्पन्न कर सकता है और अंतिम अन्तमुहूर्त में उसका बमन कर देता है। जिससे आदि के और अंत के द्वारा प्रकार वो अन्तमुहूर्त मिलकर एक बड़े अन्तमुहूर्तन्यून तेत्तीस सागरोपम का सम्यक्त्व का काल सातवीं नारकी में संभव है।

भागरोपम पर्यन्त अनुभव करे। उतने काल वह सातवीं नरकपृथ्वी का जीव सम्बन्ध के प्रभाव से मनुष्यद्विक बनि और बांधकर अपनी आगु के अतिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व में जाए, वह मनुष्यनिमित्तक तिर्यचद्विक बांधता हुआ वह गुणितकार्मीश सातवीं नरकपृथ्वी का जीव वहाँ से निकलकर तिर्यचगति में जाए, वहाँ पहले ही समय में बछ्यमान तिर्यचद्विक में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा मनुष्यद्विक को संक्रमित करते हुए उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

प्रश्न— सातवीं नरकपृथ्वी में सम्बन्धत्वनिमित्तक मनुष्यद्विक को बांधकर अतिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व में जाकर मनुष्यद्विक की बंधावलिका बीतने के बाद मिथ्यात्वनिमित्तक बंधने वाले तिर्यचद्विक में मनुष्यद्विक को संक्रमित करते उसका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम क्यों नहीं कहलाता है ? और अन्तर्मुहूर्त के बाद तिर्यचगति में जाकर उतने काल मनुष्यद्विक को अन्य में संक्रम के द्वारा कुछ कम करके तिर्यचभव के पहले समय में तिर्यचद्विक में संक्रमित करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम दयों कहलाता है ?

उत्तर— सातवीं नरकपृथ्वी में मिथ्यात्वगुणस्थान में भवनिमित्तक मनुष्यद्विक का बंध नहीं होता है। जो प्रकृतियां भव या गुण निमित्तक बंधती नहीं हैं, उनका विध्यात्वसंक्रम होता है, यह बात पूर्व में कही जा चुकी है। इसलिये सातवीं नरकभूमि के नारक में अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में विध्यात्वसंक्रम द्वारा मनुष्यद्विक संक्रमित होगी और तिर्यचभव के पहले समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित होगी। क्योंकि तिर्यचभव में उसका बंध है। विध्यात्वसंक्रम द्वारा जो दलिक अन्य में संक्रमित होता है, वह अत्यन्त अल्प और यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा जो संक्रमित होता है, वह अधिक—बहुत होता है। इसीलिये तिर्यचभव में पहले समय में मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है।

तीर्थकरनाम आदि का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वाधित्व

तित्थयराहररणं सुरगहनवगस्स धिरसुभाणं च ।

सुभुवबंधीण तहा सगबंधर आलिगं गंतु ॥१०२॥

शब्दार्थ — तिरथयराहाराणं—तीर्थकरनाम, आहारकसप्तक का, सुर-
गइनवृत्ति—देवगतिनवक का, विरमुमार्गं—स्थिर, शुभ का, च—और,
मुभधुवर्बंधीण—शुभ धुवर्बंधिनी प्रकृतियों का, तहा—तथा, संग्रंधा—अपने
बंध की, आसिमं—आवलिका के, गंतु—बोलने के बाद।

गाथार्थ तीर्थकरनाम, आहारकसप्तक, देवगतिनवक,
स्थिर और शुभ तथा शुभ धुवर्बंधिनी प्रकृतियों का अपनी
अंतिम बंधावलिका के बीतने के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम
होता है।

विशेषार्थ—तीर्थकरनाम, आहारकसप्तक, देवद्विक और वैक्रिय-
सप्तक रूप देवगतिनवक, स्थिर, शुभ और नामकर्म की धुवर्बंधिनी
पुण्य प्रकृति—तैजससप्तक, शुक्ल-रक्त-हारिद्रवर्ण, मुरभिगंध, कषाय-
आम्ल-मधुररस, मूद-लघु-सिंग्रह और उष्णस्पर्श, अग्रहलघु, निर्माण
कुल मिलाकर उनचालीस प्रकृतियों का परावात आदि की तरह चार
बार मोहु का उपशम करने वाले के अंत में बंधविच्छेद होने के
पश्चात् अपनी बंधावलिका के बीतने के अनन्तर यशःकीर्ति में संक्र-
मित करते उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण
इस प्रकार है—

आहारकसप्तक और तीर्थकरनामकर्म को उनका अधिक-से
अधिक जितना बंधकाल हो, उतने काल बाधे। आहारकसप्तक का
उत्कृष्ट बंधकाल देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त संयम का पालन करते
जितनी वार अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में जाये उतना और तीर्थकर-
नामकर्म का उत्कृष्ट बंधकाल देशोन पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरो-
पम जानना चाहिये। इतना काल बंध द्वारा और अन्य प्रकृति के
संक्रम द्वारा पुष्ट दल वाला करे, किर पुष्ट दल वाला करके क्षपक-
श्रेणि पर आरूढ़ हो और क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुआ वह जीव
जब आठवें गुणस्थान में बंधविच्छेद होने के बाद आवलिका मात्र
काल बीतने पर यशःकीर्ति में संक्रमित करे तब उनका उत्कृष्ट प्रदेश-
संक्रम होता है।

शुभ ध्रुवबंधिनी, स्थिर और शुभ, कुल मिलाकर बाईस प्रकृतियों का चार बार मोहनीय का सर्वोत्तम करने के बाद बंध-विच्छेद होने के अनन्तर आवलिका को उल्लंघने का यशःकीति में संक्रमित करते 'उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम' होते हैं। उत्कृष्ट द्वारा संक्रमित दलिक आवलिका जाने के बाद ही संक्रमयोग्य होते हैं अन्यथा नहीं होते हैं, इसीलिये बंधविच्छेद के बाद आवलिका बीतने के अनन्तर उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम कहा है।

देवद्विक और वैक्रियसाम्राज्य को मनुष्य-तिर्यचभव में पूर्वकोटि-पूर्वकत्व काल तक बंध करे और बंध करके आठवें भव में क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो तो क्षपकश्रेणि में उत्कृष्ट प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने के बाद आवलिका का अतिक्रमण करके यशःकीति में संक्रमित करते उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। उस समय अन्य प्रकृतियों के गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित दलिकों की संक्रमावलिका व्यतीत हो चुकी होने से उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम संभव है।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमस्वामित्व की प्रस्तुपणा जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निर्देश करते हैं। जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामी क्षपितकमर्णि जीव होता है। अतएव सर्वप्रथम क्षपितकमर्णि का स्वरूप कहते हैं।

क्षपितकमर्णि का स्वरूप

सुहुमेसु निर्गोण्यु कम्मठिति पलियज्जन्मभाग्यण ।

बलित्तं मंदकसाओ जहन्न जोगो उ जो एड ॥१०३॥

जोगेसु तो तसेसु सम्मतनसंखवार संयप्त ।

देसविरहं च सब्बं अण उच्चतरं च अडवारा ॥१०४॥

चउरुवसमित्तु मोहं लहुं खबेंहो भवे रुवियकम्मो ।

पाएण तेण पगयं पहुरुच काओ वि सविसेसं ॥१०५॥

शब्दार्थ— सुहुमेसु—सुश्म, निगोएसु—निगोद में, कम्मठिति—कर्म-स्थिति, पलिषड्संख्यापूर्ण—पल्योपम के असंख्यातवे भाग न्यून, चतिउ—रहकर, मंदकपाया—भद्र कथाय, जहजोगो—जघन्य योग, उ—और, जो—उनसे, एह—युक्त, सहित रहकर ।

जोगोसु— योग्य, तो—उसके बाद, तसेसु—अस भव में, सम्मतमसंख्यावार—असंख्यात बार सम्यक्त्व को, संयष्टि—प्राप्त करके, देशविरह—देश-विरति को, च—और, सञ्च—सर्वविरति को, अण—अनन्तानुबंधि को, उच्चलण—उद्वलना-विमांयोजना, च—तथा, अद्वारा—आठ बार ।

चउस्यसमितु—चार बार उपशमना करके, मोह—मोहनीय की, लहु—गीष्म, ख्येतो—क्षय करने, भवे—होता है, ख्यिष्यकम्मो—क्षणितकर्माणि, पाएण—प्राप्त, तेष—उसका, पराय—प्रकृत में, पहुच्छ—सम्बन्ध में, काओ बि—कितनी ही, सविसेस—विशेष ।

गाथार्थ— सुक्षमनिगोद में पल्योपम के असंख्यातवे भाग न्यून कर्मस्थिति (सत्तर कोडाकोडी सागरोपम) पर्यन्त मंदकपाय और जघन्ययोग युक्त रहकर ।

सम्यक्त्वादि के योग्य ब्रह्म भव में उत्पन्न हो और वहाँ उत्पन्न होकर असंख्य बार सम्यक्त्व, कुछ कम उत्तमी बार देश-विरतिचारित्र, आठ बार सर्वविरति, आठ बार अनन्तानुबंधि की विसंधीजना तथा—

चार बार (चारित्र) मोहनीय की उपशमना कर शीघ्र क्षय करने के लिये उद्यत ऐसा क्षयकश्रेणि पर आरोहण करता हुआ जीव क्षणितकर्माणि कहलाता है। प्रकृत में—जघन्य प्रदेशसंक्रम-स्वामित्व के विषय में उस जीव का अधिकार है। फिर भी कितनी ही प्रकृतियों के सम्बन्ध में जो विशेष है, उसको यथावसर सफट किया जायेगा ।

विशेषार्थ— कोई एक जीव सूक्ष्म अनन्तकाय जीवों में पल्योपम

के असंख्यातवें भाग न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त रहे। इतने काल वहाँ रहने का कारण यह है—

सूक्ष्म निगोदिया जीव अल्प आयु वाले होते हैं, जिससे उन्हें बहुत जन्म-मरण होते हैं। बहुत जन्म-मरण होने से वेदना से अभिभूत उनको अधिक परिमाण में पुदगलों का क्षय होता है। क्योंकि असातावेदनीय के उदय वाले दुखी जीव के अधिक पुदगलों का क्षय और सातावेदनीय के उदय वाले सुखी जीव के पुदगलों का क्षय अल्प प्रमाण में होता है। अतः अनेक जन्म-मरण करने वाले के जन्म-मरण-जन्म दुख बहुत होता है, इसीलिए सूक्ष्म निगोद जीव का ग्रहण किया है।

सूक्ष्म निगोद में किस प्रकार रहे, अब उसको बतलाने हैं कि मंद कषाय वाला शेष निगोदिया जीवों की अपेक्षा अल्प कषाय वाला होता है, क्योंकि मंद कषाय वाला जीव अल्प स्थिति बंध करता है और उद्वर्तना भी अल्प स्थिति की करता है तथा मंद योग वाला यानि अन्य निगोद जीवों की अपेक्षा इन्द्रियजन्य अल्प वीर्य वाला होता है। क्योंकि अल्प वीर्य व्यापार वाला जीव नवीन कर्म पुदगलों का ग्रहण बहुत अल्प प्रमाण में करता है और यहाँ अपितकर्मीश के अधिकार में इसी प्रकार के अल्प कषाय एवं अल्प वीर्य व्यापार वाले सूक्ष्म निगोद जीव का ही प्रयोजन होने से अल्प कषायी और अल्प योगी सूक्ष्म निगोद जीव का ग्रहण किया है।

इस प्रकार का मंद कषायी और जघन्य योग वाला सूक्ष्म निगोद जीव अभव्यग्रायोग्य जघन्यप्रदेश संचय करके वहाँ से निकल सम्यक्त्व, देशविरत और सर्वविरत के योग्य त्रस में उत्पन्न हो। वहाँ उत्पन्न होकर संख्यातीत-असंख्यात बार सम्यक्त्व और कुछ न्यून उत्तरी बार देशविरति प्राप्त करे।

जिस त्रस भव में सम्यक्त्वादि प्राप्त हो, वैसे त्रस भवों में किस प्रकार उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व आदि किस प्रकार प्राप्त करे?

तो इसको स्पष्ट करते हैं—सूक्ष्म निगोद में से निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयु के बाद पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो, अन्तर्मुहूर्त आयु पूर्ण कर वहाँ से निकलकर पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले मनुष्य में उत्पन्न हो, मनुष्य में उत्पन्न हो गर्भ में मात्र सात मास रह कर जन्म धारण करे और आठ वर्ष की उम्र वाला होता हुआ चारित्र अंगीकार करे, देशोन पूर्वकोटि वर्ष पर्यन्त चारित्र का पालन कर अल्प आयु—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब मिथ्यात्व में जाए, मिथ्यात्मी रहने काल करके दस हजार वर्ष की आयु वाले देवों में देवरूप से उतार हो, वहाँ अन्तर्मुहूर्त काल बीतने के बाद पर्याप्तावस्था में सम्यक्त्व प्राप्त करे, देवभव में दस हजार वर्ष रहकर और उतने काल सम्यक्त्व पालकर अंत में—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब मिथ्यात्व में जाकर वहाँ बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय योग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बांधकर मरण की प्राप्त हो, बादर पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो, अन्तर्मुहूर्त काल वहाँ रहकर फिर मनुष्य हो और पुनः भी सम्यक्त्व या देशविरति प्राप्त करे। इस प्रकार देव और मनुष्य के भव में सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करता और छोड़ता वहाँ तक कहना चाहिये यावत् पल्योपम के असंख्यातर्व भाग जितने काल में संख्यातीत थार सम्यक्त्व और उससे कुछ कम देशविरति का लाभ हो।

यहाँ जब-जब सम्यक्त्वादि की प्राप्ति हो तब-तब बहुप्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्पप्रदेश वाली करता है—इसी बात का संकेत करने के लिये अनेक बार सम्यक्त्वादि को प्राप्त करे यह कहा है तथा सम्यक्त्वादि के योग्य त्रिभवों में आठ बार सर्वविरति प्राप्त करता है और उतनी ही बार अनन्तानुबंधिकषाय का उद्वलन करता है। क्योंकि संसार में परिघ्रन करता भव्य जीव असंख्य बार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, कुछ न्यून उतनी बार देशविरति चारित्र, आठ बार सर्वविरति चारित्र और उतनी ही बार अनन्तानुबंधिकषाय की विसंयोजना कर सकता है, तथा—

चार बार चारित्रमोहनीय को सर्वथा उपशांत करके उसके बाद के भव में शीघ्र ध्यापकश्रेणि पर आँख होकर कर्मों का क्षय करता जीव क्षणितकर्मांश—अत्यन्त अल्प कर्मप्रदेशों की सत्ता वाला कहलाता है।

इस प्रकार के क्षणितकर्मांश जीव का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व के विचार में प्रायः दहुड़ा हो अद्वितीय है। योगि ऐसे जीव को सत्ता में अत्यल्प कर्मप्रदेश होते हैं, जिससे संक्रम भी अत्य ही होता है। कतिपय प्रकृतियों के विषय में विशेष है, जिसका संकेत यथावसर किया जायेगा।

इस प्रकार से क्षणितकर्मांश जीव का स्वरूप जानना चाहिये। अब जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

**हास्यादि एवं भृत्यज्ञानावरणादि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व
हास्यदुभयकुच्छाणं खीणंताणं च बंधवरिमंमि ।**

समए अहापवत्तेण ओहिज्ज्वले अणोहिस्स ॥१०६॥

शब्दार्थ—हास्यद्विक, भय, और जुगुप्सा का, खीणंताणं—क्षीणमोहगुणस्थान में नाश होने वाली, च—और, बंधवरिमंमि—बंध के चरम, समए—समय में, अहापवत्तेण—यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा, ओहिज्ज्वले—अवधिद्विक का, अणोहिस्स—अवधिज्ञानविहीन।

गाथार्थ—हास्यद्विक, भय, जुगुप्सा और क्षीणमोहगुणस्थान में नाश होने वाली प्रकृतियों का अपने बंध के चरम समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। उसमें से अवधिद्विक का अवधिज्ञानविहीन जीव के जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ—हास्यद्विक—हास्य और रति, भय, जुगुप्सा तथा बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में जिन प्रकृतियों का सत्ता में से विच्छेद होता है ऐसी अवधिज्ञानावरण रहित ज्ञानावरणचतुर्ष्क, अवधि-

दर्शनावरण रहित दर्शनावरणत्रिक, निद्राद्विक और अंतरायपंचक, कुल मिलाकर अठारह प्रकृतियों का अपने बंध के चरम समय में यथा-प्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते हुए जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का भी अपने बंधविच्छेद के समय ही जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, परन्तु वह अवधिज्ञान-विहीन जीव के होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान जिसको उत्पन्न हुआ है, वैसे जीव के अवधिज्ञानावरण रहित ज्ञानावरण-चतुष्क और अवधिदर्शनावरण रहित दर्शनावरणत्रिक इन सात प्रकृतियों का अपने-अपने बंधविच्छेद के समय शपितकर्माश जीव के जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अवधिज्ञान उत्पन्न भवता जीव वहुऽ कर्मपुद्गलों को यथा-स्वभाव से क्षय करता है, जिससे उत्तर्युक्त प्रकृतियों के अपने बंध-विच्छेद के समय सत्ता में अल्प पुद्गल ही रहते हैं। इसी कारण जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। यहाँ जघन्य प्रदेशसंक्रम का अधिकार है, इसलिये अवधिज्ञानयुक्त जीव को जघन्य प्रदेशसंक्रम का अधिकारी कहा है। बंधविच्छेद होने के बाद पतदग्ध नहीं होने से संक्रम होता ही नहीं है, इसलिये बंधविच्छेद समय ग्रहण किया है।

निद्राद्विक, हास्य, रति, भय, जुगासा का भी अपने बंध-विच्छेद के समय जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। क्योंकि बंधविच्छेद होने के बाद उनका गुणसंक्रम द्वारा संक्रम होता है। आठवें गुण-स्थान से बंधविच्छेद होने के बाद अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है और गुणसंक्रम द्वारा अधिक पुद्गल संक्रमित होते हैं, इसीलिये यह कहा है कि बंधविच्छेद के समय यथा-प्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अंतरायपंचक का भी अपने बंधविच्छेद के समय जघन्य प्रदेश-संक्रम होता है। क्योंकि बंधविच्छेद होने के बाद तो कोई पतदग्ध

प्रकृति नहीं होने से संक्रम ही नहीं होता है, इसीलिये यह कहा गया है कि बंध के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

जिनके अवधिज्ञान और अवधिदर्शन उत्पन्न नहीं हुआ होता है, वैसे जीव के अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का अपने बंध के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। इसका कारण यह है कि अवधिज्ञान-दर्शन उत्पन्न करते प्रबल धयोपशम के सद्भाव से अवधिज्ञानावरण वौर अवधिदर्शनावरण के पुद्गल अतिरुक्ष-अति निःस्तेह होते हैं और इसी कारण बंधविच्छेद के काल में भी सत्ता में अधिक रह जाने से उनके अधिक पुद्गलों का क्षय होता है और उससे जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं होता है। इसी कारण यह कहा है कि अवधिज्ञान विहीन जीव के अवधिज्ञानदर्शनावरण का जघन्य प्रदेश-संक्रम होता है।

स्थानद्वित्रिक आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

थीणतिगइतिथमित्त्वाण पालिय बेळसट्ठि सम्भतं ।

सगखवणाए जहन्नो अहापवत्तस्स चरमंभि ॥१०७॥

शब्दार्थ—थीणतिगइतिथमित्त्वाण—स्थानद्वित्रिक, स्त्रीबेद और मित्यात्व मोहनीय का, पालिय—पालन करके, बेळसट्ठि—दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त, सम्भतं—सम्यक्त्व का, सगखवणाए—अपनी क्षणा में, जहन्नो—जघन्य, अहापवत्तस्स—यथाप्रवृत्तसंक्रम के, चरमंभि—चरम समय में।

गाथार्थ—दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर अपनी क्षणा के समय यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में स्थानद्वित्रिक, स्त्रीबेद और मित्यात्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—दो छियासठ सागरोपम अर्थात् एक सी बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन करके और उतने काल पर्यन्त सम्यक्त्व के प्रभाव से अधिक दलिकों को दूर कर—क्षय कर अल्प शेष रहें तब उन प्रकृतियों की क्षणा करने के लिये तत्पर हुए जीव के अपने-अपने यथाप्रवृत्तकरण के अंत समय में विद्यातसंक्रम द्वारा

संक्रमित करते स्त्यानन्दित्रिक, स्त्रीवेद और मिथ्यात्वमोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

अपूर्वकरण में गुणसंक्रम संभव होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं होता है। उसमें भी क्षणकथ्रेणि पर आरुङ् हुए जीव के स्त्यानन्दित्रिक और स्त्रीवेद का अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। क्योंकि श्रेणि पर आरुङ् होने वाले के सातबो गुणस्थान ही यथाप्रवृत्तकरण माना जाता है। आठबो गुणस्थान से अवध्यमान अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम प्रवर्तित होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं हो सकता है, इसीलिये अप्रमत्त-यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विध्यात्संक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।^१ तथा—

क्षायिकसम्यक्त्व का उपार्जन करते जिनकालिक प्रथम संहनन वाले चौथे से सातबो गुणस्थान तक में वर्तमान मनुष्य के दर्शनत्रिक का क्षय करने के लिये किये गये तीन करण में के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विध्यात्संक्रम द्वारा संक्रमित करते मिथ्यात्व-मोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। अपूर्वकरण में गुणसंक्रम प्रवर्तित होने से यथाप्रवृत्तकरण का चरम समय ग्रहण किया है।

१ यद्यपि उपर्युक्त प्रकृतियों का यथाप्रवृत्तसक्ति द्वारा संक्रमित करते अपने-अपने यथाप्रवृत्तकरण के चरम-समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, ऐसा प्रत्यक्कार आचार्य ने अपनी रवोपज्ञवृत्ति में स्पष्ट किया है। परन्तु गुण या भव के निमित्त से जो प्रकृतियां बंधती नहीं, उनका विध्यात्संक्रम इसी प्रथम में पहले कहा है, यथाप्रवृत्तसंक्रम नहीं। गुणनिमित्त से उपर्युक्त प्रकृतियों का अबंध तीसरे गुणस्थान से हुआ है, इसलिये उनका विध्यात्संक्रम होता चाहिये, यथाप्रवृत्तसंक्रम नहीं। इसी कारण भलयगिरि-सूरि ने विध्यात्संक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, मह इस गाथा की टीका में कहा है। तत्क केवलीगम्य है। विवृजन इसको स्पष्ट करते की छुपा करें।

अरति-शोक आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

अरइसोगट्टकसाय असुभद्रवबन्धि अथिरतियगाणे ।

अस्सायस्स य चरिमे अहापवत्तस्स लहु खवगे ॥१०८॥

शब्दार्थ—अरइसोगट्टकसाय—अरति, शोक, मध्यम आठ कपाय, असुभ-
धुवबन्धि—अशुभ धुवबन्धिनी नामकर्म की प्रकृतियों, अथिरतियगाणे—
अस्थिरत्रिक का, अस्सायस्स—असातावेदनीय का, य—और, चरिमे—चरम
समय में, अहापवत्तस्स—यथाप्रवृत्तकरण के, लहु—शीघ्र, खवगे—क्षपक के ।

गाथार्थ—अरति, शोक, मध्यम आठ कपाय, धुवबन्धिनी नाम-
कर्म की अशुभ प्रकृतियों, अस्थिरत्रिक और असातावेदनीय का
जघन्य प्रदेशसंक्रम शीघ्र क्षपक के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय
में होता है ।

विशेषार्थ—अरति, शोक, नामकर्म की अशुभ धुवबन्धिनी अशुभ
वर्ण आदि नवक और उपधात, अस्थिरत्रिक—अस्थिर, अशुभ,
अयशःकीर्ति तथा असातावेदनीय, कुल सोलह प्रकृतियों का शीघ्र^१
सत्ता में से निर्मूल करने के लिये प्रयत्नशील जीव के यथाप्रवृत्तकरण—
अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के चरम समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम^२ द्वारा
संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है ।

१ यहीं शीघ्र का अर्थ यह रामझना चाहिए कि रात मास गर्भ के और
उसके बाद के आठ वर्ष कुल मिलाकर सात मास अधिक आठ वर्ष का
अतिक्रमण कर सत्ता में से निर्मूल करने के लिये प्रयत्नशील जीव ।

२ गुण या भव निमित्त से अवध्यमान प्रकृतियों का विद्यातसंक्रम होता है,
यह गाथा ६६ में स्पष्ट किया गया है । अरति, शोक, अस्थिरत्रिक और
असातावेदनीय ये छह प्रकृतियाँ वध में से छठे गुणस्थान में विच्छिन्न
होती हैं, जिससे सातवें गुणस्थान में उनका विद्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित
करते जघन्य प्रदेशसंक्रम होता चाहिये । परन्तु यहीं यथाप्रवृत्तसंक्रम
द्वारा कहने का क्या कारण है ? विद्वज्ञों से स्पष्टता की अपेक्षा है ।

देशोन पूर्वकोटि वर्ष पर्यन्त चारित्र का पालन करके, क्षणकथेणि पर आळड़ जीव के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विद्यात्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते मध्यम आठ कषायों^१ का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

मिश्रमोहनीय आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

हस्सगुणद्वं पूरिय सम्मं मीसं च धरिय उक्कोसं ।

कालं मिच्छत्तगए चिरउद्वलगस्स चरिममि ॥१०६॥

शब्दार्थ—हस्सगुणद्वं—गुणसंक्रम के अत्य काल द्वारा, पूरिय—पूरित कर, सम्मं—सम्यक्त्व, मीसं—मिश्रमोहनीय, च—और, धरिय उक्कोसं कालं—उद्कृष्ट काल पर्यन्त पालन कर, मिच्छत्तगए—मिथ्यात्व में गये हुए के, चिरउद्वलगस्स—चिर उद्वलक के, चरिमे—जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

गाथार्थ—सम्यक्त्व उत्पन्न करके गुणसंक्रम के अत्यकाल द्वारा सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय को पूरित कर और उद्कृष्ट काल पर्यन्त पालन कर मिथ्यात्व में गये चिर उद्वलक के द्विचरम खंड के चरम समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—सम्यक्त्व उत्पन्न करके अलाकाल पर्यन्त^२ गुणसंक्रम

१. ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में उक्त चौदीस प्रकृतियों के लिये पूर्वकोटि वर्ष पर्यन्त चारित्र का पालन कर क्षणकथेणि पर आळड़ होने वाले के यथा-प्रवृत्तकरण के चरम समय में मध्याप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित करते जघन्य प्रदेशसंक्रम कहा है। तत्पश्चात् होने वाले अपूर्वकरण में तो गुणसंक्रम प्रवर्तित होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है। तत्त्व केवलिगम्य है।

२. सम्यक्त्व उत्पन्न करके तत्पश्चात् अन्तर्भुक्त तक प्रबर्धमान परिणाम वाला रहता है, जिससे उतने काल मिथ्यात्व के दलिकों को मिश्र और सम्यक्त्व में तथा मिश्र के सम्यक्त्व में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करता है। यहाँ जितना अल्प कमल हो सके उतना काल लेना है। क्योंकि यही जघन्य प्रदेश-संक्रम का विचार किया जा रहा है।

द्वारा मिथ्यात्वमोहनीय के बल से सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय को पूरित कर—पुष्ट कर सम्यक्त्व का जो एक सौ बत्तीस सागरोपम उत्कृष्ट काल है, उतने काल सम्यक्त्व को धारण कर—पालन कर और उसके बाद मिथ्यात्व में जाये, वहाँ पत्योपम के असंख्यात्मवे भाग जितने काल होने वाली उद्वलना द्वारा सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय की उद्वलना करते उनके द्विचरमखंड के दलिक को चरम समय में मिथ्यात्व रूप पर प्रकृति में जितना संक्रमित करे तो वह उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है।

प्रत्येक खंड की उद्वलना करते अन्तमुहूर्त होता है, उसी प्रकार द्विचरमखंड को भी उद्वलित करते अन्तमुहूर्त होता है तथा उद्वलना में स्व में जो संक्रम होता है, उसकी अपेक्षा पर में उत्तरोत्तर अल्प होता है। जिससे द्विचरमखंड का चरम समय में मिथ्यात्व रूप परप्रकृति में जो संक्रम होता है, वह जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये। चरमखंड के दलिक को तो पर में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात्-असंख्यात् गुणाकार से संक्रमित करता है, जिससे चरम समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है, इसीलिये यहाँ द्विचरमखंड का ग्रहण किया है। अनन्तानुबंधी कथाय का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्कामित्व

संजोयणाण चउद्वलसमित्तु संजोयइत्तु अप्पद्धं ।

छावटिठ्डुगं पालिय अहापचतस्म अंतम्म ॥११०॥

शब्दार्थ—संजोयणाण—अनन्तानुबंधि, चउद्वलसमित्तु—चार बार मोहनीय की उपशमना करके, संजोयइत्तु—अनन्तानुबंधि का बंध करके, अप्पद्ध—अल्पकाल पर्यन्त, छावटिठ्डुगं—दो छियासठ सागरोपम, पालिय—पालन कर, अहापचतस्म—यथाप्रवृत्तकरण के, अंतम्म—चरम समय में।

गाथार्थ—चार बार मोहनीय की उपशमना करके तत्पञ्चात् मिथ्यात्व में जाकर अल्पकाल पर्यन्त अनन्तानुबंधि का बंध करके सम्यक्त्व ब्राप्त करे और उसको दो छियासठ सागरोपम

पालकर अंत में अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते यथाप्रवृत्त-
करण के चरम समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ— चार बार मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना करे, क्योंकि
चार बार मोहनीय की उपशमना करने से अधिक कर्म पुदगलों का
क्षय होता है और वह इस प्रकार कि चारित्रमोहनीय प्रकृतियों की
उपशमना करने द्वारा स्थितिशमन, रसायन, गुणश्रेणि और गुण-
संक्रम द्वारा अधिक पुदगलों का नाश करता है। इसीलिये चार बार
मोहनीय का सर्वोपशम करने का संकेत किया है। इसके बाद अर्थात्
चार बार मोहनीय की सर्वोपशमना करके मिथ्यात्व में जाये, वहाँ
अत्यकाल पर्यन्त अनन्तानुबंधि का बंध करे। यहाँ जब अनन्तानुबंधि
बांधता है तब चारित्रमोहनीय का दलिक सत्ता में अल्प ही होता है।
क्योंकि चार बार मोहनीय के सर्वोपशमनाकाल में स्थितिशात
आदि के द्वारा क्षय किया है, जिससे अनन्तानुबंधि को बांधते उसमें
यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा अत्यन्त अत्य चारित्रमोहनीय के दलिक को
संक्रमित करता है। फिर अन्तमुद्भूत बीतने के बाद पुनः सम्यक्त्व
प्राप्त करे और उसे दो छियामठ सागरोपम पर्यन्त पालन कर
अनन्तानुबंधि कषाय की क्षणणा करने के लिये प्रयत्नशील के अपने
यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में विध्यातसंक्रम द्वारा संक्रमित करते
उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। अपूर्वकरण में तो गुणसंक्रम होने
से जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता, यहाँ अनन्तानुबंधि की
विसंयोजना करने के लिये जो तीन करण होते हैं, उनमें का पहला
यथाप्रवृत्तकरण लेना चाहिये।

आहारकट्टिक, तीर्थकर नाम का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

हसं कालं बंधिय विरओ आहारमविरहं गंतु ।

चिरओवलणे थोबो तित्थं बंधालिगा परओ ॥१११॥

शब्दार्थ— हसं कालं—अत्यकाल पर्यन्त, बंधिय—बंधकर, विरओ—
अप्रमत्तदिवल, आहारमविरहं गंतु—आहारकट्टिक को अविरत में जाकर,

चिरउद्वलणे—चिर उद्वलना द्वारा, थोड़ो—जघन्य, तित्थे—तीर्थकरनाम, शंधालिगा—बंधावलिका, परओ—बीतने के बाद ।

गाथार्थ—अल्पकाल पर्यन्त अप्रमत्तसंयत हो आहारकद्विक को बांधकर अविरत में जाकर चिरउद्वलना द्वारा उद्वलना करते उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है और तीर्थकरनाम का बंधावलिका के बीतने के बाद जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—अल्पकाल पर्यन्त अप्रमत्तसंयत रहते आहारकद्विक को बांधकर अर्थात् कम-से-कम जितना अप्रमत्तसंयत का काल हो सकता है, उतने काल पर्यन्त आहारकद्विक (आहारकसात्क) को बांधकर कर्मोदयवशात् अविरत-अवस्था प्राप्त हो जाये तो उस अविरत-अवस्था में अन्तमुँहूर्त काल जाने के बाद उस आहारकद्विक को चिर उद्वलना-द्वारा उद्वलित करना प्रारंभ करे और उस उद्वलित करते कम से कम जो संक्रम हो, वह उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है, अर्थात् द्विचरमखंड को उद्वलित करते चरम समय में उसका जो कर्मदलिक पर प्रकृति में संक्रमित हो, वह आहारक-द्विक का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है ।

यहाँ विशेषरूप से उद्वलनासंक्रम का स्वरूप ध्यान में रखना चाहिये । पल्थोपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण खंड को ले-लेकर स्व और पर में संक्रमित करके अन्तमुँहूर्त-अन्तमुँहूर्त में निर्मूल किया जाता है । उत्तरोत्तर समय में स्व की अपेक्षा पर में अत्यं संक्रमित किया जाता है और पर से स्व में असंख्यातगुण । प्रत्येक खंड को इस प्रकार से संक्रमित करते द्विचरमखंड को अपने संक्रमकाल के अन्तमुँहूर्त के अंतिम समय में पर में जो संक्रमित किया जाता है वह उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है । चरम खंड को तो पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुण पर में संक्रमित किया जाता है, जिससे वहाँ जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता

है। इसीलिये द्विचरमखंड को ग्रहण किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

तीर्थकर नामकर्म को बांधते पहले समय जो दलिक बांधा है, उस पहले समय के दलिक को बंधावलिका के जाने के बाद यथाप्रवृत्त-संक्रम के द्वारा पर प्रकृतियों में जो संक्रमित किया जाता है, वह तीर्थकरनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये। अर्थात् तीर्थकर नाम के बंध के पहले समय जो दलिक बांधा हो, वही शुद्ध एक समय का बांधा हुआ दलिक बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित हो, वह उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम है। तीर्थकरनाम की उद्वलना नहीं होती है कि जिससे आहारक की तरह द्विचरम खंड का चरम समय में जो पर में संक्रमण हो, उसे जघन्य प्रदेशसंक्रम के रूप में कहा जा सके तथा दूसरे अनेक समयों में बंधे हुए को ग्रहण करने से सत्ता में अधिक दलिक होने के कारण प्रमाण बढ़ जाता है और जब उनका संक्रम होगा, तब यथाप्रवृत्तसंक्रम ही होगा। इसीलिये तीर्थकर नामकर्म के प्रारंभ के बंध समय जो बांधा उसकी बंधावलिका पूर्ण होते ही बाद के समय में जो पहले समय बांधा उसी दल को यथा-प्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित होने पर जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, यह कहा है।

वैक्रिय एकादश आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

वेऽउद्वेष्टकारसंग उद्वलियं बंधित्तु अप्यद्धं ।

जेठटितिनरयाओ उद्वटित्ता अबंधित्ता ॥११२॥

थावरगसमुद्वलणे भणुदुग्गच्छाण सहुमवद्धाण ।

एमेव समुद्वलणे तेऽवाऽसुवग्यस्त ॥११३॥

शब्दार्थ—वेऽउद्वेष्टकारसंग—वैक्रिय एकादशक की, उद्वलियं—उद्वलना करके, बंधित्तु—बंधकर, अप्यद्धं—अल्पकाल, जेठटितिनरयाओ—उत्कृष्ट स्थिति काले नरक से, उद्वटित्ता—निकलकर, अबंधित्ता—बिना बंधे।

थावरगसमुच्चासणे——इथावर में जाकर उद्वलना करने पर, मण्डुर-उच्चास—मनुष्यद्विक और उच्चगोव का, सुहमवद्वासण—सूक्ष्म एकेन्द्रिय में बंधे हुए, एमेव—इसी प्रकार, समुच्चासणे—उद्वलना करते, तेजवाऽसुव-गवस्स—तेजस्काय और वायुकाय में गये हुए जीव के ।

गाथार्थ——सत्तागत वैक्रिय एकादशक की उद्वलना करके बंध योग्य भव में अल्पकाल पर्यन्त बांधकर जेष्ठ स्थिति वाले नरक में जाकर और फिर वहाँ से तिर्यच में जाये, वहाँ बिना बांधे स्थावर में जाकर उद्वलना करते द्विचरमखड़ का चरम समय में जो दल पर में संक्रमित किया जाता है, वह वैक्रिय एकादशक का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है । इसी प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय में बंधे हुए मनुष्यद्विक और उच्चगोव की उद्वलना करते तेजस्काय, वायुकाय में गये हुए जीव के उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है ।

विशेषार्थ——जिस समय वैक्रिय शरीर आदि ग्यारह प्रकृतियों के जघन्यप्रदेश संक्रम का विचार किया जाता है, उससे पूर्व कालभेद से अनेक समय में बंधे हुए देवद्विक, नरकद्विक और वैक्रियसप्तक का जो दल सत्ता में विद्यमान है, उसको एकेन्द्रिय में जाकर उद्वलना-संक्रम की विधि से उद्वलित कर देता है । उद्वलित करने का कारण यह है कि काल भेद से अनेक समय में बांधे गये अधिक दलिक सत्ता में होने के कारण प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता है ।

इस प्रकार से उद्वलित करके पञ्चेन्द्रिय में जाकर अल्प काल पर्यन्त बंध करे, बांधकर तेतीस सागरोपम की स्थिति वाली सातवीं नरकपृथ्वी में नारक रूप^१ से उत्पन्न हो, वहाँ उतने काल यथायोग्य रीति से वैक्रिय एकादश का अनुभव कर और फिर वहाँ से निकलकर

१. यथायि अनुत्तर विमान की भी तेतीस सागरोपम आयु है, परन्तु वहाँ जाकर बाद में एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिये सातवीं नरक-पृथ्वी के नारक का प्रहृण किया है ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न हो, वहाँ वैक्रिय एकादश को ब्रिना बाधे ही एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो और उस एकेन्द्रिय के भव में पत्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण काल में होती उद्वलना के द्वारा वैक्रिय एकादश को उद्वलित करते द्विचरमखंड का चरम समय में जो दलिक पर प्रकृति में संक्रमित किया जाता है, वह उसका जबन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये ।

इसी प्रकार कालभेद से अनेक समय का बंधा हुआ उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक का जो दल सत्ता में हो, उसे तेज और वायु के भव में उद्वलित कर दिया जाये और उसके बाद पुनः मनुष्यद्विक आदि के बंध योग्य सूक्ष्म एकेन्द्रिय के भव में जाकर अन्तर्मुहूर्त बाधे, वहाँ से निकलकर पंचेन्द्रिय भव में जाकर सातवीं नरकपृथ्वी में जाने योग्य कर्म बंध कर सातवीं नरक पृथ्वी में उत्कृष्ट आयु वाला नारक हो, वहाँ से निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न हो । इतने काल पर्यन्त उन तीन प्रकृतियों का बंध नहीं करे और प्रदेशसंक्रम द्वारा अनुभव कर करे ।¹ इसके बाद उस पंचेन्द्रिय के भव में से निकल कर तेज और वायुकाय में उत्पन्न हो, वहाँ मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र को चिरोद्वलना—पत्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण काल में होती उद्वलना—द्वारा उद्वलना करते द्विचरमखंड का चरम समय में जो दलिक पर में संक्रमित किया जाता है, वह उनका जबन्य प्रदेश, संक्रम कहलाता है ।²

१. यद्यपि जिस भव में नरकयोग्य आयु बाधे और नरक में से निकलकर जाता है, वे दोनों भव उपर्युक्त तीनों प्रकृतियों के बंधयोग्य हैं । परन्तु यहाँ जबन्य प्रदेशसंक्रम का अधिकार होने से ऐसा जीव लेना है, जो उस बंधयोग्य भव में बंध नहीं करे । इसीलिये बाधे नहीं और प्रदेश संक्रम द्वारा अनुभव कर करे यह कहा है ।
२. सत्ता में से निकालकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय में जाकर बाधने के बाद अन्य इसी स्थान पर बांधता नहीं और कम तो करता है, जिससे सत्ता में अल्प भाग रह जाता है । इसी कारण तेज और वायुकाय में उद्वलना करने पर जबन्य प्रदेशसंक्रम घटित हो सकता है ।

सातावेदनीय एवं शुभ पेतीस प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम-
स्वामित्व

अणुवस्तमित्ता मोहं सायस्स असायअंतिमे बंधे ।

पणतीसा य सुभाणं अपुव्यकरणालिगर अंते ॥११४॥

शब्दार्थ—अणुवस्तमित्ता—उपशम न करके, मोहं—मोहनीय का,
सायस्स—सातावेदनीय का, असायअंतिमे बंधे—असाता के अंतिम बंध में,
पणतीसा—पेतीस, य—और, सुभाणं—शुभ प्रकृतियों का, अपुव्यकरणालिगर
अंते—अपूर्वकरण की आवलिका के अंत में ।

गाथार्थ—मोहनीय का उपशम न करके असाता के अंतिम
बंध में सातावेदनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । पेतीस
शुभ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम अपूर्वकरण की आवलिका
के अंत में होता है ।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म का उपशम न करके अर्थात् उपशम-
श्रेणि किये बिना असातावेदनीयकर्म के बंध में जो अंतिम बंध, उस
अंतिम बंध का जो अंतिम समय—छठे प्रमत्तसंवतगुणस्थान का अंतिम
समय, उस अंतिम समय में वर्तमान क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने के
लिये उच्चत जीव के असातावेदनीय में सातावेदनीय को संक्रमित
करते साता का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । सातवेदप्रमत्तविरत-
गुणस्थान के प्रथम समय से साता का ही बंध होने से सातावेदनीय
पतदग्यह प्रकृति हो जाने के कारण वह संक्रमित नहीं होती है, परन्तु
असाता साता में संक्रमित होती है । यहाँ उपशमश्रेणि के निषेध
करने का कारण यह है कि उपशमश्रेणि में असातावेदनीय के अधिक
पुद्गल साता में संक्रमित होने से सातावेदनीय अधिक प्रदेश वाली होती
है और वैसा होने पर उसका जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित नहीं हो सकता
है । तथा—

पञ्चेन्द्रियजाति, समचतुरस्संस्थान, तैजससप्तक, प्रशस्तविहा-
योगति, शुक्ल, लोहित और हारिद्र वर्ण, सुरभिगंध, कापाय, आम्ल

और मधुर रस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण स्पर्श, अगुरुलघु, परावात, उच्छ्रवास, ब्रसदशक तथा निर्माण इन पेतीस प्रकृतियों का उपशमश्रेणि न करके शेष क्षपितकमीशविधि द्वारा जघन्य प्रदेशप्रमाण करके क्षय करने के लिये प्रयत्नशील क्षपितकमीश जीव के अपूर्वकरण की प्रथम आवलिका के अंत समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। प्रथमावलिका पूर्ण होने के बाद तो अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम समय से अशुभ प्रकृतियों के गुणसंक्रम द्वारा प्राप्त हुए अत्यधिक दलिक की संक्रमावलिका पूर्ण होने के कारण उस दलिक का भी संक्रम संभव होने से जघन्य प्रदेशसंक्रम धटित नहीं हो सकता है। इसीलिये यहाँ अपूर्वकरण की प्रथम आवलिका का चरम समय ग्रहण करने का संकेत किया है तथा उपशमश्रेणि के निषेध करने का कारण यह है कि उपशमश्रेणि में उपर्युक्त पेतीस प्रकृतियाँ शुभ होने से उनमें गुणसंक्रम द्वारा अशुभ प्रकृतियों के अधिक दलिक संक्रमित होते हैं, जिससे उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं हो सकता है तथा उपशमश्रेणि के सिवाय की क्षपितकमीश होने के योग्य अन्य क्रिया द्वारा जघन्य प्रदेशप्रसर्ता में जघन्य प्रदेश का संचय करके क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाले जीव के अपने बंधविच्छेद के समय वज्रऋषभनाराच-संहनन का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। यहाँ भी उपशमश्रेणि के निषेध का कारण पूर्ववत् जानना चाहिये। चौथे गुणस्थान तक ही प्रथम संहनननामकर्म बंधता है, जिससे क्षपकश्रेणि पर चढ़ते मनुष्य को उस गुणस्थान के चरम समय में प्रथम संहनन का जघन्य प्रदेश-संक्रम होता है।^१

तिर्यचट्टिक, उद्योतनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वाभिस्व

तेवट्ठ उद्दिसयं गेविज्जाणुसरे सऽबधिता ।

तिरिदुगउज्जोयाङ्गं अहापवत्तस्स अंतमि ॥१४॥

१ कर्मप्रकृति संक्रमकरण गाया १०६ में वज्रऋषभनाराचसंहनन का जघन्य प्रदेशसंक्रम भी पंचेन्द्रियजाति आदि पेतीस प्रहस्तियों के साथ ही अपूर्वकरण की प्रथम आवलिका के अंत समय में बताया है।

शब्दार्थ—तेवढुडवहिसर्य—एक सौ त्रेसठ सागरोपम, गेविज्ञाणुत्तरे—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में, सङ्खाधित्ता—बिना वांधे, तिर्थिकुड़जो-याइ—तिर्यचट्टिक और उद्योत नाम का, अहोव्यवत्सम—यथाप्रवृत्तकरण के, अंतमि—अन्त में।

गाथार्थ—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में एक सौ त्रेसठ सागरोपम पर्यन्त ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में भवप्रत्यय अथवा गुणप्रत्यय द्वारा बिना वांधे सर्व जघन्य सत्ता वाले क्षणितकमीश के यथाप्रवृत्तकरण के चरमसमय में तिर्यचट्टिक और उद्योतनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ—चार पल्योपम अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम पर्यन्त ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में भवप्रत्यय अथवा गुणप्रत्यय द्वारा बिना वांधे सर्व जघन्य सत्ता वाले क्षणितकमीश के यथाप्रवृत्तकरण के चरमसमय में तिर्यचट्टिक और उद्योतनाम का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

यहाँ चार पल्योपम अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम इस प्रकार जानना चाहिये कि कोई क्षणितकमीश जीव तीन पल्योपम की आयु वाले युगलिक मनुष्य में उत्पन्न हो। वह वहाँ देवट्टिक का ही दृथ करता है, तिर्यचट्टिक या उद्योतनाम नहीं वांधता है। अन्तमुहूर्त आयु शेष रहे तब वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके और सम्यक्त्व से गिरे बिना ही एक पल्योपम की आयु वाला देव हो, फिर उसके बाद सम्यक्त्व से गिरे बिना ही देवभव में से च्यव कर मनुष्य हो तथा मनुष्यभव में भी सम्यक्त्व से च्युत न हो परन्तु सम्यक्त्व सहित इकतीस सागरोपम की आयु से ग्रैवेयक में देव हो, वहाँ उत्पन्न होने के बाद एक अन्तमुहूर्त बीतने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाये। मिथ्यात्व में जाने पर भी वहाँ भवप्रत्यय से उपर्युक्त प्रकृतियों को नहीं वांधता है, अन्तमुहूर्त आयु शेष रहे तो फिर सम्यक्त्व को प्राप्त करे और उसके बाद बीच में होने वाले मनुष्यभवयुक्त तीन बार अच्युत देवलोक में और दो बार अनुत्तर विमान में जाने के द्वारा एक सौ बत्तीस

सागरोपम^१ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का पालन कर उस सम्यक्त्व का काल अन्तमुँहूर्त शेष रहे तब शीघ्र कथ करने के लिये प्रयत्नशील हो। क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुए जीव के यथाप्रवृत्तकरण-अप्रमत्त-संयतगुणस्थान के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। अपूर्वकरण से गुणसंक्रम^२ प्रवर्तित होने से वहीं जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं होता है।

इस प्रकार संसारचक्र में भ्रमण करते चार पल्योपम अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम पर्यन्त गुण या भव प्रत्यय से तिर्यचट्टिक और उद्योतनामकर्म बांधता नहीं और संक्रम, प्रदेशोदयादि द्वारा, कम करता है, जिससे क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होते अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के अंत समय में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम घटित हो सकता है। श्रेणि पर आरूढ़ होते जो तीन करण करता है, उनमें का यथाप्रवृत्तकरण अप्रमत्तसंयतगुणस्थान जानना चाहिये।

१ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का अविरत काल छियासठ सागरोपम का है।

वह बाईस-बाईस सागरोपम की आयु से तीन बार अन्युत देवलोक में जावार पूर्ण करता है। तत्पश्चात् अन्तमुँहूर्त मिथ्यगुणस्थान में जाकर दूसरी बार सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है और उसे तैतीस-तैतीस सागरोपम वी आयु से अनुत्तर विमान में जाकर पूर्ण करता है। उस काल के अंतिम अन्तमुँहूर्त में यदि क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ न हो तो काल पूर्ण होने पर गिर कर मिथ्यात्व प्राप्त करता है। यह काल बीच में होने वाले मनुष्यभक द्वारा अधिक समझना चाहिये।

२ यद्यपि उद्योतनामकर्म का गुणसंक्रम नहीं होता है। क्योंकि अब्द्यमात्र अणुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है। परन्तु जघन्य प्रदेशसंक्रम तो अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के अंत समय में कहा है। क्योंकि अपूर्ववारण से उसका उद्योतनासंक्रम होता है। इसी प्रकार से आतपनामकर्म के लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि नौवें गुणस्थान में आतपनामकर्म का भी अव किया जाता है।

एकेन्द्रियजाति आदि का जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व

इगिविगलायवथावरचउक्कमबंधिऊण पणसीयं ।

अयरसयं छट्ठीए शादीत्यर लक्ष्म पुण्यं प११३॥

शब्दार्थ——इगिविगलायवथावरचउक्क—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावरचउक्क का, अबंधिऊण—बिना बिंधे, पणसीय—पचासी, अयरसयं—सी सागरोपम, छट्ठीए—छठवीं नरकपृथ्वी के, बादोसयर—बाईस सागरोपम, जहा पुण्य—ज्ञेत्र पूर्व में कहे अनुगार ।

गाथार्थ— एक सी पचासी सागरोपम पर्यन्त विना बांधे क्षय करते यथाप्रवृत्तकरण के अंत में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावरचउक्क का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । छठी नरकपृथ्वी के बाईस सागरोपम के साथ पूर्व में कहे एक सी ब्रेसठ सागरोपम के अवंत्रकाल को जोड़ने से एक सी पचासी सागरोपम होते हैं ।

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुर्गिन्द्रिय रूप जाति-चतुर्क, आतप तथा स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपवर्णित रूप स्थावर-चतुर्क, इन नौ प्रकृतियों को चार पल्योपम अधिक एक सी पचासी सागरोपम तक बांधे बिना उस सम्यक्त्व के काल के अंत में अर्थात् एक सी बत्तीस सागरोपम प्रमाण सम्यक्त्व का जो काल है, उसके चरम अन्तमुहूर्त में ध्वपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाला यथाप्रवृत्तकरण के अंत समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है ।

इतने काल पर्यन्त इन नौ प्रकृतियों को गुण या भव के निमित्त से बांधता नहीं है तथा संक्रम एवं प्रदेशोदय द्वारा अल्प करता है, जिसके सत्त्व में अल्प दलिक रहते हैं । अल्प रहे दलिकों को अप्रमत्त-संयतगुणस्थान के चरमसमय में जो संक्रमित करता है, वह इन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है । अपूर्वकरण से तो गुण-संक्रम प्रवर्तित होता है, जिससे जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं हो सकता है । इसीलिये अप्रमत्तसंयत का चरमसमय ग्रहण किया है ।

यहाँ चार पल्योपम अधिक एक सौ पचासी सागरोपम काल इस प्रकार से जानना चाहिये कि कोई क्षमितकर्माश नरकायु को बांधकर छढ़ी नरक पृथ्वी में बाईस सागरोपम की आयु से नारक हो, यहाँ भवप्रत्यय से उपर्युक्त प्रकृतियों की बांधता नहीं और जब वहाँ अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब सम्यक्त्व प्राप्त करे और सम्यक्त्व से गिरे बिना नरक में से निकलकर मनुष्य हो, मनुष्य पर्याय में भी सम्यक्त्व से गिरे बिना सम्यक्त्व के साथ देशविरति का पालन कर सौधर्म स्वर्ग में चार पल्योपम की आयु वाले देव में उत्पन्न हो, यहाँ भी सम्यक्त्व से च्युत न हो, परन्तु उतने काल सम्यक्त्व का पालन कर सम्यक्त्व के साथ ही देवभव में से च्यवकर मनुष्य हो। उस मनुष्यभव में भलीभांति चारित्र का पालन ३५ इकट्ठीति द्वागरोपम वह आयु से ग्रीवेयक देव में उत्पन्न हो और इतने काल गुणनिमित्त से उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध नहीं किया। ग्रीवेयक में उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जाये। यहाँ मिथ्यात्वी होने पर भी भवप्रत्यय से उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध नहीं होता। अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब पुनः सम्यक्त्व प्राप्त हो और उसके बाद पूर्व में कहे अनुसार दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालनकर उस सम्यक्त्व काल का अंतिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहे तब कर्मों को सत्ता में से निर्मूल करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार संसार में परिभ्रमण करने वाले के चार पल्योपम अधिक एक सौ पचासी सागरोपम तक उपर्युक्त नी प्रकृतियों के बंध का अभाव प्राप्त होता है।

सम्यग्रहिणि-बंध-अयोग्य अशुभ प्रकृतियों का जघन्य ग्रदेशासंक्रम स्वामित्व

दुसराहतिणि शीघ्रसुभर्गद्वा संघवण संठियपुमाणं ।

सम्माजोगमाणं भोलसण्हं सरिसं थिवेण्ण ॥११७॥

शब्दार्थ—दुसराहतिणि—दुःखरादित्रिक, शीघ्रसुभर्गद्वा—तीचगोत्र, अशुभ विहायोग्यति, संघवण—संहनन, संठियपुमाण—संस्थान, तपुंसकवेद,

सम्माजोगाणं—सम्यग्दृष्टि के बंध अयोग्य, सोलसष्ट्वं—सोलह प्रकृतियों वा, सरित्—सहश, शिवेषं—रत्रोवेद के समान ।

गाथार्थ—दुःखरादित्रिक, नीच गोत्र, अशुभ विहायोगति, संहनन पंचक, संस्थान पंचक और नपुंसकवेद इन सम्यग्दृष्टि के बंध अयोग्य सोलह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्त्रीवेद के सहश जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—दुःखरात्रिक-दुःखर, दुर्भाग और अनादेय तथा नीच-गोत्र, अशुभ विहायोगति, पहले को छोड़कर शेष पाँच संहनन और पाँच संस्थान तथा नपुंसकवेद इस तरह सम्यग्दृष्टि जीव के बंधने के अयोग्य सोलह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश संक्रम पूर्व में बताये गये स्त्रीवेद के जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व के समान जानना चाहिये । अर्थात् स्त्रीवेद के जघन्य प्रदेश संक्रम का जो स्वामी कहा है, वही इन सोलह प्रकृतियों का भी जानना चाहिये । परन्तु इतना विशेष है कि तीन पल्योगम की आयु वाले युगलिक मनुष्य में उत्पन्न हुआ और वहाँ अन्तर्मुहर्ता आयु शेष रहे तब सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जानना चाहिये तथा शेष समस्त कथन स्त्रीवेद में कहे अनुसार है ।

आयु कर्म आदि का जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व

समयाहिआवलीए आऊण जहणजोग बंधाणं ।

उक्कोसाऊ अते नरतिरिया उरलसत्सस ॥११८॥

शब्दार्थ—समयाहि आवलीए—समयाधिक आवलिका के, आऊण—आयु का, जहणजोग बंधाण—जघन्य योग से बंधी हुई, उक्कोसाऊ—उत्कृष्ट आयु वाले के, अते—अंत में, नरतिरिया—मनुष्य तिर्यंच के, उरलसत्सस—औदारिक सप्तक का ।

गाथार्थ—जघन्य योग से बंधी हुई सभी आयु का समयाधिक आवलिका शेष रहने पर जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है । उत्कृष्ट आयु वाले मनुष्य तिर्यंच अपनी आयु के अंत समय में औदारिक सप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करते हैं ।

विशेषार्थ—जघन्य गोपे द्वारा जीवों गति आयु की सत्ता में उद्ध समयाधिक एक आवलिका शेष रहे तब उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। आयुकर्म में यह संक्रम स्वस्थान में ही जानना चाहिये। क्योंकि आयु कर्म में अन्य प्रकृति नयनसंक्रम नहीं होता है। जिससे उदयावलिका से ऊपर के समय का दलिक अपवर्त्तना द्वारा नीचे उतारने रूप अपवर्त्तनासंक्रम समझना चाहिये किन्तु अन्य प्रकृति नयनसंक्रम नहीं।

उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच अपनी आयु के अंत में औदारिक सप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई एक जीव जो अन्य समस्त जीवों की अपेक्षा सर्वे जघन्य औदारिक सप्तक की प्रदेश सना वाला हो और तीन पल्योपम की आयु वाले युगलिक तिर्यंच या मनुष्य में उत्पन्न हो तो वह युगलिक औदारिक सप्तक को उदय-उदीरणा द्वारा अनुभव करते और विद्यातरंक्रम द्वारा पर-प्रकृति में संक्रमित करते अपनी आयु के बरम समय में औदारिकसप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है। इसका कारण यह है कि अन्य जीवों की अपेक्षा वह अल्प सत्ता वाला है और तीन पल्योपम तक उदय-उदीरणा द्वारा भोगकर एवं विद्यातरंक्रम द्वारा अन्य में संक्रमित करके अल्प करता है, जिससे अल्प प्रदेश की सत्ता वाला वह औदारिकसप्तक का जघन्य प्रदेश संक्रम कर सकता है।

पुरुषवेद संज्ञलनश्चिक का जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व

पुसंजलणतिगाणं जहृण्जोगिस्स खवगसेढीए ।

सगच्चरिमसभयबद्धं जं छुमह सगंतिमे समए ॥११६॥

शब्दार्थ—पुसंजलणतिगाण—पुरुषवेद, संज्ञलनश्चिक का, जहृण्जोगिस्स—जघन्य योग वाले के, खवगसेढीए—क्षणक श्रेणि में बर्तमान, सगच्चरिमसभयबद्ध—अपने बरम समय में बद्ध, जं—जो, छुमह—संक्रमित करता है, सगंतिमे—अपने अंतिम, समए—समय में।

गाथार्थ—क्षपकश्रेणि में वर्तमान जघन्य योग वाले जीव ने पूरुषवेद और संज्वलनश्रिक का अपने-अपने बंध के अंत समय में जो दलिक बोधा उसे अपने-अपने अन्तिम समय में संक्रमित किया जाता है, वह उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि में वर्तमान जघन्य योग वाले जीव ने उन प्रकृतियों—पूरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया--का जिस समय चरम बंध होता है उस समय जो दलिक बोधा, उसकी बंधावलिका के बीतने के बाद संक्रमित करते संक्रमावलिका के चरम समय में पर प्रकृति में अंतिम संक्रम होता है, वह उनका जघन्य प्रदेश-संक्रम है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि इन तीरों प्रकृतियों का बंध-विच्छेद के समय समयन्यून दो आवलिका में बंधे हुए दलिक को छोड़कर अन्य किसी भी समय का बोधा हुआ सत्ता में होता नहीं है और उसे भी प्रति समय संक्रमित करते हुए क्षय करता है और वह वहाँ तक कि चरमसमय में बंधे हुए दलिक का असंख्यातवां भाग शेष रहता है। पूरुषवेद आदि प्रकृतियों का बंधविच्छेद के समय समयोन दो आवलिका काल में बोधा हुआ दल ही शेष रहता है। ऐसा नियम है कि जिस समय बांधे उस समय से बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित करने की शुरुआत होती है और संक्रमावलिका के चरमसमय में सम्पूर्ण रूप से निलेप होता है। इस नियम के अनुसार उग्र्युक्त प्रकृतियों का बंधविच्छेद के समय जो दलिक बंधता है, उसकी बंधावलिका के जाने के बाद संक्रमित किये जाने की शुरुआत होती है और संक्रमित करते-करते संक्रमावलिका के चरमसमय में बंधविच्छेद के समय बोधा हुआ शुद्ध एक समय का ही दल रहता है और वह भी बंधविच्छेद के समय जो बाधा था, उसका असंख्यातवां भाग ही शेष रहता है। उसे सर्वसंक्रम द्वारा संक्रमित करने पर उन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश-संक्रम कहलाता है।

यद्यपि यहाँ संज्वलनलोभ के जघन्य प्रदेशसंक्रमस्वामित्व का निवेश नहीं किया है, परन्तु कर्मप्रकृति संक्रमकरण गाथा ६८ की

टीकानुसार इस प्रकार जानना चाहिये कि उपशमश्रेणि किये बिना क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होने वाले अपूर्वकरणगुणस्थान की पहली आवलिका के अंत में संज्वलनलोभ का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

इस प्रकार से प्रदेशसंक्रम के अधिकृत विषयों का विवेचन करने के साथ संक्रमकरण का वर्णन समाप्त हुआ।^१ अब एक प्रकार से संक्रम के भेद जैसे उद्वर्तना और अपवर्तना करणों का वर्णन प्रारंभ करते हैं।

संक्रम और उद्वर्तना-अपवर्तना करणों में यह अंतर है कि संक्रम तो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चारों का होता है किन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना करण, स्थिति एवं अनुभाग (रस) के विषय में ही होते हैं। इसके सिवाय और भी जो भिन्नता है, उसे यथाप्रसंग स्पष्ट किया जायेगा। ■

१ रिधति, अनुभाग और प्रदेशसंक्रम के समस्त कथन का बोधक प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

उद्वर्तना और अपवर्तना करण

उद्देशानुसार अब उद्वर्तना एवं अपवर्तना इन दो करणों का विचार किया जायेगा। स्थिति और अनुभाग इनके विषय हैं। अतएव स्थिति और अनुभाग के क्रम से इन दोनों करणों का प्रतिपादन करते हैं।

निव्याधित और व्याधात के भेद से स्थिति उद्वर्तना के दो प्रकार हैं। उनमें से सर्वप्रथम निव्याधित स्थिति उद्वर्तना का निरूपण करते हैं।

निव्याधित स्थिति उद्वर्तना

उदयावलिवज्ज्ञाणं ठिईण उद्वट्टणा उ ठितिविसया ।

सोक्कोसअबाहाओ जावाबलि होई अइत्यवणा ॥१॥

शब्दार्थ—उदयावलिवज्ज्ञाण—उदयावलिका से बाह्य; ठिईण—स्थितियों की, उद्वट्टणा—उद्वर्तना, उ और, ठितिविसया—स्थिति की विषय रूप, सोक्कोसअबाहाओ—अपनी उत्कृष्ट अबाधा से लेकर, जावाबलि—आवलिका पर्यन्त, होइ—है; अइत्यवणा—अतीत्यापना।

गाथार्थ—स्थिति की विषय रूप उद्वर्तना उदयावलिका से बाह्य स्थितियों की होती है और अपनी उत्कृष्ट अबाधा से लेकर आवलिका पर्यन्त की स्थितियाँ अतीत्यापना हैं।

चिशेषार्थ—गाथा में स्थिति-उद्वर्तना का स्वरूप बताया है। उसमें भी पहले उद्वर्तना का लक्षण स्पष्ट करते हैं कि जीव के जिस प्रयत्न द्वारा स्थिति और रस की बुद्धि हो, उसे स्थिति और रस की उद्वर्तना कहते हैं। अर्थात् उद्वर्तना का विषय स्थिति और रस है, प्रकृति एवं प्रदेश नहीं। उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा प्रकृति और

प्रदेश में वृद्धि-हानि नहीं होती है, परन्तु स्थिति और रस में होती है। इसलिये क्रम प्राप्त पहले स्थिति-रस की उद्दर्तना की प्ररूपणा करके, बाद में स्थिति-रस की अपदर्तना का निरूपण करेंगे।

उद्दर्तना के विचार में स्थिति का प्रथम स्थान है, अतएव स्थिति उद्दर्तना का कथन करते हैं कि उदयावलिका को छोड़कर ऊपर जो स्थितियाँ हैं, उनमें स्थिति-उद्दर्तना प्रवर्तित होती है और उदयावलिका सकल करण के अयोग्य होने से उसमें प्रवृत्त नहीं होती है।

प्रश्न—बंधावलिका के बीतने के बाद उदयावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति की—समस्त स्थितिस्थानों की उद्दर्तना हो सकती है ?

उत्तर—बंधावलिका से ऊपर की समस्त स्थिति की—समस्त स्थितिस्थानों की उद्दर्तना नहीं हो सकती है।

प्रश्न—तब कितने की हो सकती है ?

उत्तर—स्वजातीय जिस प्रकृति की जितनी स्थिति बंधती है, उसकी जितनी अबाधा हो तो उस प्रकृति की सत्ता में रही हुई उतनी स्थिति की उद्दर्तना नहीं हो सकती है, परन्तु अबाधा से ऊपर की स्थिति की उद्दर्तना होती है। अर्थात् उत्कृष्ट अबाधा हो तब अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की, मध्यम हो तब मध्यम अबाधाप्रमाण स्थिति की और जघन्य अबाधा हो तब जघन्य अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की उद्दर्तना नहीं होती है, परन्तु उससे ऊपर की स्थिति की हो सकती है।

इस प्रकार उत्कृष्ट अबाधाप्रमाण स्थिति उत्कृष्ट अतीत्थापना, मध्यम अबाधाप्रमाण स्थिति मध्यम अतीत्थापना और अल्प-अल्प होती जघन्य अबाधाप्रमाण स्थिति जघन्य अतीत्थापना है।

अतीत्थापना का अर्थ है उलांघना। इसीलिये जितनी स्थिति को उलांछकर उद्दर्तना हो, वह उलांघने योग्य स्थिति अतीत्थापनास्थिति

कहलाती है। क्योंकि उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति की उद्वर्तना होती है। इसलिये उतनी स्थिति अतीत्यापना कहलाती है। जघन्य अबाधाप्रमाण जघन्य अतीत्यापना से भी अल्प जो अतीत्यापना है वह आवलिका-प्रमाण है।

उक्त कथन का तात्पर्य इस प्रकार है—उद्वर्तना का संबंध बंध से है। अतएव जितनी स्थिति बंधे, सत्तागत स्थिति उतनी बढ़ती है। बछ्यमान प्रकृति की जितनी स्थिति बंधती है उसकी जितनी अबाधा हो, उसके तुल्य या उससे हीन जिसकी बंधावलिका बीत गई है, वैसी उस कर्म की ही पूर्ववद्ध स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है। यानि अबाधाप्रमाण उस सत्तागत स्थिति को वहाँ से उठाकर बंधने वाली उसी प्रकृति की अबाधा से ऊपर की स्थिति में प्रक्षेप नहीं किया जाता है। क्योंकि वह स्थिति अबाधा के अन्तः प्रविष्ट है।

यहाँ स्थिति को उठाकर अन्यत्र प्रक्षिप्त करने का तात्पर्य उस-उस स्थितिस्थान में भोगने योग्य दलिकों को उठाकर अन्यत्र निक्षिप्त नहीं किया जाता है, यह है।

अबाधा से ऊपर जो स्थिति है, उसकी अंतिम स्थितिस्थान पर्यन्त उद्वर्तना होती है। इस प्रकार अबाधा के अंदर की सभी स्थितियाँ उद्वर्तना की अपेक्षा अनतिक्रमणीय हैं। यानि अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थानों के दलिक अबाधा से ऊपर के स्थानों में प्रक्षिप्त नहीं किये जाते—अबाधा से ऊपर के स्थानों के दलिकों के साथ भोगे जायें वैसे नहीं किये जाते हैं। इस प्रकार होने से जो उत्कृष्ट अबाधा वह उत्कृष्ट अतीत्यापना, समयन्यून उत्कृष्ट अबाधा, वह समयन्यून उत्कृष्ट अतीत्यापना, दो समयन्यून अबाधा वह दो समयन्यून उत्कृष्ट अतीत्यापना है, इस प्रकार समय-समय हीन-हीन होते वहाँ तक कहना चाहिये कि जघन्य अन्तमुद्दर्त प्रमाण अबाधा वह जघन्य अतीत्यापना

है। उस जघन्य अबाधारूप अतीत्थापना से भी जघन्य अतीत्थापना आवलिका प्रमाण है एवं वह उदयावलिका रूप है। क्योंकि उदयावलिका के अंदर की स्थितियों की उद्वर्तना नहीं होती है। कहा भी है—‘उबद्धुणा ठिईए उदयावलियए वाहिए ठिईण’ स्थिति की उद्वर्तना उदयावलिका से ऊपर की स्थिति में होती है।

प्रश्न—किसी भी काल में बंध हो तभी उद्वर्तना होती है। कहा गी है—‘ग्राम्यमान उद्घट्टृइ’ बैठ पर्वत यानि किसी भी प्रकृति की उद्वर्तना उस प्रकृति के बंध होने तक ही प्रवर्तित होती है। जैसे कि मिथ्यात्वमोहनीय की उद्वर्तना मिथ्यात्वमोहनीय के बंध होने तक ही होती है, इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के लिये भी समझना चाहिये तथा ऐसा भी कहा कि वध्यमान प्रकृति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है। इस प्रकार होने से जो उदयावलिकागत स्थितियाँ हैं, अबाधा में ही समावेश हो जाने से उनकी उद्वर्तना होती ही नहीं है तो फिर से उदयावलिकागत स्थितियों की उद्वर्तना नहीं होती है—ऐसा निषेध क्यों किया है निषेध तो पहले ही हो गया है।

उत्तर—उत्तर प्रश्न अभिप्राय को न समझने के कारण अयुक्त है। ऊपर जो कहा है कि—‘वध्यमान प्रकृति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती,’ उसका तात्पर्य यह है कि उस अबाधा की अंतर्वर्ती स्थितियों को स्वस्थान से उठाकर अबाधा से ऊपर के

१. उद्वर्तना प्रवर्तित होती है यानि जीव भोगे जायें इस प्रकार से नियत हुए दलिकों को देर से भोगा जावे बैसा करना बंध समय जो निषेक रचना हुई हो उसे उद्वर्तना बदल देती है। कितनी ही बार जितनी स्थिति बंधे उतनी ही सत्ता में होती है, कितनीक बार बंध से सत्ता में कम होती है और किसी समय बंध से सत्ता में अधिक होती है तो प्रत्येक समय उद्वर्तना कैसे होती है, यह समझने योग्य है।

स्थानों में निषेप नहीं होता है। यानि अवाधा के अन्तर्गत जो स्थिति-स्थान रहे हुए हैं उनके दलिक अबाधा से ऊपर के स्थानों में रहे हुए दलिकों के साथ भोगे जायें, वैसा नहीं होता है, परन्तु अबाधा का अबाधा में ही जिस क्रम से अबाधा के ऊपर के स्थानों के लिये आगे कहा जा रहा है, उस क्रम से उद्वर्तना और निषेप होता है, इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार होने से उदयावलिकागत स्थितियों की भी उद्वर्तना प्राप्त होती है, अतः उसका निषेध करने के लिये उदयावलिकागत स्थितियों की उद्वर्तना नहीं होती, यह कहा है। अबाधा के स्थानों की उद्वर्तना अबाधा के स्थानों में ही हो सकती है। जैसे कि मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तर कोडाकोडी सातारोपम स्थिति बंधी और उसकी सात हजार वर्ष प्रमाण अबाधा है तो सत्तागत उतनी स्थिति की उद्वर्तना का निषेध किया है। अर्थात् सात हजार वर्ष प्रमाण राज्यों में के किसी भी स्थान के दलिक सात हजार वर्ष के बाद भोगे जाने योग्य दलिकों के साथ भोगे जायें वैसे नहीं किये जाते हैं, किन्तु अबाधागत उदयावलिका से ऊपर के स्थान के दलिकों को उसके बाद के स्थान से प्रारंभ कर आवलिका को उलांधकर बाद के स्थान से सात हजार वर्ष के अंतिम समय तक के स्थानों के साथ भोगे जायें वैसे किये जा सकते हैं।

इस प्रकार अबाधा के स्थानों की अबाधा के स्थानों में उद्वर्तना हो सकती है। मात्र उदयावलिका करण के अयोग्य होने से उसमें नहीं होती है। इसीलिये उसका निषेध किया है।

यहाँ यह ध्यान में रखना है कि उद्वर्तना हो तब बंधसमय में हुई निषेकरचना में परिवर्तन होता है और जितनी स्थिति बंधे, उतनी ही स्थिति की सत्ता हो तब बद्धस्थिति की अबाधातुल्य सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर के जिस स्थितिस्थान के दलिक की उद्वर्तना होती है, उसके दलिक को उससे ऊपर के समय से आवलिका के समय प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की बंधती हुई स्थिति के चरमस्थान तक के किसी भी स्थान के दलिक के साथ भोगा जाये, वैसा किया

जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि बंध के समय जिस समय भोगा जाये, इस प्रकार से नियत हुआ हो, उसे एक आवलिका के बाद किसी भी समय में भोगने योग्य किया जाता है। इस प्रकार से निषेक रचना बदलती है। स्थिति को उद्वर्तना यानि अमुक स्थान में भोगने के लिये नियत हुए दलिकों को उसके बाद कम में कम आवलिका के बाद फल दें, उनके साथ भोगने योग्य करना यह है। जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उससे ऊपर के समय से लेकर एक आवलिका प्रमाण स्थिति में जीवस्वभाव से दलिक निषेप नहीं होता है परन्तु उसके बाद के किसी भी स्थान में होता है, इसलिये आवलिका अतीत्थापना कहलाती है। इससे कम-से-कम एक आवलिका प्रमाण स्थिति बढ़ती है और अधिक-से-अधिक अवाधा से ऊपर की स्थिति के दलिक को बंधती हुई स्थिति में के अंतिम स्थितिस्थान में प्रक्षेप होता है, उस समय प्रभूत स्थिति बढ़ती है।

समय-समय बंधते कर्म में बद्ध समय से लेकर एक आवलिका पर्यन्त कोई करण लागू नहीं होता है, इसीलिये सत्तागतस्थिति का नाम लिया जाता है। सत्तागतस्थिति की निषेकरचना बदलकर बद्धस्थिति जितनी ही जाती है। जैसे कि अंतःकोडाकोडी सागरोपम की सत्ता बाला कोई जीव पदि सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति वाँचे तब अन्तःकोडाकोडी में भोगी जाये इस प्रकार से नियत हुई निषेकरचना बदलकर सत्तर कोडाकोडी में भोगी जाये, वैसी होती है।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस-जिस स्थिति की उद्वर्तना होनी हो उसके दलिक उससे ऊपर के समय से लेकर एक अतीत्थापनावलिका को छोड़कर ऊपर ऊपर के किसी भी स्थान में स्थित होते हैं। इस नियम के अनुसार किसी भी स्थान या स्थानों की उद्वर्तना होती है तो सत्तागत स्थिति या रस तत्समय बंधती स्थिति या बंधते रस प्रमाण होता है, किन्तु बंधती स्थिति या बंधते रस से सत्तागत स्थिति या रस नहीं बढ़ता है।

सत्तागत स्थिति से बंधने वाली स्थिति कम हो तब बंधने वाली स्थिति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर के स्थान के दलिक को उससे ऊपर के समय से आवलिका छोड़कर बंधती स्थिति के अंतिम स्थितिस्थान तक के किसी भी स्थान के साथ भोगा जाये, वैसा किया जाता है। जैसे कि दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति की सत्ता है और बंध पांच कोडाकोडी सागरोपम का है तो उस समय पांच सौ वर्ष प्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर उससे ऊपर के स्थानगत दलिक को उसकी ऊपर से एक आवलिका छोड़कर समयाधिक एक आवलिका और पांच सौ वर्ष न्यून पांच कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थानों में के किसी भी स्थान के साथ भोगा जाये वैसा किया जाता है, उससे बढ़ता नहीं है। वयोंकि बंध अधिक नहीं है। स्थिति की उद्वर्तना का जो क्रम है, वही इस की उद्वर्तना के लिये भी जानना चाहिये।

सत्तागत स्थिति से अधिक स्थिति का बंध हो तब उद्वर्तना होने का क्रम आगे बताया जा रहा है।

यहाँ उद्वर्त्यमानस्थिति और निष्केपस्थिति यह दो शब्द आते हैं। उनमें से उद्वर्त्यमानस्थिति उसे कहते हैं कि जिस स्थिति-स्थिति-स्थान के दलिकों का ऊपर के स्थान में निषेग किया जाता है और उद्वर्त्यमान स्थितिस्थान के दलिक जिसमें निषिष्ट किये जाते हैं—जिसके साथ भोगने योग्य किये जाते हैं, उसे निष्केपस्थिति कहते हैं।

इस प्रकार से स्थिति उद्वर्तना के स्वरूप का विचार करने के पश्चात अब निष्केप प्ररूपणा करते हैं।

निष्केप प्ररूपणा

इच्छयठिठिठाणाओ आवलिगं लंघितण तद्वलियं ।

सद्वेसु वि निष्किलप्पद ठिठिठाणेसु उपरिमेसु ॥२॥

शब्दार्थ—इन्नियठितिठाणाओ—इच्छित स्थितिस्थान में, आवलिम—आवलिका, लंघिउण—उलांधकर, तदूदलिय—उस दलिक का, सब्बेसु—सभी, वि—भी, निक्षेपइ—निक्षेप किया जाता है, ठितिठाणेसु—स्थितिस्थानों में, उबरिमेसु—ऊपर के ।

गाथार्थ—इच्छित स्थितिस्थान से एक आवलिका उलांधकर ऊपर के समस्त स्थितिस्थानों में उद्वर्त्यमान स्थिति के दलिक का निक्षेप किया जाता है ।

विशेषार्थ—-बंधती हुई स्थिति की अवाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति को छोड़कर ऊपर के उद्वर्तना योग्य जो स्थितिस्थान हैं वहाँ से लेकर स्थिति—स्थितिस्थान की उद्वर्तना करना हो, उसके दलिकों को उसके ऊपर के स्थान में एक आवलिका प्रमाण स्थिति उलांधने के बाद ऊपर के किन्हीं भी स्थानों में निक्षेप किया जाता है । अर्थात् उद्वर्तना के योग्य स्थिति के दलिक जिस स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है उसके अर्द्धे समय से आवलिका प्रमाण स्थानों को छोड़कर ऊपर के समस्त स्थानों में निक्षिप्त किये जाते हैं यानि समस्त स्थानों के साथ भोगने योग्य किये जाते हैं ।

इस प्रकार यहाँ सामान्य से उद्वर्त्यमान स्थिति के दलिक कहाँ और कितने में निक्षेप किये जाने का निर्देश करने के बाद अब जितने में निक्षेप किया जाता है, उसका निश्चित प्रमाण बतलाते हैं ।

आवलिअसंख्याह जाव कम्मटिदतिति निक्षेषो ।

समयोत्तरावलीए साबाहाए भवे ऊणो ॥३॥

शब्दार्थ—आवलिअसंख्याह—आवलिका के असंख्यातवे भाग से लेकर, जाव—यावत्-पर्यन्त, कम्मटिदतिति—उत्कृष्ट कर्म स्थिति, निक्षेषो—निक्षेप का विषय है, समयोत्तरावलीए—समयाधिक आवलिका, साबाहाए—अवाधा सहित, भवे—है, ऊणो—न्यून ।

गाथार्थ—आवलिका के असंख्यातवे भाग से लेकर यावत् उत्कृष्ट कर्म स्थिति यह निक्षेप का विषय है और वह अवाधा सहित समयाधिक आवलिका न्यून है ।

विशेषाधर्म—निष्केप की विषयरूप स्थिति दो प्रकार की है—
 १. जघन्य, और २. उत्कृष्ट। निष्केप की विषयरूप स्थितियाँ वे कहलाती हैं कि जिनमें जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उसके दलिक निष्क्रिय किये जाते हैं। उसका जघन्य उत्कृष्ट कितना प्रमाण होता है, अब इसको स्पष्ट करते हैं—

आवलिका के असंख्यातबें भाग प्रमाण स्थितियों में कर्मदलिक का जो निष्केप होता है, वह जघन्य निष्केप है। अर्थात् जब सत्तागत स्थिति जितनी स्थिति का बंध हो तब सत्तागत स्थिति में की चरम-स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है। क्योंकि जितनी स्थिति की सत्ता है, उतना ही बंध होता है, जिससे सत्तागत स्थिति में के चरम स्थिति-स्थान के दलिक को प्रक्षिप्त करने योग्य कोई स्थान नहीं है। द्विचरम स्थिति की भी उद्वर्तना नहीं होती है यावत् चरम स्थितिस्थान से लेकर एक आवलिका और आवलिका के असंख्यातबें भाग की उद्वर्तना नहीं होती है। इसी प्रकार सत्तागत स्थिति के समान स्थिति का जब बंध हो तब उस सर्वोत्कृष्ट स्थिति के अग्रभाग से यानि अंतिम स्थितिस्थान से लेकर एक आवलिका के एवं आवलिका के असंख्यातबें भाग प्रमाण स्थितिस्थानों की उद्वर्तना नहीं होती है, उसके नीचे के स्थान की ही उद्वर्तना होती है और उसके दलिक को उसके ऊपर के समय से लेकर आवलिका अतीत्थापनावलिका मात्र स्थिति को उलांघकर ऊपर के आवलिका के असंख्यातबें भाग-प्रमाण स्थिति में निष्क्रिय किया जाता है, किन्तु अतीत्थापना रूप आवलिका में नहीं किया जाता है।

इस आवलिका में प्रक्षेप नहीं करने का कारण तथाप्रकार का जीवस्वभाव है।

इस प्रकार चरम स्थितिस्थान से आवलिका और आवलिका का असंख्यातबां भाग उलांघकर उससे नीचे के स्थान की उद्वर्तना हो तब अंतिम आवलिका के असंख्यातबें भाग प्रमाण स्थिति जघन्य

निष्केप की विषय रूप है। कम से कम निष्केप की विषय रूप स्थिति उपर्युक्त रीति से आवलिका के असंख्यात्में भाग ही होती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सत्तागत स्थिति के तुल्य स्थिति का बंध हो तब चरम स्थितिस्थान से लेकर एक आवलिका और आवलिका के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थिति में उद्वर्तना नहीं होती है। किन्तु उसके नीचे के स्थितिस्थान से लेकर बंधती स्थिति की अबाधा प्रमाण स्थिति को छोड़कर किसी भी स्थितिस्थान की उद्वर्तना हो सकती है। यानि उत्कृष्ट स्थितिबंध जब हो तब बंधावलिका, अबाधा और आवलिका के असंख्यात्में भाग सहित एक आवलिका, इतनी स्थिति को छोड़कर शेष स्थिति उद्वर्तना के योग्य है। उसका कारण यह है—बंधावलिकान्तर्भौमि अधिक साक्षाৎ कारण के लक्षण हैं, इसलिये बंधती स्थिति की अबाधा प्रमाण सत्तागत स्थिति उद्वर्तना के योग्य है क्योंकि उसनी स्थिति अतीत्यापना रूप से पहले कही जा चुकी है, इसीलिये अबाधा के अन्तर्गत रही स्थिति भी उद्वर्तना के योग्य नहीं तथा एक आवलिका और आवलिका के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थितियां ऊपर कही युक्ति से उद्वर्तना के योग्य नहीं हैं। अतः उत्कृष्ट स्थिति में से बंधावलिका, अबाधा प्रमाण स्थिति, आवलिका के असंख्यात्में भाग अधिक एक आवलिका प्रमाण स्थितियों को छोड़ कर शेष स्थितियां उद्वर्तना के योग्य जानना चाहिये।

इस प्रकार से उद्वर्तना के योग्य स्थितियों का निर्देश करने के अनन्तर अब निष्केप की विषयरूप स्थितियों का विचार करते हैं—

जब ऊपर के स्थितिस्थान से आवलिका और आवलिका के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थिति को उलांघकर नीचे की पहली स्थिति की उद्वर्तना होती है तब उसके दलिकों को उसके ऊपर के स्थान से आवलिका प्रमाण स्थानों का अतिक्रमण कर आवलिका के अंत के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थानों में प्रक्षेप होता है, वह जबन्य निष्केप है। उससे नीचे की दूसरी स्थिति की उद्वर्तना होती है तब

समयाधिक आवलिका का असंख्यातर्वाँ भाग निक्षेप का विषयरूप होता है, जब उसकी नीचे की तीसरी स्थिति की उद्वर्तना होती है तब दो समय अधिक आवलिका का असंख्यातर्वाँ भाग निक्षेप का विषयरूप होता है। यहाँ प्रत्येक स्थान पर अतीत्थापना स्थितियाँ आवलिका प्रमाण ही रहती हैं, किन्तु निक्षेप बढ़ता है और इस तरह निक्षेप की विषयरूप स्थितियों में समय-समय की वृद्धि होते वहाँ तक जानना चाहिये कि यावत् उत्कृष्ट हो जाये।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि उत्कृष्ट निक्षेप कितना होता है— समयाधिक आवलिका और अबाधा हीन सम्पूर्ण कर्मस्थिति यह उत्कृष्ट निक्षेप है। वह इस प्रकार—बन्धती स्थिति की अबाधा प्रमाण स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती किन्तु उससे ऊपर की स्थिति की उद्वर्तना होती है। इसलिये जब अबाधा से ऊपर रही हुई स्थिति की उद्वर्तना होती है तब उस स्थितिस्थान के दलिक का निक्षेप अबाधा से ऊपर के स्थानों में होता है, अबाधा के अन्दर के स्थितिस्थानों में नहीं होता है। क्योंकि जिस स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है उसके दलिक का निक्षेप जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है उससे ऊपर के स्थानों में ही होता है। उसमें भी जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है उससे ऊपर के स्थितिस्थान से लेकर आवलिका प्रमाण स्थिति का अतिक्रमण होने के बाद ऊपर की सभी स्थितियों में दलिक निक्षेप होता है। जिससे अतीत्थापनावलिका और जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उस समय प्रमाण स्थिति और अबाधा को छोड़कर शेष संपूर्ण कर्मस्थिति उत्कृष्ट दलनिक्षेप की विषयरूप होती है।

अतीत्थापनारूप आवलिका उद्वर्त्यमान समयप्रमाण स्थिति और अबाधाकाल को ग्रहण न करने का कारण यह है कि जितने स्थितिस्थानों का अतिक्रमण करने के बाद दलिक निक्षेप किया जाता है, उसे अतीत्थापना कहते हैं। कम-से-कम भी एक आवलिका को उलांघने के बार ही दलनिक्षेप होता है, इसलिये उस एक आवलिका को अतीत्थापना कहते हैं और उसमें दलनिक्षेप न होने से उसका

निषेध किया है जिस स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है, उसके दलिक का निष्केप उसके ऊपर के स्थान से लेकर आवलिका प्रमाण स्थिति छोड़कर ऊपर के स्थान में होता है, अतएव उस उद्वर्त्यमान-स्थान का भी निषेध किया है तथा अबाधा का निषेध करने का कारण यह है कि अबाधा प्रमाण स्थान के दल का निष्केप अबाधा के ऊपर के स्थानों में नहीं होता है।

इस प्रकार अबाधा से ऊपर रहे स्थितिस्थान की जब उद्वर्तना होती है तब उस स्थितिस्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट निष्केप और सर्वोत्तम स्थितिस्थान की जब उद्वर्तना होती है तब उसकी अपेक्षा जघन्य निष्केप संभव है।

अब इसी बात को स्वयं ग्रंथकार आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अब्बाहोवरिठाणगदलं पदुच्चेह परमनिक्षेपो ।

चरिमुव्वट्टणगाणं पदुच्च इह जायड जहणो ॥४॥

शब्दार्थ—अब्बाहोवरिठाणगदलं—अबाधा से ऊपर हुए स्थिति-स्थान के दल की, पदुच्चेह—अपेक्षा यहाँ, परमनिक्षेपो—उत्कृष्ट निष्केप, चरि-मुव्वट्टणगाणं—चरम उद्वर्त्यमान दलिक, पदुच्च—अपेक्षा, इह—यहाँ, जायड—होता है, जहणो—जघन्य।

गाथार्थ—अबाधा से ऊपर रहे हुए स्थितिस्थान के दल की अपेक्षा यहाँ उत्कृष्ट निष्केप और चरम उद्वर्त्यमान स्थितिस्थान की अपेक्षा जघन्य निष्केप होता है।

विशेषार्थ—अबाधा से ऊपर रहे हुए स्थितिस्थान की जब उद्वर्तना होती है तब उसके दलिक का उसके ऊपर के स्थितिस्थान से लेकर आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को छोड़कर ऊपर के समस्त स्थितिस्थानों में प्रक्षेप होता है, जिससे उसको अपेक्षा यहाँ—उद्वर्तनाकरण में उत्कृष्ट निष्केप होता है और जिसके बाद के स्थितिस्थान की उद्वर्तना नहीं होती है, ऐसे अंतिम स्थितिस्थान की उद्वर्तना होने पर उसकी अपेक्षा जघन्य निष्केप संभव है।

जैसे कि सत्ता के समान स्थिति का अब बंध हो तब ऊपर के स्थान से आवलिका और आवलिका के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थिति में के किसी भी स्थितिस्थान की उद्वर्तना नहीं होती है, उसके नीचे के स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है। जब उस स्थिति-स्थान की उद्वर्तना हो तब उसकी अपेक्षा आवलिका के असंख्यात्में भाग प्रमाण जघन्यनिक्षेप संभव है और मध्य के स्थितिस्थानों की अपेक्षा मध्यम निक्षण होता है।

इस प्रकार से निक्षेप का निर्देश करने के बाद अब उद्वर्तनायोग्य स्थितियों का प्रमाण बतलाते हैं।

उद्वर्तनायोग्य स्थितियाँ

उक्तोसगठितबंधे बंधावलिया अबाहमेत्तं च ।

निक्षेपं च जहणं मोत्तुं उव्वट्टए सेसं ॥५॥

गाथार्थ—उक्तोसगठितबंधे—उत्कृष्ट स्थिति बंध होने पर, बंधावलिया—बंधावलिका, अबाहमेत्तं—अबाधा मात्र, च—और, निक्षेपं—निक्षेप, च—और, जहणं—जघन्य, मोत्तुं—छोड़कर, उव्वट्टए—उद्वर्तना होती है, सेसं—प्रेष की।

गाथार्थ—उत्कृष्ट स्थिति बंध होने पर बंधावलिका अबाधा और जघन्य निक्षेप मात्र को छोड़कर शेष स्थितियों की उद्वर्तना होती है।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबंध हो तब बंधावलिका प्रमाण स्थिति बंधती हुई स्थिति की अबाधाप्रमाण सत्तागत स्थिति और जघन्य निक्षेप प्रमाण स्थिति को छोड़कर शेष समस्त स्थिति की उद्वर्तना होती है।

जघन्य निक्षेप प्रमाण स्थिति के ग्रहण से अंत की आवलिका और आवलिका के असंख्यात्में भाग प्रमाण स्थिति समझना चाहिये। क्योंकि उत्तरी स्थिति की उद्वर्तना नहीं होती है। जिसका स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है।

इस प्रकार निव्याघात यानि सत्तागत स्थिति के समान स्थिति का बंध होने पर होने वाली उद्वर्तना का निरूपण जानना चाहिये । अब व्याघात अर्थात् सत्तागत स्थिति से समय आदि अधिक स्थिति का बंध होने पर होने वाली उद्वर्तना का विचार करते हैं कि वह कैसे होती है और उसकी दलिक निष्केप विधि क्या है ।

व्याघातभाविनी उद्वर्तना—

निव्याघाए एवं वाघाओ संतकम्भिगबंधो ।
 आवलिअसंखभागो जावावलि तत्थ इत्थवणा ॥६॥
 आवलिदोसंखंसा जड बड़द्व अहिणवो उठिड्वबंधो ।
 उव्वट्टित तो चरिमा एवं जावलि अहुत्थवणा ॥७॥
 अहुत्थावणालियाए पुण्णाए बड़द्विति निष्केवो ।
 ठितिउव्वट्टणमेवं एतो आवव्वट्टणं बोच्छुं ॥८॥

शब्दार्थ— निव्याघाए—व्याघात के अभाव में, एवं—इस प्रकार, वाघाओ—व्याघात, संतकम्भिगबंधो—सत्ता से अधिक होने वाले कर्म बंध, आवलिअसंखभागो—आवलिका का असंख्यात्मक भाग, जावावलि—यावत् आवलिका, तत्थ—वहाँ, इत्थवणा—अतीत्यापना ।

आवलिवोसंखंसा—आवलिका के दो असंख्यात्मक भाग, जड—यदि, बड़द्व—बढ़ती है—होती है, अहिणवो—अभिनव नया, उ—और, ठिड्वबंधो—स्थितिबंध, उव्वट्टित—उद्वर्तना होती है, तो—तत्पश्चात्, चरिमा एवं—चरम की इसी प्रकार, जावलि—आवलिका पर्यन्त-पूर्ण आवलिका, अहुत्थवणा—अतीत्यापना ।

अहुत्थावणालियाए—अतीत्यापनावलिका की, पुण्णाए—पूर्णता होने पर, बड़द्विति—बढ़ता है, निष्केवो—निष्केप, ठितिउव्वट्टणमेवं—स्थिति उद्वर्तना इस प्रकार, एतो—यहाँ से अब, ओव्वट्टण—अपवर्तना, बोच्छुं—कहुंगा, दर्णन विया जायेगा ।

गाथार्थ—व्याघात के अभाव में होने वाली उद्दर्तना और दलिक निक्षेप विधि पूर्वोक्त प्रकार है। सत्ता से अधिक होने वाले कर्मबंध को व्याघात कहते हैं। व्याघात में आवलिका का असंख्यातवां भाग जघन्य और उत्कृष्ट यावत् आवलिका अतीत्यापना है।

सत्तागत स्थिति से अभिनव—नया स्थितिबंध जब आवलिका के दो असंख्यातवै भाग प्रमाण बढ़ता है—होता है तब सत्तागत स्थिति में की चरम स्थिति की उद्दर्तना होती है और एक आवलिका—पूर्ण आवलिका होने तक अतीत्यापना बढ़ती है।

अतीत्यापनावलिका की पूर्णता होने पर निषेक बढ़ता है। स्थितिउद्दर्तना का स्वरूप इस प्रकार है। अब स्थिति-अपवर्तना का वर्णन किया जायेगा।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में व्याघातभाविनी स्थिति-उद्दर्तना की व्याख्या करके उपसंहारपूर्वक स्थिति-अपवर्तना का वर्णन प्रारंभ करने का सकेत किया है। प्रथम व्याघातभाविनी स्थिति-उद्दर्तना की व्याख्या करते हैं—

सत्ता में रही हुई स्थिति की अपेक्षा अधिक नवीन स्थिति के कर्मबंध करने को व्याघात कहते हैं। उस समय आवलिका का असंख्यातवां भाग अतीत्यापना है और वह बढ़ते पूर्ण आवलिका प्रमाण होती है। तात्पर्य इस प्रकार है—

सत्ता में विद्यमान स्थिति की अपेक्षा समय, दो समय आदि द्वारा अधिक कर्म का जो नवीन बंध होता है, उसे यहाँ व्याघात कहा गया है। उस समय अतीत्यापना जघन्य से आवलिका का असंख्यातवां भाग होती है। वह इस प्रकार—सत्तागत स्थिति से समय मात्र अधिक कर्म का नवीन स्थितिबंध हो तब पूर्व की सत्तागत स्थिति में के चरमस्थितिस्थान की उद्दर्तना नहीं होती है, द्वितीय-उपान्त्य स्थिति की उद्दर्तना नहीं होती है। इस प्रकार

सत्तागत स्थिति के अंतिम स्थान से लेकर आवलिका और आवलिका के असंख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थान की उद्वर्तना नहीं होती है। इसी तरह सत्तागत स्थिति से दो समय अधिक कर्म का नवीन बंध हो, तीन समय अधिक बंध हो, यावत् सत्तागत स्थिति से आवलिका के असंख्यातवे भाग अधिक नवीन कर्म का स्थितिबंध हो, वहाँ तक भी सत्ता में रहे हुए स्थिति के चरम आदि स्थानों की उद्वर्तना नहीं होती है। परन्तु यह आवलिका के दो असंख्यातवे भाग अधिक नवीन कर्म का स्थितिबंध हो, तब सत्ता में रही हुई स्थिति में की चरमस्थिति की उद्वर्तना होती है और उस चरम स्थान की उद्वर्तना करके उसके दलिकों को उसके ऊपर के स्थान से आवलिका के पहला असंख्यातवे भाग को उलाघकर दूसरे असंख्यातवे भाग में निक्षेप होता है। इस समय आवलिका का असंख्यातवे भाग प्रमाण जघन्य निक्षेप और उतनी ही जघन्य अतीत्थापना घटित होती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्ता में रही हुई स्थिति से जब तक आवलिका के दो असंख्यातवे भाग अधिक नवीन स्थिति का बंध न हो, तब तक तो व्याघात नहीं होता है। उस समय जिस रीति से उद्वर्तना और निक्षेप होता है, उसी प्रकार यहाँ—ज्याघात में भी उद्वर्तना और निक्षेप होता है। व्याघात न हो तब यानि सत्ता में रही हुई स्थिति के समान स्थिति जब बने, तब सत्ता में रही स्थिति में के चरमस्थितिस्थान^१ की उद्वर्तना नहीं होती है, द्विचरमस्थान की उद्वर्तना नहीं होती है, यावत् आवलिका और आवलिका के असंख्यातवे भाग में रहे हुए स्थितिस्थान की उद्वर्तना नहीं होती है, परन्तु उसके नीचे के स्थान की उद्वर्तना होती है, और उसके दलिक को ऊपर के स्थितिस्थान आवलिका छोड़कर आवलिका के अंतिम असंख्यातवे भाग

१ एक साथ जितनी स्थिति बंधे उसे बध्यमान स्थितिस्थान और एक साथ भोगनेयोग्य हुई दलिकरचना की सत्तागत स्थितिस्थान कहते हैं।

में प्रक्षिप्त किया जाता है। उसी प्रकार सत्तागत स्थिति से जब तक आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक बंध न हो, तब तक भी सत्तागत स्थिति में के चरम, द्वितीय यावत् आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग में रही हुई किसी स्थिति की उद्धर्तना नहीं होती है, परन्तु उसके नीचे के स्थान की उद्धर्तना होती है। और उसके दलिक को उसके ऊपर के स्थितिस्थान से आवलिका छोड़ ऊपर के जितने स्थान हों उन सभा में प्रक्षेप होते हैं। यहाँ मात्र निक्षेप की ही वृद्धि हुई, क्योंकि यहाँ निक्षेप लगभग आवलिका के तीन असंख्यातवें भाग प्रमाण हुआ।

जब सत्तागत स्थिति से बराबर आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक स्थितिबंध हो तब सत्तागत स्थिति में के चरम स्थिति-स्थान की उद्धर्तना होती है। उस समय सत्तागत स्थिति से आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक स्थितिबंध हुआ, यानि आवलिका का एक पहला असंख्यातवां भाग अतीत्थापना^१ और आवलिका का दूसरा असंख्यातवां भाग निक्षेप होता है। अर्थात् सबसे कम निक्षेप और अतीत्थापना इस तरह और इतनी ही होती है। उद्धर्तना में इससे कम निक्षेप और अतीत्थापना नहीं होती है। जब समयाधिक आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक नवीन कर्म का बंध होता है, तब चरम स्थान के दलिक को उसके ऊपर के स्थान से समयाधिक आवलिका के असंख्यातवें भाग को उलांघने के बाद अंतिम आवलिका के असंख्यातवें भाग में निक्षिप्त किया जाता है। यहाँ निक्षेप के स्थान तो उतने ही रहेंगे मात्र अतीत्थापना समय प्रमाण बढ़ी।

१ जितनी स्थिति को उलांघकर उद्धर्तित किये जाते स्थान के दलिक प्रक्षिप्त किये जाते हैं, वह उलांघने योग्य स्थिति अतीत्थापना कहलाती है और जितने स्थान में प्रक्षिप्त होते हैं, उन्हें निक्षेप स्थान कहते हैं।

इस प्रकार से नवीन कर्म का बंध समयादि बढ़ने पर अतीत्थापना बढ़ती है और वह वहाँ तक बढ़ती है कि एक आवलिका पूर्ण हो। जब तक अतीत्थापना की आवलिका पूर्ण न हो तब तक निषेप आवलिका का असंख्यातबंध भाग ही रहता है। जैसे कि सत्तागत स्थिति से असंख्यातबंध भागाधिक आवलिका अधिक अभिनव-नवीन स्थिति का बंध होता है तब सत्तागत स्थितियों के चरम स्थान के दलिकों का उसके ऊपर के स्थान से पूर्ण एक आवलिका को उलांघकर ऊपर के अंतिम आवलिका के असंख्यातबंध भाग में निषेप होता है, इस समय पूरी एक आवलिका अतीत्थापना और आवलिका के एक असंख्यातबंध भाग प्रमाण निषेप के स्थान हैं, उसके बाद जैसे-जैसे सत्तागत स्थिति से अभिनव कर्ग लट्टिलंब रद्द हो जाता है, वैसे-वैसे निषेप में वृद्धि होती जाती है और अतीत्थापना एक आवलिका ही रहती है।

उक्त समग्र कथन का सारांश यह हुआ कि जब सत्ता में रही हुई स्थिति की अपेक्षा अभिनव—नवीन स्थितिबंध आवलिका के दो असंख्यातबंध भाग अधिक होता है तब सत्ता में रही स्थिति में की चरम स्थिति—स्थितिस्थान की उद्वर्तना होती है और उद्वर्तना करके उस चरम स्थिति के दलिक को आवलिका के पहले असंख्यातबंध भाग को उलांघकर दूसरे असंख्यातबंध भाग में प्रक्षेप किया जाता है। सत्तागत स्थिति के चरम समय में फल देने के लिये नियत हुए दलिक को उसके बाद से आवलिका का असंख्यातबंध भाग जाने के अनन्तर आवलिका के अंतिम असंख्यातबंध भाग में फल देने के लिये नियत हुए दलिकों के साथ फल दे, ऐसा किया जाता है। आवलिका का असंख्यातबंध भाग प्रमाण यह अतीत्थापना और आवलिका का असंख्यातबंध भाग प्रमाण निषेप यह जबन्य है। तत्पश्चात अभिनव स्थितिबंध में समयादिक द्वारा वृद्धि होने पर अतीत्थापना बढ़ती है और वह वहाँ तक बढ़ती है यावत् एक आवलिका पूर्ण हो। अतीत्थापना की आवलिका पूर्ण होने तक निषेप आवलिका

का असंख्यातवां भाग ही रहता है और आवलिका पूर्ण होने पर निषेप बढ़ता है।

तीसरी गाथा के दूसरे पद में आगत 'इति' शब्द उद्वर्तना की वक्तव्यता की समाप्ति का सूचक है। जिसका यह अर्थ है कि जब तक नवीन स्थितिबंध पहले से सत्ता में रही हुई स्थिति से आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक नहीं होता है, तब तक पहले से सत्ता में रही हुई स्थिति में की चरम स्थितिस्थान से एक आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति की उद्वर्तना नहीं की जाती है। उससे नीचे की स्थिति की ही जीवस्वभाव से उद्वर्तना होती है। उसमें भी जब असंख्यातवें भाग अधिक आवलिका को उलांघकर नीचे के स्थान को उद्वर्तना होती है तब उसके ऊपर के स्थान से आवलिका को उलांघकर ऊपर के आवलिका के असंख्यातवें भाग में निषेप किया जाता है^१ और उससे नीचे की दूसरी स्थिति की उद्वर्तना की जाती है तब समयाधिक असंख्यातवें भाग में निषेप किया जाता है।

१ इस समय निषेप की विषयरूप स्थिति आवलिका के दो असंख्यातवें भाग और तीसरा अपूर्ण असंख्यातवां भाग होना चाहिए। क्योंकि सत्तागत स्थिति के चरम स्थान से लेकर आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग के नीचे के स्थान की उद्वर्तना को जाती है और नवीन स्थितिबंध सत्तागत स्थिति से कुछ न्यून आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक हैं, जिससे यहाँ जिस स्थान की उद्वर्तना होती है, उसके ऊपर के स्थान से अतीत्यापना-आवलिका का उल्लंघन करने पर निषेप की विषयरूप स्थिति आवलिका के दो असंख्यातवें भाग अधिक है। जिससे यहाँ जिस स्थान की उद्वर्तना होती है, उसके ऊपर के स्थान से अतीत्यापना-आवलिका को उलांघने पर निषेप की विषयरूप स्थिति आवलिका से दो असंख्यातवें भाग और तीसरा अपूर्ण असंख्यातवां भाग संभव है।

इस प्रकार जैसा निव्याधितभाविनी उद्वर्तना में कहा है, 'वैसा ही समझना चाहिये।'

अब अतीत्थापना, निक्षेप आदि के अलबहुत्व का निर्देश करते हैं—

जघन्य अतीत्थापना और जघन्य निक्षेप अल्प है लेकिन स्वस्थान में दोनों तुल्य हैं। क्योंकि दोनों व्यावात में आवलिका के असंख्यातवे भाग हैं। उनसे उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यातगुण है, क्योंकि वह उत्कृष्ट अबाधाप्रमाण है। उनसे उत्कृष्ट निक्षेप असंख्यात गुण है, क्योंकि वह समयाधिक आवलिका और अबाधाहीन संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण है। उनसे संपूर्ण कर्मस्थिति विशेषाधिक है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका और अबाधा सहित है।

इस प्रकार से स्थिति-उद्वर्तना का निरूपण जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त स्थिति-अपवर्तना का विचार करते हैं। उद्वर्तना की तरह इसके भी निव्याधित और व्यावात के दो प्रकार हैं। उनमें से प्रथम निव्याधितभाविनी स्थिति-अपवर्तना का निरूपण करते हैं।

निव्याधितभाविनी स्थिति-अपवर्तना

ओव्वदट्टन्तो य ठिति उदयावलिबाहिरा ठिईठाणा ।

निक्खिबद्ध से तिभागे समयाहिंगे लंधिरं सेसं॥६॥

शब्दार्थ—ओव्वदट्टन्तो—अपवर्तना करते हुए, य—और, ठिति—स्थिति, उदयावलिबाहिरा—उदयावलिका से बाहर के, ठिईठाणा—स्थितिस्थान, निक्खिबद्ध—निर्दिष्ट किए जाते हैं, से—अपने, तिभागे—तीसरे भाग में, समयाहिंगे—समयाधिक, लंधिरं—दललंघन करके, सेसं—शेष।

गाथार्थ—स्थिति की अपवर्तना करते हुए उदयावलिका से बाहर के स्थानों की अपवर्तना की जाती है और शेष स्थानों

१ असत्कल्पना में स्थिति-उद्वर्तना का स्पष्टीकरण परिणिष्ट में देखिये।

का उल्लंघन, करके अपन समयाधिक तीसरे भाग में निक्षेप होता है।

विशेषाधिक—स्थिति की अपवर्तना करता हुआ जीव उदयावलिका से बाहर के स्थितिस्थानों की अपवर्तना करता है किन्तु सकलकरण के अयोग्य होने के कारण उदयावलिकागत स्थानों की अपवर्तना नहीं होती है।

जिस स्थान की अपवर्तना की जाती है, उसके दलिक शेष समय न्यून दो तृतीयांश भाग प्रमाण स्थानों की उल्लंघकर समयाधिक आवलिका के तीसरे भाग में निश्चिप्त किये जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उदयावलिका से ऊपर की समय मात्र स्थिति की अपवर्तना होने पर उसके दलिक को उदयावलिका के ऊपर के समय न्यून दो तृतीयांश स्थानों का उल्लंघन कर नीचे के समयाधिक तीसरे भाग में निश्चिप्त किया जाता है। यह जघन्यनिक्षेप और जघन्य अतीत्यापना है।

इसको असुल्कल्पना से इस प्रकार समझा जा सकता है कि उदयावलिका का प्रमाण नी समय माना जाये तो उदयावलिका के ऊपर के स्थान के दलिक को उदयावलिका के अंतिम पाँच समय को उल्लंघकर नीचे के उदय समय से लेकर चार समय में निश्चिप्त किये जाते हैं। क्योंकि दो भाग के छह समय होते हैं और उनमें एक समय न्यून लेना है, जिससे वे पाँच समय प्रमाण हुए। उतनी अतीत्यापना हुई और निक्षेप समयाधिक तीसरा भाग है, उसके चार समय होते हैं, जिससे उतने में निक्षेप होता है और वह जघन्य निक्षेप है।

जिस समय उदयावलिका से ऊपर के हूसरे स्थितिस्थान की अपवर्तना की जाती है तब पहले जो अतीत्यापना कही है, वह समयाधिक होती है और निक्षेप उतना ही रहता है। जब उदयावलिका से ऊपर के तीसरे स्थितिस्थान की अपवर्तना होती है तब

अतीत्थापना दो समय से अधिक होती है और निष्केप उतना ही रहता है। इस प्रकार से अतीत्थापना की आबलिका पूर्ण न हो वहाँ तक अतीत्थापना बढ़ती है और उसके बाद निष्केप में बढ़ि होती है।

अब इसी भाषण को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—

उदयावसि उवरित्या एमेबोवट्टए ठिइट्टाणा ।

जावाबलियतिभागो समयाहिगो सेसठितिणं तु ॥१०॥

शब्दार्थ—उदयावलि उवरित्या—उदयावलिका से ऊपर के, एमेबोवट्टए—इसी प्रकार से अपवर्तना होती है, ठिइट्टाणा—स्थितिस्थान, जावाबलियतिभागो—यावत् आबलिका के तीसरे भाग, समयाहिगो—समय अधिक, सेसठितिणं—शेष स्थिति निष्केप विषय का, तु—और।

गाथार्थ—अतीत्थापना की आबलिका पूर्ण होने तक उदयावलिका से ऊपर के स्थितिस्थानों की अपवर्तना इसी प्रकार से (ऊपर कहे अनुसार) होती है और इस अतीत्थापना की आबलिका जब तक पूर्ण न हो तब तक निष्केप विषयक स्थिति समयाधिक तीसरा भाग ही रहती है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त रीति से उदयावलिका से ऊपर रहे हुए स्थितिस्थानों की तब तक अपवर्तना होती है यावत् अतीत्थापनावलिका पूर्ण हो। जब तक अतीत्थापनावलिका पूर्ण न हो तब तक निष्केप के विषय रूप स्थितिस्थान समयाधिक आबलिका का तीसरे भाग ही रहते हैं। किन्तु अतीत्थापना की आबलिका पूर्ण होने के बाद अतीत्थापना आबलिका मात्र ही रहती है और निष्केप के विषयरूप स्थितिस्थान बढ़ते हैं और वे निष्केप के विषयरूप स्थितिस्थान अतीत्थापनावलिका से रहित संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण हैं।

इस प्रकार से स्थिति-अपवर्तना की विधि का कथन करने के पश्चात् अब अपवर्तना के सामान्य नियम का निर्वेश करते हैं।

अपवर्तना का सामान्य नियम

इच्छोबद्धत्वाण्ठिङ्गाऽ उल्लंघिक्षण आवलियं ।

निक्षेपह तद्विलियं अह ठितिठाणेसु सम्बेदु ॥११॥

शब्दार्थ—इच्छोबद्धत्वाण्ठिङ्गाऽ—इष्ट अपवर्तनीय स्थितिस्थान से, उल्लंघिक्षण—उलांघकर, आवलिय—आवलिका को, निक्षिवह—निक्षिप्त किया जाता है, तद्विलिय—उसके दलिक को, अह—अथ—अब, ठितिठाणेसु—स्थितिस्थानों में, सम्बेदु—सब ।

गाथार्थ—इष्ट अपवर्तनीय स्थितिस्थान से आवलिका को उलांघकर उसके दलिक का सब स्थितिस्थानों में निक्षिप्त किया जाता है ।

विशेषार्थ—जिस-जिस स्थान की अपवर्तना करना इष्ट हो, अर्थात् जीव जिस-जिस स्थितिस्थान से अपवर्तना करता है उसके दलिक को उसके नीचे के स्थान से आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को उलांघकर नीचे रहे समस्त स्थानों में निक्षिप्त करता है । इस प्रकार होने से जब सत्ता में रही हुई स्थिति में के अंतिम स्थिति-स्थान की अपवर्तना करता है तब उसके दलिक को उसके नीचे के स्थान से आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को उलांघकर नीचे रहे हुए समस्त स्थितिस्थानों में निक्षिप्त कर सकता है । जिस समय कर्म बंधता है, उस समय से एक आवलिका जाने के बाद उसकी अपवर्तना करता है, इसलिये बंधावलिका के व्यतीत होने के बाद समयाधिक अतीत्थापनावलिका रहित सम्पूर्ण कर्मस्थिति उत्कृष्ट निक्षेप की विषय रूप है । तथा—

उदयावलिउवरित्थं ठाणं अहिकिच्च होइ अहीणो ।

निक्षेपो सद्वोबरिठिङ्गाणवसा भवे परमो ॥१२॥

शब्दार्थ—उदयावलिउवरित्थं—उदयावलिका से ऊपर रहे, ठाणं—स्थान, अहिकिच्च—अधिकृत करके, होइ—होता है, अहीणो—

अतिहीन जघन्य, निक्षेपो— निक्षेप, स्थितिस्थानः—स्थितिस्थान स्थितिस्थान की अपेक्षा, भवे—होता है, परमो—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ——उदयावलिका से ऊपर रहे हुए स्थान को अधिकृत करके अति जघन्य निक्षेप है और सर्वोपरितन स्थितिस्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट निक्षेप होता है ।

विशेषार्थ—जब उदयावलिका से ऊपर की स्थिति की अपवर्तना होती है तब उस अपवर्तनीय स्थान की अपेक्षा समयाधिक आवलिका का एक तृतीयांश भाग रूप जघन्य निक्षेप संभव है । क्योंकि उदयावलिका से ऊपर की स्थिति की अपवर्तना होती है तब उसके दलिक को समय न्यून आवलिका के एक तृतीयांश भाग में प्रक्षिप्त किया जाता है और जब सत्तागत स्थिति में की ऊपर की अंतिम स्थिति की अपवर्तना होती है तब उस स्थिति स्थितिस्थान की अपेक्षा यथोक्त रूप उत्कृष्ट निक्षेप संभव है । क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति का बंध करके बंधावलिका के व्यतीत होने के बाद उसकी अपवर्तना हो सकती है । बंधावलिका के बीतने के बाद आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में होती है । उसमें की जब अंतिम स्थिति की अपवर्तना होती है तब उसके दलिकों का अपवर्त्यमान स्थिति-स्थान से नीचे के स्थितिस्थान से आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानों को छोड़ नीचे के समस्त स्थानों में निभिष्ट किया जाता है । इस प्रकार से अंतिम स्थितिस्थान की अपेक्षा समयाधिक दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट निक्षेप संभव है ।

इस प्रकार से जघन्य और उत्कृष्ट निक्षेप का कथन करने के बाद अब यह बताते हैं कि कितनी स्थितियां निक्षेप की विषय रूप हैं और कितनी स्थितियां अपवर्तनीय होती हैं ।

निक्षेप और अपवर्तना की विषयभूत स्थितियां—

समयाह्यहृष्टस्थिवणा बंधावलिया य मोत्तु निक्षेपो ।

कम्मदिठ्ठृ बंधोदयआवलिया मोत्तु ओवट्टे ॥ १३॥

शब्दार्थ—समयाहियद्वयवणा—समयाधिक अतीत्यापनावलिका, बंधावलिका—बंधावलिका, य—ओर, सोसु—छोड़कर, निष्केप, कम्बट्टिंग—कमंत्विति, बंधोदयआवलिका—बंधावलिका और उदयावलिका, सोसु—छोड़कर, ओबट्टे—अपवर्तना होती है।

गाथार्थ—समयाधिक अतीत्यापनावलिका और बंधावलिका को छोड़कर शेष स्थिति निष्केप रूप है तथा बंधावलिका एवं उदयावलिका छोड़ शेष स्थिति की अपवर्तना होती है।

विशेषार्थ—अपवर्तना के विषय में समयाधिक अतीत्यापनावलिका और बंधावलिका प्रमाण स्थितियों को छोड़कर शेष समस्त स्थितियाँ निष्केप की विषय-रूप हैं। अर्थात् शेष सभी स्थितियों में दलिक निष्केप किया जाता है। क्योंकि प्रतिसमय बंध रहा कर्म बंधावलिका के बीतने के बाद करण योग्य होता है किन्तु जब तक बंधावलिका न बीती हो तब तक किसी भी करण के योग्य नहीं होता है तथा जिस स्थान की अपवर्तना की जाती है, उसके दलिक को उसी में निष्क्रिय नहीं किया जाता है किन्तु उससे नीचे के स्थिति-स्थान से एक आवलिका प्रमाण स्थानों को छोड़ नीचे के समस्त स्थानों में निष्क्रिय किया जाता है। इसलिये बंधावलिका और समयाधिक अतीत्यापनावलिका को छोड़ शेष समस्त स्थितियाँ निष्केप की विषय रूप हैं तथा—

बंधावलिका और उदयावलिका को छोड़कर शेष समस्त कर्म-स्थिति की अपवर्तना की जा सकती है। क्योंकि बंधावलिका के जाने के बाद बद्धस्थिति अपवर्तित होती है और वह भी उदयावलिका से कम पर रही हुई स्थिति अपवर्तित होती है। उदयावलिका के अन्तर्गत रही हुई स्थिति अपवर्तित नहीं होती है। इसलिये बंधावलिका तथा उदयावलिकाहीन सम्पूर्ण कर्म स्थिति ये अपवर्तना की विषय रूप हैं।

इस प्रकार से व्याधात के अभाव में होने वाली अपवर्तना का स्वरूप जानना चाहिये। अब व्याधात भाविनी अपवर्तना की विधि का निरूपण करते हैं।

व्याघातभाविनी अपवर्तना—

निव्याधाए एवं लिङ्गातो एत्थ रुद्र वाघामेऽ।

वाघाए समउर्जं कंडगमइत्थावणा होई ॥१४॥

शब्दार्थ—निव्याधाए एव—निव्यधित्वाविनी का पूर्वोक्त प्रकार से, ठिक्कातो—स्थितिव्यात, एत्थ—यही, होइ—है, वाघाओ—व्याघात, वाघाए—व्याघात में, समउर्जं—समयन्यून, कंडगमइत्थावणा—कंडक प्रमाण स्थिति अतीत्यापना, होई—होती है।

गाथार्थ—निव्यधित्वाविनी अपवर्तना का स्वरूप पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिये। यहीं व्याघात स्थितिव्यात को कहते हैं। व्याघात में समयन्यून कंडकप्रमाण स्थिति अतीत्यापना है।

विशेषार्थ—पूर्व में जो अपवर्तना की व्याख्या की है, वह व्याघात के अभाव में होने वाली अपवर्तना का स्वरूप जानना चाहिये। अब व्याघातभाविनी अपवर्तना का स्वरूप बतलाते हैं कि—

व्याघात में अपवर्तना अन्य रीति से होती है। स्थिति के घात को व्याघात कहते हैं। जब वह व्याघात प्राप्त होता है, यानि कि स्थितिव्यात होता है तब समयन्यून कंडकप्रमाण स्थिति अतीत्यापना होती है।

यहीं समयन्यून इसलिये कहा है कि ऊपर की समय मात्र स्थिति की अपवर्तना होती है तब अपवर्तित होते उस स्थितिस्थान के साथ नीचे से कंडक प्रमाण स्थिति अतिक्रमित होती है। इसलिये अपवर्तित होते उस समय के बिना कंडक प्रमाण स्थिति अतीत्यापना होती है।

इस प्रकार से व्याघातभाविनी अपवर्तना में अतीत्यापना का प्रमाण जानना चाहिये। अब इसी प्रसंग में आये कंडक का स्वरूप और उसका प्रमाण बतलाते हैं।

कंडक निरूपण

उक्कोसं डायटिठई किञ्चुणा कंडगं जहृणं तु ।

पल्लासंखंसं डायटिठई उ जतो परमबंधो ॥१५॥

शब्दार्थ—उष्णकोस—उत्कृष्ट, शायटिठी—डायस्थिति, किचूणा—कुछ न्यून, कंडक—कंडक, जघण्ण—जघन्य, तु—और, पल्लासेषंस—पल्योपम का असंख्यातवां भाग, डायटिठी—डायस्थिति, ज—और, जतो—जिससे, परमबंधो—उत्कृष्ट बंध।

गाथार्थ—कंडक का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ न्यून उत्कृष्ट स्थिति रूप डायस्थिति है और जघन्य प्रमाण पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। जिस स्थिति से उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है उससे लेकर उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त सभी डायस्थिति कहलाती है।

विशेषार्थ—जिस स्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थितिबंध होता है उस स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति तक की समस्त स्थिति डायस्थिति कहलाती है और वह कुछ न्यून उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रमाण है। व्याप्ति की पर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव अन्तःकोडाकोडी प्रमाण स्थिति बंध करके अनन्तर समय में उत्कृष्ट संबलेश के कारण उत्कृष्ट स्थिति-बंध करता है। अर्थात् अन्तःकोडाकोडी से लेकर उत्कृष्ट स्थिति-बंध तक की समस्त स्थिति डायस्थिति कहलाती है और वह डाय-स्थिति अन्तःकोडाकोडी न्यून उत्कृष्ट प्रमाण होने से कुछ न्यून उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रमाण होती है यह डायस्थिति^१ कंडक का उत्कृष्ट प्रमाण है।

व्याघात में यह समयन्यून कंडक प्रमाण स्थिति उत्कृष्ट अतीत्यापना है और व्याघात कहते हैं स्थितिघात की। यह व्याघात प्राप्त होता है तब ऊपर के स्थान के दलिक को अपवर्तित होती स्थिति के साथ उक्त स्वरूप वाले कंडक प्रमाण स्थितिस्थानों को

१. यहाँ किचूणा पद उत्कृष्ट स्थिति का विशेषण बताया है जिससे डाय-स्थिति को कुछ न्यून कर्मस्थिति प्रमाण यानि अन्तःकोडाकोडी न्यून उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण कहा है और कर्म ब्रकृति में इसी पद को डाय-स्थिति का विशेषण माना है जिससे कुछ न्यून डायस्थिति कंडक का उत्कृष्ट प्रमाण कहा है। इस अंतर को विज्ञन स्पष्ट करने की कृपा करें।

उलांघकर अन्तःकोडाकोडी में निश्चिप्त किया जाता है। इसलिये समयन्यून कंडक प्रमाण स्थिति उत्कृष्ट अतीत्थापना बताई है।

यह उत्कृष्ट कंडक समय मात्र न्यून भी कंडक कहलाता है, जिसको इतनी स्थिति की सत्ता होती है। इसी प्रकार दो समयन्यून, तीन समय न्यून भी कंडक कहलाता है। इस प्रकार न्यून-न्यून होते-होते पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण भी कंडक कहलाता है और वह जघन्य कंडक है।

पल्योपम के असंख्यातवां भाग प्रमाण स्थिति व्याघात में जघन्य अतीत्थापना है।

अब अन्यत्रहुत्व का कथन करते हैं—

अपवर्त्तना में जघन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका का तीसरा भाग प्रमाण है। उससे जघन्य अतीत्थापना तीन समयन्यून दुगनी है। उससे तीन समयन्यून दुगनी होने का कारण यह है कि व्याघात रहित जघन्य अतीत्थापना समयन्यून आवलिका के दो तृतीयांश भाग प्रमाण है। जिसका सकेत पूर्व में किया जा चुका है। जिसको असत्कल्पना से इस प्रकार समझें कि आवलिका नी समय प्रमाण है तो समयन्यून दो तृतीयांश भाग पाँच समय प्रमाण होता है, इतनी जघन्य अतीत्थापना है। जघन्य निक्षेप समयाधिक आवलिका का एक तृतीयांश भाग है और यह समयाधिक एक तृतीयांश भाग असत्कल्पना से चार समय प्रमाण होता है। उस जघन्य निक्षेप को दुगना करके उसमें से तीन न्यून करें तो पाँच समय रहते हैं जो कि अतीत्थापना का जघन्य प्रमाण है। इसलिये यह कहा है कि जघन्य निक्षेप से जघन्य अतीत्थापना तीन समय से न्यून दुगनी है। उससे व्याघात बिना की उत्कृष्ट अतीत्थापना विशेषाधिक है। क्योंकि वह पूर्ण एक आवलिका प्रमाण है। उससे व्याघात में उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यात गुण है। क्योंकि वह उत्कृष्ट डायस्थिति प्रमाण है। उससे उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है। क्योंकि वह

समयाधिक दो आवलिकान्यून संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण है और उससे संपूर्ण कर्मस्थिति विशेषाधिक है। क्योंकि उत्कृष्ट निष्ठेप में जो न्यून कहा है, वह इसमें छिप जाता है।

अब उद्वर्तना और अपवर्तना दोनों के सम्मिलित अल्पबहुत्व का कथन करते हैं -

उद्वर्तना में व्याधातविषयक जघन्य अतीत्थापना और जघन्य निष्ठेप सर्वस्तोक है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। क्योंकि दोनों आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। उससे अपवर्तना में जघन्य निष्ठेप असंख्यान गुण है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका के तीसरे भाग प्रमाण है और आवलिका के असंख्यातवें भाग से समयाधिक तीसरा भाग असंख्यात गुण होता है। उससे अपवर्तना में जघन्य अतीत्थापना तीन समय न्यून द्विगुण है। इसका कारण पूर्व में व्रताया जा चुका है। उससे अपवर्तना में ही निव्याधात उत्कृष्ट अतीत्थापना विशेषाधिक है। क्योंकि वह पूर्ण आवलिका प्रमाण है। उससे उद्वर्तना में उत्कृष्ट अतीत्थापना संख्यातगुण है। क्योंकि वह उत्कृष्ट अवाधा रूप है। उससे अपवर्तना में व्याधातविषयक उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यात गुण है। इसका कारण यह है कि वह उत्कृष्ट डायस्थिति प्रमाण है। उससे उद्वर्तना में उत्कृष्ट निष्ठेप विशेषाधिक है और उससे अपवर्तना में उत्कृष्ट निष्ठेप विशेषाधिक है। उससे सम्पूर्ण कर्मस्थिति विशेषाधिक है।

इस प्रकार से स्थिति-अपवर्तना का वर्णन समाप्त हुआ। अब अनुभाग की उद्वर्तना-अपवर्तना का कथन क्रम प्राप्त है। व्याधात और निव्याधात के भेद से इनके भी दो प्रकार हैं। उन दोनों में से पहले निव्याधातभाविती अनुभाग-उद्वर्तना का विचार करते हैं।

निव्याधातिती अनुभाग उद्वर्तना

चरिमं नोवट्टुज्जाइ जाव अणंताणि फड़गाणि तओ ।

उसक्किय उव्वट्टह उदया ओवट्टणा एवं ॥१६॥

शद्दार्थ—चरिम—चरम स्पर्धक, नोबट्रिज़इ—उद्वर्तना नहीं होती, याव—यावत्, अणेताणि—अनन्त, फड्डगाणि—स्पर्धव, तओ—उससे, उस्सकिय—नीचे उत्तरकर, उब्बद्दुइ—उद्वर्तना होती है, उदया—उदय समय से, ओक्टूणा—अपवर्तना, एवं—इसी प्रकार।

गाथार्थ—चरम स्पर्धक की उद्वर्तना नहीं होती, यावत् अनन्त स्पर्धकों की उद्वर्तना नहीं होती, किन्तु नीचे उत्तरकर समय मात्र स्थितिगत स्पर्धक की उद्वर्तना होती है। उदय समय से लेकर अनुभाग की अपवर्तना स्थिति-अपवर्तना के समान होती है।

विशेषार्थ—चरम अनुभाग स्पर्धक की, द्विचरम स्पर्धक की, त्रिचरम स्पर्धक की उद्वलना नहीं होती है। इस प्रकार चरम स्पर्धक से लेकर यावत् अनन्त स्पर्धकों की उद्वर्तना नहीं होती है। यानि गता जिननी स्थिति का वंश होता हो तब, या सत्ता से अधिक स्थिति का वंश होता हो तब जिस स्थिति की उद्वर्तना होती है, उस स्थितिस्थान में रहे हुए उसस्पर्धकों—दलिकों के रस की भी उद्वर्तना होती है तथा उद्वर्त्यमान स्थिति के दलिकों का जहो निक्षेप होता है, उसमें उद्वर्त्यमान रस स्पर्धकों का भी निक्षेप होता है। अर्थात् उसके समान रस बाले होते हैं। इस नियम के अनुसार जैसे स्थिति की उद्वर्तना में व्याघ्रत के अभाव में ऊपर के स्थान से आवलिका के असंख्यातवें भाग और आवलिका प्रमाण स्थानों की उद्वर्तना नहीं होती, उसी प्रकार उन्ने स्थितिरथानों में के दलिक के रस स्पर्धकों की भी उद्वर्तना नहीं होती है।

तात्पर्य यह कि सर्वोपरितन आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति रूप जो निक्षेप है उसका तपा उसके नीचे के अतीत्यापनावलिका प्रमाण जो स्थितिस्थान हैं, उनके रसस्पर्धक की उद्वर्तना तथास्वभाव से जीव द्वारा नहीं की जाती है। परन्तु उसके नीचे के समय मात्र स्थितिगत जो स्पर्धक हैं, उनकी उद्वर्तना

होती है और अतीत्थापनादलिका गत अनन्त स्पर्धकों को उलांघकर ऊपर के अन्तिम आवलिका के असंबोधात्वे भाग में रहे स्पर्धकों में निश्चेप होता है। यानि उद्वत्त्यमान रसस्पर्धक निश्चेप के स्पर्धकों के समान रसवाले हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे नीचे उत्तरता होता है, वैसे-वैसे निश्चेप बढ़ता है और अतीत्थापना सर्वत्र आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानगत स्पर्धक ही रहते हैं। इस प्रकार जिस-जिस स्थानगत रसस्पर्धकों की उद्वत्तना होती है उसे उसके ऊपर के स्थितिस्थानगत स्पर्धक से लेकर आवलिका प्रमाण स्थानगत स्पर्धकों को उलांघकर ऊपर के स्थान में निश्चिप्त किया जाता है, यानि कि उनके समान रस वाला किया जाता है।

इस प्रकार से व्याघात के अभाव में जिन स्थितियों की उद्वत्तना होती है उनके रसस्पर्धकों की भी उद्वत्तना होती है और उद्वत्त्यमान दलिक जहाँ निश्चिप्त किये जाते हैं, रसस्पर्धकों का भी वहीं निश्चेप किया जाता है। अर्थात् उनके समान रस वाला किया जाता है।

इसी प्रकार व्याघातभाविनी अनुभाग-उद्वत्तना में भी समझना चाहिये।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि उल्काष्ट निश्चेप कितना है।

बंधादलिका के बीतने के बाद समयाधिक आवलिकागत स्पर्धकों को छोड़कर शेष समस्त स्पर्धक निश्चेप के विषय रूप है। वे इस प्रकार जानना चाहिये कि जिस स्थितिस्थान में के स्पर्धकों की उद्वत्तना होती है उस स्थान में के स्पर्धकों का उसी स्थान में ही निश्चेप नहीं होता है, इस कारण उन उद्वत्त्यमान स्थितिस्थानगत स्पर्धकों को, आवलिकामात्रगत स्पर्धक अतीत्थापना हैं, अतः आवलिका प्रमाण स्थानगत स्पर्धकों को तथा बंधादलिका व्यतीत होने के बाद ही करण योग्य होते हैं, जिससे उस बंधादलिका को, इस प्रकार कुल मिलाकर समयाधिक दो आवलिकागत स्पर्धकों को छोड़कर शेष समस्त स्थानगत स्पर्धक निश्चेप के विषयरूप होते हैं।

अब एतद् विषयक अल्पवहुत्व का निर्देश करते हैं—

जबन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि वह मात्र आवलिका के असंख्यात्में भाग में रहे हुए स्पर्धक रूप है। उससे अतीत्थापना अनन्त गुण है। क्योंकि निक्षेप के विषयरूप स्पर्धकों से अतीत्थापनावलिका के विषयरूप स्पर्धक अनन्त गुण हैं। इसी प्रकार अनुभाग के विषय में सर्वत्र अनन्तगुणत्व स्पर्धक की अपेक्षा समझना चाहिये। उससे उल्लङ्घन निर्देश अनन्त गुण है और उससे समरह अनुभाग विशेषादिक है।

इस प्रकार से अनुभाग-उद्वर्तना का स्वरूप जानना चाहिये। अब अतिदेश द्वारा अनुभाग अपवर्तना का वर्णन करते हैं।

अनुभाग-अपवर्तना

जिस प्रकार से ऊपर अनुभाग-उद्वर्तना का स्वरूप कहा है, उसी प्रकार से अनुभाग-अपवर्तना का स्वरूप भी जानना चाहिये। चिन्तु इतना विशेष है कि उदय समय से प्रारंभ करके स्थिति की अपवर्तना के समान उसका वर्णन करना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस स्थितिस्थान की अपवर्तना होती है, उसी स्थितिस्थान में के रसस्पर्धकों की भी अपवर्तना होती है, और अपवर्त्यमान स्थिति के दलिकों का जिसमें प्रक्षेप किया जाता है, रसस्पर्धकों का भी उसी में प्रक्षेप किया जाता है—अपवर्त्यमान रसस्पर्धकों को निक्षेप के स्पर्धकों के तुल्य शक्ति वाला किया जाता है।

१. यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि उद्वर्तना बंधसामेश है, जिससे जितनी स्थिति या रस बंध हो, उसके समान सत्तागत स्थिति और रस को किया जाता है, अधिक नहीं। परन्तु अपवर्तना का बंध के साथ सम्बन्ध नहीं है, जिसमें अपवर्त्यमान रसस्पर्धकों का जिसमें निक्षेप होता है, उसके समान रस बाले तो होते हैं, परन्तु अत्यन्त विशुद्ध परिणाम के प्रोग से बंध द्वारा प्राप्त हुए सत्तागत रसधंकों से भी अत्यन्त हीन रस बाले होते हैं।

किस स्थितिस्थान में को रसस्वधेशों की अपवर्तना होती है और उनका निषेप कही होता है ? वब यह स्पष्ट करते हैं—

प्रथम स्पर्धक की अपवर्तना नहीं होती, दूसरे स्पर्धक की, तीसरे की यावत् आवलिका मात्र स्थितिगत स्पर्धकों की अपवर्तना नहीं होती परन्तु उनके ऊपर के स्थानगत स्पर्धक की अपवर्तना होती है। उसमें जब उदयावलिका से ऊपर के समयमात्र स्थितिगत स्पर्धक की अपवर्तना होती है तब उसका आवलिका के समय न्यून दो तृतीयांश स्थितिस्थानगत स्पर्धकों को उलांघकर उदयस्थान से लेकर आवलिका के समयाधिक एक तृतीयांश स्थितिस्थानगत स्पर्धकों में निषेप होता है। जब उदयावलिका से ऊपर के दूसरे समय मात्र स्थितिगत स्पर्धकों की अपवर्तना होती है तब पूर्वोक्त आवलिका के समय न्यून दो तृतीयांश भाग प्रमाण अतीत्थापना समय मात्र स्थितिगत स्पर्धक द्वारा अधिक समझना चाहिये और निषेप के स्पर्धक तो उतने ही होते हैं। इस प्रकार समय-समय की वृद्धि से अतीत्थापना में वहाँ तक वृद्धि करनी चाहिये यावत् आवलिका पूर्ण हो। तत्पश्चात् अतीत्थापना मर्वत्र आवलिका प्रमाण स्थितिस्थानगत स्पर्धक रूप ही रहती है और निषेप थड़ता है।

इस प्रकार से निव्याधातिभाविनी अपवर्तना का स्वरूप जानना चाहिये।

व्याघ्रात में समयमात्र स्थितिगत स्पर्धक द्वारा न्यून अनुभाग कंडक अतीत्थापना जानना चाहिये। कंडक का प्रमाण और समय-न्यूनता का कारण आदि जैसा पहले स्थिति की अपवर्तना में कहा गया है, तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

अब पूर्वोक्त कथन को अधिक विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये आचार्य गाथा सूत्र कहते हैं—

अहत्थावणाइयाओ सच्चाओ दुसुवि पुव्ववुस्ताओ ।

कितु अण्ठभिलावेण फढ़गा तासु वत्तव्या ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—भद्रत्याकरणाद्याओ—अतीत्यापना आदि, संज्ञाओ—संज्ञायें, दुष्कृति—दोनों में (उद्वर्तना और अपवर्तना में), पुष्टवृत्ताक्षो—पूर्व में कही गई हैं, किन्तु—लेकिन, अनंतभिलापेण—अनन्त अभिलाप से, कद्धगा—स्पर्धक, तासु—उनमें, वत्तव्या—कहना चाहिये।

गाथार्थ—रस-अनुभाग की उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों में अतीत्यापना आदि संज्ञायें जैसी पूर्व में कही गई हैं, तदनुसार जानना चाहिये किन्तु दोनों में स्पर्धक अनन्ताभिलाप से कहना चाहिये।

विशेषार्थ—अनुभाग की उद्वर्तना और अपवर्तना में जघन्य अतीत्यापना, उत्कृष्ट अतीत्यापना तथा आदि शब्द से जघन्य निष्क्रेप और उत्कृष्ट निष्क्रेप आदि संज्ञायें पूर्व में कहे गये अनुसार जानना चाहिये। अथत् स्थिति की उद्वर्तना और अपवर्तना में अतीत्यापना और निष्क्रेप का जो जघन्य, उत्कृष्ट प्रमाण कहा है, वही प्रमाण यहाँ जानना चाहिये। क्योंकि जिस स्थिति की उद्वर्तना या अपवर्तना होती है, उसी स्थानगत रसस्पर्धक की भी उद्वर्तना या अपवर्तना होती है। स्थिति की उद्वर्तना या अपवर्तना में जिस स्थितिस्थानगत दलिकों का जहाँ निष्क्रेप होता है, उस स्थानगत रसस्पर्धकों का भी वही निष्क्रेप होता है। किन्तु यहाँ इतना विशेष है कि निष्क्रेप और अतीत्यापनादि रूप संज्ञाओं में स्पर्धक अनन्त प्रमाण कहना चाहिये। अर्थात् अनन्त स्पर्धक उनमें होते हैं।^१

इस प्रकार से अनुभाग-अपवर्तना का वर्णन करने के पश्चात् अब अनुभाग-अपवर्तना में अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

१. प्रत्येक स्थितिस्थान अनन्त स्पर्धक प्रमाण होता है। जिससे उद्वर्तना अनन्त स्पर्धकों की होती है, इसी प्रकार उसका निष्क्रेप भी अनन्त स्पर्धक में होता है। इसीलिये यहाँ निष्क्रेप और अतीत्यापना आदि संज्ञाओं में रसस्पर्धकों को अनन्त शब्द द्वारा अभिलाप्य कहा है।

जघन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि वह आवलिका का समयाधिक एक तृतीयांश भाग है। उससे जघन्य अतीत्थापना अनन्त गुण है। अनन्तगुणता का कारण यह है कि वह समयन्यून आवलिका के दो तृतीयांश भाग प्रमाण है। उससे व्याघात में अतीत्थापना अनन्त-गुण हैं। क्योंकि वह समयन्यून कंडक प्रमाण है और व्याघात में कंडक का प्रमाण पहले कहा जा चुका है। उससे उत्कृष्ट अनुभाग कंडक विशेषाधिक है। क्योंकि वह अतीत्थापना से एक समय गत स्पर्धक द्वारा अधिक है और उससे उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है। उससे सर्व अनुभाग विशेषाधिक है।

इस प्रकार से अनुभाग-अपवर्तना विषयक अल्पवहृत्व जानना चाहिये। अब उद्वर्तना-अपवर्तना के संयुक्त अल्पवहृत्व का कथन करते हैं—

थोरं पएसगुणहाणि अंतरे दुसु वि हीणनिवेदो ।

तुल्लो अणंतगुणिओ दुसु वि अइत्थावणा चेव ॥१८॥

तत्तो वाधायणुभागकंडगं एकवगणाहीणं ।

उष्कोसो निवेदो तुल्लो सविसेस संतं च ॥१९॥

शब्दार्थ—थोरं—स्तोक—अला, पएसगुणहाणि अंतरे—प्रदेश की गुण वृद्धि या हानि के अंतर में, दुसु वि—दोनों में ही, हीणनिवेदो—जघन्य निक्षेप, तुल्लो—तुल्य, अणंतगुणिओ—अनन्तगुण, दुसु वि—दोनों में, अहत्यावणा—अतीत्थापना, चेव—और इसी प्रकार।

तत्तो—उससे, वाधायणुभागकंडगं—व्याघात में अनुभागकंडक, एकवगणाहीण—एक वर्णणाहीन, उष्कोसो—उत्कृष्ट, निवेदो—निर्दीण, तुल्लो—तुल्य, सविसेस—विशेषाधिक, संतं—सज्जा, च—और।

गाथार्थ—प्रदेश की गुण वृद्धि या हानि के अंतर में रहे हुए स्पर्धक अल्प हैं। उनसे दोनों में—उद्वर्तना-अपवर्तना में जघन्य निक्षेप अनन्तगुण है और परस्पर तुल्य है। उससे दोनों में अतीत्थापना अनन्तगुण है और परस्पर तुल्य है।

उससे व्याघात में एक वर्गशाहीन अनुभागकंडक अनन्तगुण है। उससे दोनों में उत्कृष्ट निशेष विशेषाधिक है, परस्पर तुल्य है और उससे कुल सत्ता विशेषाधिक है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में अनुभाग उद्वर्तना-अपवर्तना का संयुक्त अल्पबहुत्य का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक स्थिति—स्थितिस्थान में रही कर्मवर्गणाओं के उत्तरोत्तर बढ़ती रसाणु वाली वर्गणा के क्रम से जितने स्पर्धक हों, उनको क्रमशः इस प्रकार से स्थापित किया जाये कि सर्वजग्न्य रस वाला स्पर्धक पहला, द्वासरा उससे विशेषाधिक रस वाला, उससे विशेषाधिक रस वाला तीसरा यावत् सर्वोत्कृष्ट रस अन्ता अंतिम। उनमें पहले स्पर्धक से लेकर अनुक्रम से आगे-आगे के स्पर्धक प्रदेश की अपेक्षा हीन-हीन होते हैं। क्योंकि अधिक-अधिक रस वाले स्पर्धक तथास्वभाव से हीन-हीन प्रदेश वाले होते हैं और अंतिम स्पर्धक से लेकर पञ्चानुपूर्वी के क्रम से प्रदेशापेक्षा विशेषाधिक विशेषाधिक होते हैं। उनमें द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि के एक अंतर में जिन रसस्पर्धकों का समुदाय होता है, जिसका बाद में कार्यन किया जायेगा उनकी अपेक्षा अल्प हैं अथवा स्नेहप्रत्यय स्पर्धक के अनुभाग के विषय में प्रदेश की अपेक्षा जो द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि कही है, उस द्विगुणवृद्धि अथवा द्विगुणहानि के एक अंतर में जो अनुभाग पटल-रससामूह—समस्त रस होता है, उससे अल्प है। उससे उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों में जघन्य निक्षेप अनन्त गुण हैं और परस्पर में तुल्य है। यद्यपि उद्वर्तना में जघन्य निक्षेप आवलिका के असंब्यातवें भाग प्रमाण स्थिति में रहे हुए स्पर्धक हैं और अपवर्तना में आवलिका के समयाधिक तीसरे भाग प्रमाण स्थिति में रहे हुए स्पर्धक हैं, तथापि प्रारम्भ की स्थितियों में स्पर्धक अल्प और अंतिम स्थितियों में अधिक होते हैं, इसलिये स्थिति में हीनाधिकपना होने पर भी स्पर्धक की अपेक्षा दोनों में निक्षेप तुल्य है। इसी प्रकार अतीत्था-

पना के विषय में भी तुल्यापना समझ लेना चाहिये। निषेप से उद्वर्तना-अपवर्तना इन दोनों में अतीत्यापना^१ अनन्तगुण है और परस्पर तुल्य है। उससे व्याघात में समय मात्र स्थिति में रहे हुए स्पर्धकों का समुदाय रूप एक वर्णण से हीन^२ अनुभाग बांडक अनन्त गुण है। उससे उद्वर्तना-अपवर्तना में उल्कृष्ट निषेप विशेषाधिक है और परस्पर तुल्य है। उससे पूर्वबद्ध अथवा बध्यमान कुल अनुभाग की सत्ता विशेषाधिक है।^३ क्योंकि वह समयाधिक अतीत्यापना-बलिकागत पूर्वबद्ध स्पर्धकों से और बध्यमान स्पर्धकों से अधिक है।

इस प्रकार के अन्यवहृत्व का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब उद्वर्तना और अपवर्तना के विषय में कालनियम और विषय-नियम का निर्देश करते हैं।

काल और विषय नियम

आवंधं उद्वट्टद्व भवत्थोवद्टणा ठितिरसाणं ।

किटिटवज्जे उभयं किटिटसु ओवद्टणा एकका ॥२०॥

- १ रसोद्वर्तना में अतीत्यापना आवलिका का असंख्यातरी भाग है और रसायनवर्तना में समय न्यून आवलिका के दो तृतीयांश भाग हैं, लेकिन उपर्युक्त युक्ति से दोनों में स्पर्धक भमान है, यह जानना चाहिये।
- २ महा एक वर्णण का अर्थ एक स्थितिरथान में रहे हुए स्पर्धकों का समूह समझना चाहिये।
- ३ यहां उल्कृष्ट निषेप के विषयभूत अनुभाग से पूर्वबद्ध अथवा बध्यमान अनुभाग को अलग-अलग विशेषाधिक घोषया है। परन्तु वर्मप्रकृति उद्वर्तना-अपवर्तना करण गाथा ६ में और उसकी व्याख्या में सत्तागत पूर्वबद्ध अनुभाग और बध्यमान इस तरह दोनों प्रकार के संयुक्त अनुभाग को उल्कृष्ट निषेप के विषयभूत अनुभाग से विशेषाधिक घोषया है और वही अधिक युक्तिसंगत है। इस अंतर को सुधीजन स्पष्ट करने की कृपा करें।

शब्दार्थ—आबधि—बंध तक, उद्वट्टइ—उद्वर्तना होती है, सम्बन्धी-वट्टणा—सर्वंत्र अपवर्तना, ठितिरसाण—स्थिति और रस की, किटिटचज्जे—किटिट सिवाय के, उभय—दोनों, किटिटमु—किटिटयों में, ओबट्टणा—अपवर्तना, एका—एक, केवल।

गाथार्थ—बंध तक ही स्थिति और रस की उद्वर्तना होती है तथा उद्वर्तनः सर्वंत्र होती है। किटिट सिवाय के दलिक में दोनों होती हैं और किटिटयों में एक केवल अपवर्तना ही होती है।

विशेषार्थ—जब तक जिस कर्म या कर्म प्रकृतियों का बंध होता है, तब तक ही उसकी स्थिति और रस की उद्वर्तना होती है और जिस-जिसका बंधविच्छेद होता है उस-उसकी स्थिति की और रस की उद्वर्तना नहीं होती है तथा स्थिति-रस की अपवर्तना बंध हो या न हो सर्वश्र प्रवर्तित होती है। क्योंकि अपवर्तना का बंध के साथ सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार से काल का नियम जानना चाहिये।

‘अथवा आयन्धः’ यानि जितनी स्थिति या जितने रस का बंध होता है, सत्तागत उतनी स्थिति की और उतने स्थितिस्थानगत रस स्पर्धक की उद्वर्तना होती है, परन्तु अधिक स्थिति या रस की उद्वर्तना नहीं होती है।^१ अपवर्तना का बंध के साथ संबंध नहीं होने

१ जितनी स्थिति या जितना रस बंध हो, तब तक सत्तागत स्थिति और रस बढ़ता है। सत्ता के समान स्थिति या रस बंधे नव और सत्ता से अधिक स्थिति और रस बंध हो तब उद्वर्तना कैसे होती है, यह वर्णन तो क्यार किया जा चुका है। परन्तु ऐसा हो कि सत्ता से बंध कम हो तब उद्वर्तना होती है या नहीं? और होती है तो कैसे होती है? उदाहरणार्थ वस कोडाकोडी सागरोपम की सत्ता है और बंध पांच कोडाकोडी सागर प्रमाण हो तब किस रीति ने उद्वर्तना होती है? यहाँ ‘अथवा आयन्धः’ कहकर जो बात कही है उससे ऐसा समझ में आता

से बंधप्रमाण से सत्तागत स्थिति या रस अधिक हो अथवा अल्प हो तो भी अपवर्तना प्रवर्तित होती है तथा जिस कर्मदलिक का रस किटिट रूप नहीं हुआ है उसमें उद्वर्तना-अपवर्तना दोनों होती हैं। किटिट रूप हुए रस में मात्र अपवर्तना ही संभव है, उद्वर्तना नहीं होती है।

इस प्रकार से यह सब विषय नियम जानना चाहिए।

उक्त समग्र कथन के साथ उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों करणों का वर्णन समाप्त हुआ। ●

है कि पांच सी वर्ष प्रमाण अवाधा की छोड़कर पांच सी वर्ष न्यून पांच कोडाकोडी प्रमाण सत्तागत स्थानों वी उद्वर्तना हो सकती है। यानि कि अवाधा से ऊपर के स्थान की उद्वर्तना हो तो उसके द्विलिका उसके ऊपर के स्थान से आवलिका प्रमाण अवीत्थापना की उलांघकर समयाधिक आवलिका अधिक पांच सी वर्ष न्यून पांच कोडाकोडी सापरोपम में के स्थानों में निश्चिप्त होंगे। रस की उद्वर्तना भी इसी प्रकार होगी। यानि बंधस्थिति तक ही सत्तागतस्थिति बढ़ती है, सत्तागत रस भी जितना बंधा हो उसके समान होता है। सत्तागतस्थिति और रस बंधती स्थिति या रस से बढ़ नहीं सकता है। क्योंकि उद्वर्तना का सम्बन्ध बंध के साथ है।

परिशिष्ट : १

संक्रम आदि करणतय प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ

वज्जतियासु इयरा ताओवि य संकमति अन्नोन्नं ।
जा संतयाए चिद्धिहि बंधागावेवि दिद्धीओ ॥१॥

संकमइ जासु दलियं ताओ उ पडिगगहा समक्खाया ।
जा संकमआवलियं करणसज्जां भवे दलियं ॥२॥

नियनिय दिद्धिठ न केह दुड्यतद्वज्जा न दंसणतिगंपि ।
मीसंमि न सम्मतं दंसकसाया न अन्नोन्नं ॥३॥

संकामति न आउ उवसंतं तह्य मूलपगईओ ।
पगड्ठाणविभेदा संकमणपडिगगहा दुविहा ॥४॥

खयउवसमदिद्धीणं सेद्धीए न चरिमलोभसंकमणं ।
खवियद्धगस्स इयराइ जं कमा होंति पचण्ह ॥५॥

मिच्छे खविए मीसस्स नतिथ उभए वि नतिथ सम्मस्स ।
उब्बलिएसु दोसु, पडिगहया नतिथ मिच्छस्स ॥६॥

द्रुमुतिसु आवलियासु समयविहीणासु आइमठिईए ।
सेसासु पुंसंजलणयाण न भवे पडिगहया ॥७॥

घुवसंतीणं चउहेह संकमो मिच्छणीयत्रेयणीए ।
साईअधुवो बंधोव्व होइ तह अधुवसंतीणं ॥८॥

साअणजशदुविहकसाय सेस दोर्दसणाण जहपुव्वा ।
संकामगंत कमसो समुच्चाणं पढमदुइया ॥९॥

चउहा पडिगगहलं धुवबंधिणं विहाय मिन्छुनं ।
 मिच्छाधुवबंधिणं साई अधुवा पडिगगहया ॥१०॥
 संतद्धाणसमाई संकमठाणाई दोणि वीयस्स ।
 बंधसमा पडिगगहया अट्ठहिया दोवि मोहस्स ॥११॥
 पन्नरसोलसत्तरअडचउबीसा य संकमे नत्थि ।
 अट्ठदुवालससोलसबीसा य पडिगमहे नत्थि ॥१२॥
 संकमण पडिगगहया पहमतइज्जट्ठमाणचउभेया ।
 इगबीसो पडिगगहगो पणबीसो संकमो मोहे ॥१३॥
 दंसणवरणे नवगो संकमणपडिगहा भवे एवं ।
 साई अधुवा सेसा संकमणपडिगहठाणा ॥१४॥
 नवछककचउत्केमु नवगं संकमइ उवसमगयाणं ।
 खबगाण चउमु छककं दुझए मोहं अओ बोच्छं ॥१५॥
 लोभस्स असंकमणा उब्बलाणा खबणथो छसत्तर्हं ।
 उवसंताण वि दिट्ठीण संकमा संकमा नेया ॥१६॥
 आमीरां पणबीसो इगबीसो मीसगाउ जा पुब्बो ।
 मिच्छखबगे दुबीसो मिच्छे य तिसत्तछबीसो ॥१७॥
 खबगस्स सबंधस्त्रिय उवसमसेद्दीए सम्मीसज्जुया ।
 मिच्छखबगे ससम्मा अट्ठारस इय पडिगगहया ॥१८॥
 दसगट्ठारसगाई चउ चउगो संकमंति पंचमि ।
 रात्तडचउदसिगारसवारसट्ठारा चउक्कमि ॥१९॥
 तिन्नि तिगाई सत्तट्ठनवय संकममिगारस तिगम्मि ।
 दोमु छडट्ठदुपंच य इगि एककं दोणि तिणि पण ॥२०॥
 पणबीसो संसारिमु इगबीसे सत्तरे य संकमइ ।
 तेरस चउदस छकके बीसा छकके य सत्ते य ॥२१॥
 बाबीसे गुणबीसे पन्नरसेक्कारसेमु छबीसा ।
 संकमइ सत्तबीसा मिच्छे तह अविरयाईण ॥२२॥

वावीसे गुणवीसे पन्नरसेककारसे य सत्ते य ।
 तेवीसा संकमइ मिच्छाविरयाह्याण कमा ॥२३॥
 अद्धारस चोददससत्तगेसु वावीस खीणमिच्छाण ।
 सत्तरसतेरनवसत्तगेसु डगवीसं संकमइ ॥२४॥
 दसगाइचउककं एककवीस खबगस्स संकमहि पंचे ।
 दरा चत्तारि चउकके तिसु तिनि दु दोसु एककेककं ॥२५॥
 अद्धाराइचउककं पंचे अद्धार बार एककारा ।
 चउसु इगारसत्तवशाइ तिसे उगे अद्धल्लपंच ॥२६॥
 पण दोनि तिनि एकके उबसमेढीए खद्यदिठ्लस्स ।
 इयरस्स उ दो दोसु सत्तसु वीसाइ चत्तारि ॥२७॥
 छिसु वीस चोह तेरस तेरेककारस य दस य पंचमि ।
 दसडसस्त चउकके तिगमि सग पंच चउरो य ॥२८॥
 गुणवीसपन्नरेककारसाइ ति ति सम्मदेसविरयाण ।
 सत्त पणाइ छ पंच उ पडिगाह्मा उभयसेढीसु ॥२९॥
 पढमचउककं तित्थगरबज्जितं अधुवसंततियजुत्तं ।
 तिगपणछब्बीसेसु संकमइ पडिगहेसु तिसु ॥३०॥
 पढमं संतचउककं इगतीमि अधुवतियजुयं तं तु ।
 गुणतीसतीसएसु जसहीणा दो चउकक जसे ॥३१॥
 पढमचउककं आइल्लवज्जियं दो अणिच्च आइल्ला ।
 संकमहि अद्धबीसे सामी जहर्सभवं नेया ॥३२॥
 संकमइ नन्न पगइं पगईओ पगइसंकमे दलियं ।
 ठिइअणुभागा चेबं ठति तहटठा तयणुरुवं ॥३३॥
 दलियरसाणं जुत्तं मुत्तता अन्नभावसंकमणं ।
 ठिईकालस्स न एवं उउसंकमणं पिब अदुट्ठं ॥३४॥
 उवट्टणं च ओवट्टणं च पगतितरमिम वा नयणं ।
 बंधे व अबंधे वा जं संकामो इइ ठिईए ॥३५॥

जासि बंधनिमित्तो उक्कोसो बंध मूलगर्द्दण ।
 ता बंधुकोसाओ सेसा पुण संकमुक्कोसा ॥३६॥
 बंधुककोसाण ठिई मोन् दो आवली न संकमड ।
 सेसा इयराण पुणो आवलियतिम पमोत्तुण ॥३७॥
 तित्थयराहाराण संकमणे बंधसंतएमु पि ।
 अंतोकोडाकोडी तहावि ता संकमुक्कोसा ॥३८॥
 एवडग संतया जं सम्मदिट्कीण सब्बकम्मेसु ।
 आऊण बंधउक्कोसगाण जं णण्णसंकमण ॥३९॥
 गंतु सम्मो मिच्छेतसमुक्कोसं ठिई च काऊण ।
 मिच्छियराणुक्कोसं करेति ठितिसंकमं सम्मो ॥४०॥
 अंतोमुहुनहीण आवलियदुहीण तेमु सट्ठाणे ।
 उक्कोससंकमपहु उक्कोसगवंधगाणामु ॥४१॥
 बंधुककोसाण आवलिए आवलिदुर्गेण इयराण ।
 हीणा सब्बावि ठिई सो जटिठइ संकमो भणिओ ॥४२॥
 सावाहा थाउठिई आवलिगृणा उ जटिठति सट्ठाणे ।
 एवका ठिई जहणो अणुदइयाण निहयसेसा ॥४३॥
 जो जो जाण खदगो जहणठितिसंकमस्स सो सामी ।
 सेसाण तु सजोगी अंतमुहुतं जओ तस्स ॥४४॥
 उदयावलिए छोभो अण्णप्पगाई जो य अंतिमओ ।
 सो संकमो जहणो तस्स पमाण इम होइ ॥४५॥
 संजलणलोभनाणतराय- दंसणचउक्कआऊण ।
 सम्मत्तस्स य समझो सगआवलियातिभागंमि ॥४६॥
 खविक्कण मिच्छमीसे मणुओ सम्मम्मि खवयसेसम्मि ।
 चउगइउ तओ होउ जहणठितिसंकमस्सामी ॥४७॥
 निहादुगस्स याहिय आवलियदुगं तु साहिए तसे ।
 हासाईण संखेउज बच्छरा ते य कोहस्मि ॥४८॥

पुर्संजलणाण ठिई जहन्लया आवलीदुरेण्टुण ।
 अंतो जोमतीण पलियासखंस इयराण ॥४९॥
 मूलठिईण अजहन्नो सत्तण्ह तिहा चतुक्षिहो मोहे ।
 सेसविगप्ता साई अधुवा ठितिसंकमे होति ॥५०॥
 तिविहो धुवसंहाण चउविविहो तह चरित्तमोहीण ।
 अजहन्नो सेसासु दुविहो सेसा वि दुविगप्ता ॥५१॥
 ठितिसंकमोब्र तिविहो रसम्म उद्वट्टणाड विन्नेओ ।
 रसकारणओ नेय घाइत्तविसेसणभिहाण ॥५२॥
 देसग्धाडरसेण, पराइओ होति देसघाइओ ।
 इयरेणियरा एमेव, ठापसन्ना वि नेयव्वा ॥५३॥
 सव्वग्धाड दुठाणो भीसायवमण्यतिरियआऊण ।
 इगदुठाणो सम्ममि तदियरोणासु जह हेट्ठा ॥५४॥
 दुठाणो छिय जाण ताण उक्कोसओ वि सो चेव ।
 संकमइ वेयगे वि हु सेसासुक्कोसओ परमो ॥५५॥
 एकट्टाणजहन्नं संकमइ पुरिससम्मसंजलणे ।
 इयरामु दोट्टाणि य जहणरससंकमे फङ्गडं ॥५६॥
 बंधिय उक्कोसरसं आवलियाओ परेण संकामे ।
 जावंतमुहु मिच्छो असुभाण सव्वपयडीण ॥५७॥
 आयावुज्जोवोराल फङ्गमसंघयणमणदुगाउण ।
 मिच्छा सम्मा य सामी सेसाण जोगि सुभियाण ॥५८॥
 खवगस्संतरकरणे अकए घाईण जो उ अणुभागो ।
 तस्स अणंतो भागो सुहुमेगिदिय कए थोवो ॥५९॥
 सेसाण असुभाण केवलिणो जो उ होई अणुभागो ।
 तस्स अणंतो भागो असणिगवंचेदिए होइ ॥६०॥
 सम्महिद्धी न हणइ सुभाणुभागं दु चेव दिट्ठीण ।
 सम्मतमीसगाण उक्कोसं हणइ खवगो उ ॥६१॥

चाईषं जे खबगो जहणरससंकमस्स ते सामी ।

आऊण जहणठिइ-वंधाओ आवली सेसा ॥६३॥

अणतितथुव्वलगाणं संवधी शावलि ॥ चउजै ।

सेसाणं इगिसुहुमो वाइयअणुभागकम्भसो ॥६४॥

साइयवज्जो अजहणसंकमो पदमदुइयन्नरिमाणं ।

मोहस्स चउविमप्पो आउसणुक्कोसओ चउहा ॥६५॥

राइयवज्जो वेयणियनामगोयाण होइ अणुक्कोसो ।

सव्वेसु सेसभेया साई अधुवा य अणुभागे ॥६६॥

अजहणो चउभेबो पदमगसंजलाणनोक्सायाणं ।

साइयवज्जो सो ल्लिय जाणं खबगो खविय मोहो ॥६७॥

मुभधुवचउवीसाए होइ अणुक्कोस साइपरिवज्जो ।

उज्जोयरिसभओरालियाण चउहा दुहा सेसा ॥६८॥

विज्ञा-उव्वलण-अहापवत्त-गृण-सव्वसंकमेहि अणु ।

जे नेह अणपणहे पएसरोकामण एवं ॥६९॥

जाण न बंधो जायह आसज्ज गुणं भवं व पमईणं ।

विज्ञाबो ताणंगुलअसंखभागेण अणतथ ॥७०॥

पलियससंखभागं अंतमुहुत्तेण तीए उव्वलइ ।

एवं पलियासंखियभागेण कुणह निलेवं ॥७१॥

पदमाओ बीअखडं विसेसहीण ठिइए अवणेह ।

एवं जाव दुचरिम असंखगुणियं तु अंतिमयं ॥७२॥

खंडदलं सट्ठाणे समए समए असंखगुणणाए ।

सेढीए परट्ठाणे विसेसहीणाए संकुभइ ॥७३॥

दुचरिमखंडस्स दलं चरिमे जे देह सपरट्ठाणमि ।

तम्माणेणस्स दलं पलंगुलसंखभागेहि ॥७४॥

एवं उव्वलणासंकमेण नासेह अविरओ आहारं ।

समोऽणमिच्छमीसे छनीस नियटी जा माया ॥७५॥

सम्ममीसाई मिच्छो सुरदुगवेउहिवछवकमेगिदी ।
 मुहुसतसुचमणुदुगं अंतमुहुत्तेण अणिथट्टी ॥७५॥
 संसारथ्या जीवा सर्वधजोगाण तद्वलयमाणा ।
 संकामे तणुरुर्व अहापवत्तीए तो णाम ॥७६॥
 असुभाण पएसगं बज्जंतीमु असंख्यगुणणाए ।
 सेढीए अपुच्चाई छुभति मुणसंकमो एसो ॥७७॥
 चरमठिईए रहयं पद्धसमयमसंखियं पएसगं ।
 ता छुभइ अन्नपगइ जावते सब्बसंकामो ॥७८॥
 लाहिय अहापवत्तं सहेउणाई तुण्डो ल विलहाउ ।
 उच्चलणसंकमस्सवि कशिणो चरिमम्मि खांडम्मि ॥७९॥
 पिद्यगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाथो ।
 संकामिऊण वेयइ जं एसो थिदुगसंकमो ॥८०॥
 गुणमाणेण दलिअं हीरतं थोवणु निद्धाइ ।
 कालोउसंख्यगुणेण अहविज्ञ उच्चलणगाणे ॥८१॥
 जं दुचरिमस्स चरिमे सपरट्ठाणेसु देई समयम्मि ।
 ते भागे जहकमसो अहापवत्तुक्कलणमाणे ॥८२॥
 चउहा धुवछब्बीसगसयस्स अजहन्नसंकमो होइ ।
 अणुककोसो विहु वज्जियउरालियावरणतविग्रहं ॥८३॥
 सेसं साइ अधुवं जहन्न सामी य खवियकम्मसो ।
 ओगालाडसु मिच्छो उककोमगम्मा गुणियकम्मो ॥८४॥
 बायरतसकालूण कम्मठिइ जो उ बायरपुढबीए ।
 पञ्जतापञ्जतदीहेयर आउगो वसिडं ॥८५॥
 जोगकसाउककोसो बहुसो आउं जहन्न जोगेण ।
 वंधिय उवरिललासु ठिइसु निसेगं बहु' किच्चा ॥८६॥
 बायरतसकालमेवं वसित् अते य सत्तमविख्याइ ।
 लहुपञ्जतो बहुसो जोगकसायाहिओ होउ ॥८७॥

जोगजवमज्ज्ञ उवरि मुहूर्तमच्छितु जीवियवसाणे ।
 तिचरिमदुचरिमसमए दूरितु कसायमुक्कोर्स ॥५८॥
 जोगुक्कोर्स दुचरिमे चरिमसमए उ चरिमसमयमि ।
 संपुन्नगुणियकम्भी पग्यं तेणेह सामित्ते ॥५९॥
 तत्तो निरियागय आलिगोवरि उरलएक्कबीसाए ।
 सायं अणतर बंधिऊण आली परमसाए ॥६०॥
 कम्मचउक्के असुभाणाबज्ज्ञमाणीण सुहुमरागते ।
 संछोभणमि नियगे चउबीसाए नियट्रिट्टम्म ॥६१॥
 संछोभगत्ते दोषह गोहाणं देपगस्स खणसुसे ।
 उप्पाइय सम्मतं मिच्छत्तगण तमतमाए ॥६२॥
 भिन्नमुहुते सेसे जोगकसाउक्कसाइं काऊण ।
 संजोअणाविसंजोयगस्स संछोभाणाए मि ॥६३॥
 ईसाणागयपुरिसस्स इत्थियाए व अट्टवासाए ।
 मासपुहुत्तब्महिए नपुसगस्स चरिमसंछोमे ॥६४॥
 दुरितु भोगसूमीसु जीवियवासाणि-संखियाणि तओ ।
 हस्मठिइ देवागय लहु छोमे इत्थिवेयस्स ॥६५॥
 वरिसवरित्थ पुरिय सम्मतमसंखवासियं लभिय ।
 गन्तु मिच्छत्तमओ जहन्नदेवट्रिठइ भोच्चह ॥६६॥
 आगन्तु लहु पुरिसं संखुभमाणस्स पुरिसवेअस्स ।
 तस्सेव सगे कोहस्स माणमायाणमवि करिणो ॥६७॥
 चउहवसमित्तु खिप्पं लोभजसाणं समंकमससंते ।
 चउसमगो उच्चस्सा खवगो नीया चरिमबधे ॥६८॥
 परघाय सकलतसचउसुसरादितिसासखगतिचउरसं ।
 सम्मधुवा रिसभजुया संकामइ विरचिया सम्मो ॥६९॥
 नरयदुगस्स विछोमे पुव्वकोडीपुहृत्तनिचियस्स ।
 थावरउज्जोयायवएगिदीण नपुससमं ॥१००॥

तेतीसयरा पालिय अंतमुहुसूणगाहि सम्मतं ।
 बंधितु सत्तमाओ निष्पाम्म समए नरदुगस्स ॥१०१॥
 तित्थयराहारणं सुरगइनवगस्स थिरसुभाणं च ।
 सुभशुबवंधीण तहा सगवंधा आलिगं गंतु ॥१०२॥
 सुहमेसु निगोएसु कम्मठिति पलियञ्जंखभागूणं ।
 वसितं मंदकसाओ जहन्न जोगो उ जो एइ ॥१०३॥
 जोगोसु तो तसेसु सम्मतमसंखवार संपत्त्य ।
 देसविरहि च सबं अण उब्बलणं च अडवारा ॥१०४॥
 चउरुवसमित्तु मोहं लहु खवेतो भवे खवियकम्मो ।
 पाएण तेण पगयं पडुच्च काओ वि सविसेसं ॥१०५॥
 हासदुभयकुच्छाणं खीणताणं च बंधन्नरिम्मि ।
 समए अहापवत्तेण ओहिजुयले अणोहिस्ता ॥१०६॥
 थीणतिगद्वित्यमिच्छाण पालिय बेक्षसट्ठि सम्मतं ।
 सगखवणाए जहन्नो अहापवत्तस्स चरमंमि ॥१०७॥
 अरइसौगद्दनकसाय असुभशुववन्धि अथिरतियगाणं ।
 अस्सायस्स य चरिमे अहापवत्तस्स लहु खवगे ॥१०८॥
 हस्सगुणद्वं पूरिय सम्बं भीसं च धरिय उक्कोसं ।
 कालं मिल्लत्तगए चिरउब्बलगस्स चरिमम्मि ॥१०९॥
 संजोयणाण चउरुवसमित्तु मंजोयइत्तु अणद्वं ।
 छावट्ठिदुगं पालिय अहापवत्तस्स अंतम्मि ॥११०॥
 हस्सं कालं बंधिय विरथो आहारमविरहि गंतु ।
 न्निरओब्बलणे थोबो तित्थं बंधालिगा परओ ॥१११॥
 वेउब्बेककारसगं उब्बलियं बंधिऊण अणद्वं ।
 जेद्धट्ठितिनरयाओ उब्बट्ठित्ता अब्बधित्ता ॥११२॥
 थावरगसमुब्बलणे भणुदुगउच्चाण सहुमवद्वाणं ।
 एमेव समुब्बलणे तेउवाउसुवगयस्सा ॥११३॥

अगुवसमिता मोहं सायस्स असायअंतिमे बंधे ।
 पणतीसा य सुभाणं अपुद्वकरणालिगा अंते ॥११४॥

तेवद्ध उदहिसयं गेविज्जाणुत्तरे सञ्चाधित्ता ।
 तिरिदुगडजोयाइ अहापवत्तस्स अंतमि ॥११५॥

इगिविगलायवथावरचउक्कमब्धिऊण पणसीयं ।
 अयरसयं छट्ठीए बावीसयरं जहा पुब्बं ॥११६॥

दुसराइतिष्णा णीयज्ञुभखगइ संवयण संठियपुमाणं ।
 सम्माजीगाणं सोलसण्हं सरिसं थिवेएणं ॥११७॥

समयाहिआवलीए आऊण जहण्णजोग बंधाणं ।
 उक्कोसाऊ अंते नरतिरिया उरलसत्तस्स ॥११८॥

पुर्सजलणतिगाणं जहण्णजोगिस्स खदगसेढीए ।
 सगचरिमसमयबद्धं जं कुमइ संगतिमे समए ॥११९॥



उद्वर्तना और अपवर्तना करण की मूल गाथाएँ
 उदयावलिवज्ञाणं ठिईणाऽदृष्टाणा उ ठितितिसदा ।
 सोक्कोसअवाहाओ जावावलि होई अइत्थवणा ॥१॥
 इच्छियठितिठाणाओ आवलिगं लंघिउण तहलियं ।
 सब्बेसु वि निकिखप्पइ ठितिठाणेसु उवरिमेसु ॥२॥
 आवलिअसंखभागाइ जाव कम्मटिठितिति निक्षेवो ।
 समोयत्तरावलीए सावाहाए भवे ऊणो ॥३॥
 अद्वाहोवरिठाणगदलं पडुच्चेह परमनिक्षेवो ।
 चरिमुब्बटृटणगाणं पडुच्चन इह जायइ जहणो ॥४॥
 उक्कोसगठितिर्थे बंधावलिया अबाहमेत्तं च ।
 निक्षेवं च जहणं मोत्तुं उब्बटृए सेसं ॥५॥
 निब्बाघाए एवं वाघाओ संतकम्महिगबंधो ।
 आवलिअसंखभागो जावावलि तथ इत्थवणा ॥६॥
 आवलिदोसंखंसा जह वडृढृइ अहिणवो उठिइबंधो ।
 उब्बटृटित तो चरिमा एवं जावलि अइत्थवणा ॥७॥
 अइत्थावणालियाए पुण्णाए वडृइति निक्षेवो ।
 ठितिउब्बटृणमेवं एतो आवटृणं बोल्छ ॥८॥
 ओब्बटृन्तो य ठिति उदयावलिबाहिरा ठिईठाणा ।
 निकिखवइ से तिभागे समयहिगे लंघिउं सेसं ॥९॥
 उदयावलि उवरित्था एमेवोवटृए ठिइठाणा ।
 जावावलियतिभागो समयाहिगो सेसठितिणं तु ॥१०॥
 इच्छोवटृणठिईठाणगाउ उल्लधिऊण आवलियं ।
 निकिखवइ तहलियं अह ठितिठाणेसु सब्बेसु ॥११॥
 उदयावलिउवरित्थं ठाणं अहिकिच्च होइअहीणो ।
 निक्षेवो सब्बोवरिठिईठाणवसा भवे परमो ॥१२॥

समयाहियद्वयवणा बंधावलिया य मोत्तु निक्खेवो ।
 कम्मटिठइ बंधोदयआवलिया मोत्तु ओवट्टे ॥१३॥
 निव्वाघाए एवं ठिइघातो एत्थ होइ वाघाओ ।
 वाघाए समऊण कंडगमइत्थावणा होई ॥१४॥
 उक्कोस डायटिठइ किचूणा कंडग जहण्ण तु ।
 पल्लासंखेस डायटिठइ उ जत्तो परमबंधो ॥१५॥
 चरिमं नोवटुज्जज्ज जाव अणंताणि फड्डगाणि तओ ।
 उस्सविक्य उब्बट्टइ उदया ओवट्टणा एवं ॥१६॥
 अइत्थावणाइयाओ सण्णाओ दुसुवि पुब्बकुत्ताओ ।
 कितु अणंतभिलावेण फड्डगा तासु वत्तव्वा ॥१७॥
 थोवं पासगुणहाणि अंतरे दुसु वि हीणनिक्खेवो ।
 तुल्लो अणंतगुणिओ दुसु वि अइत्थावणा चेव ॥१८॥
 तत्तो वाघायणुभागकंडग एककवगणहीण ।
 उक्कोसो निक्खेवो तुल्लो सविसेस संतं च ॥१९॥
 आबंधं उब्बट्टइ सव्वत्थोवट्टणा ठितिरसाण ।
 किटिटवज्जे उभयं किटिसु ओवट्टणा एवका ॥२०॥

गाथा—अकारादि अनुक्रमणिका

| गाथारा | गा. सं. पृ./स. | गाथांश | गा. सं. पृ./स. |
|-------------------------------------|----------------|------------------------------------|----------------|
| अद्यत्यावणाइयाओ सण्णाबो १७।८।७८ | | इगिविगलायवथावरचउक्कम | |
| अद्यत्यावणालियाए पुण्णाए ८।८।६० | | | ११।६।८।४१ |
| अजहणो चडभेओ पछमग ६।६।१।४६ | | इच्छयठिठाणाओ | |
| अट्ठाराइचडकं पंचे २।३।६२ | | आवलिगं | २।२।५।३ |
| अट्ठारस चोहदससत्तगेसु २।४।६० | | इच्छोवट्टथठिठाणगाड | १।।।२।६।६ |
| अणतित्युब्बलगाणं संभवओ ८।३।१।४३ | | इसाणांययुरिसस्स इतिष | ६।४।२।०।६ |
| अणुवसमिता मोहं | | उक्कोतागठितिष्ये | |
| सायस्स १।।।४।८।८।३।७ | | बंधावलिया | ५।।।८।५।६ |
| अञ्चाहोवरिठाणदलं पहुन्नेह ४।।।२।५।८ | | उक्कोसं हायदिठई किन्नूणा १।।।२।७।८ | |
| थरठसोगद्धकसाय | | उदयावलि उवरित्या | |
| असुभ १।०।।।२।२।८।८ | | एमेबोवट्टए १।।।०।।।८।८ | |
| असुभाण १।।।८।८।८ | ७।।।७।।।७।८ | उदयावलि उथरित्यं ठाण १।।।२।६।६ | |
| आगन्तु बहु पुरिसं सुङ्गुभ ६।।।८।०।८ | | उदयावलिए छाभा | |
| आवंघ उच्छट्टद्द सबवत्थो २।।।०।।।८।३ | | अणणणमईए ४।।।५।।।१।०।६ | |
| आयावुज्जोवीराल पछम | | उदयावलिबज्जाणं ठिईण १।।।२।४।७ | |
| संघयण ५।।।८।।।३।५ | | उवट्टणं च ओवट्टणं ३।।।५।।।६।७ | |
| आवलिअसंख्यगोइ जाव ३।।।२।५।४ | | एकट्टाणजहन्तं खंकमझ ५।।।६।।।१।३।० | |
| आवलिदीसंखंसा जइ बहुद्दइ ३।।।५।६।० | | एवहय संतथा जं | |
| आसीमं पण्णवीसो इगवीसो १।।।७।।।५।१ | | सम्मदिट्ठीण ३।।।६।।।६।३ | |
| अतोमुहुत्तहीण | | एवं उब्बलणासंकमेण ७।।।४।।।१।७।२ | |
| आवलियदुहीण | ४।।।६।।।६ | ओवट्टम्तो य ठिति उदया ६।।।२।६।६ | |

| | | |
|--------------------------|-----------|--------------------------|
| कम्मचउबवके असुभाण | ६१।२०३ | तत्त्वो तिरियागम |
| ख्यउवसमदिट्ठीयं | ५।१८ | आलिगोवरि |
| ख्वगस्स सर्वघच्छय | १।८।५८ | तत्त्वो वाघायणुभगकडग |
| ख्वगस्संतरकरणे अकए | ५।६।१६ | तिथयराहाराण सुरमठ |
| ख्विळण मिच्छुभीसे मणुओ | ४।७।१७६ | तिथयराहाण संकमणे |
| ख्डदलं सट्ठाणे समष | ७।२।१६७ | तिन्न तिणाई सत्टूठनवय |
| गुणमाणेण दलिङ्गं हीरंत | ८।१।१८७ | तिविहो धू वसंताण |
| मुणवीसपन्नरेवकारसाह | २।१।६६ | चउविहो |
| मंतुं सम्मो मिच्छुंतु- | | ५।१।१२० |
| सुम्मोस | ४।०।६७ | तेजीसवरा पालिय |
| थाईणं जे ख्वगो जहणरस | ६।२।१४१ | अंतमुहृत्त |
| चउव्व समितु ख्विपं | ६।८।२१२ | तेवट्ठ उदहिसय |
| चउव्व समितु मोहं बहुं | १।०।५।२२१ | गेविज्ञा |
| चउहा धुक्कळव्वीसग सथस्स | ८।३।१६१ | थावरणसुव्वलणे भणुदु |
| चउहा पडिगहत्त धुवर्बंधिण | १।०।२२ | थीणतिगइत्थमिच्छाण |
| चरमठिईए रद्यं पद्दसमय | ७।८।१८८ | पालिय |
| चरिमं मोवटिट्ठज्जइ जाव | १।६।२७५ | थोवं पएसगुणहाणि अंतरे |
| छ्सु वीस चोहं तेरस | ८।८।६५ | दलियरसाणे जुतं चुतत्ता |
| जाण न बंधो जायड | ८।६।१५६ | दसगट्ठारसगाई चउ |
| जासि बंधनिमित्तो उक्कोसो | ६।६।८९ | दपगाइचउकं एकवीस |
| जोगकसाचक्कोसो बहुसो | ८।६।१८५ | दुखरिमख्वंदसस दल चरिमे |
| जोगजसमज्ज उवारि मुहृत्त | ८।८।१४५ | दुट्ठाणो च्चिय जाणं लाणं |
| जोगेसु तो तसेगु सम्मत | १।०।४।२२१ | दुसराइतिण णीयडसुभ |
| जोगुक्कोसं दुचरिमे | | दुसुतिसु आबलियायु |
| चरिमसमए | ८।६।१६५ | देसगवाइरसेण गणइयो |
| जो जो जाण ख्वगो | | दंसणवरणे नवगो |
| जहणठिति | ४।४।१०५ | संकमणपडिग्गहा |
| ज दुचरिमस्स चरिमे | | धुवसंतीणं चउहेह संकमो |
| सपरद्वाणेसु | ८।८।१८६ | नरगुगस्स चिठोभि पुच्च |
| ठितिसंकमोच्च तिविही | ५।२।१८३ | नवच्छक्कचउकेसुं नवगं |

| | | |
|-------------------------|------------|-----------------------------------|
| निदादुगस्स सहिय | | बाबीसे गुणवीसे |
| आवलियदुग' | ४८।१११ | पन्नरसेकारसे य सत्ते य २३।५६ |
| नियनिय दिछिद न केइ | ३।७ | बंधिय उकोसरसं |
| निव्वाधाए एवं ठिडवातो | १८।२७८ | आवलियाओ ५७।१३३ |
| निव्वाधाए एवं वापाओ | ६।२६० | बंधुकीसाण ठिई मोत्तु दो ३७।६१ |
| पढमचउकं आइल | | बंधुकोसाण आवलिए |
| विजयं | ३२।३६ | आवलिदुगेण ४२।१०१ |
| पढमचउकं तित्यगर | ३।०।७० | भिन्नमुहत्ते सेसे |
| पढमं संतचउकं इमतीसे | ३।१।७३ | जोयकसाउ ६।३।२०५ |
| पढमाओ बीअखडं | | मिल्ले खविए मीसास्ता नीत्य ६।१४ |
| विसेसहीण | ७।१।६५ | मूलठिईण अजहन्नो सत्तप्ति ५।१।१८ |
| पणदोन्न तिन्न एवके | २।३।६४ | लोभस्स असंकमणा उद्वसणा १।५।० |
| पणवीसो संसारिसु इगवीसे | २।।।५८ | वरिसवरित्य पूरिय |
| पन्नरससोलसत्तर | | सममत्त ६।६।२०८ |
| अड्चउवीसा | १।२।२४ | बुज्ज्ञा-उब्बलण अहापवत्त ६।।।१५८ |
| परधाय सकलतसचउगुरा | ८।।।२।१४ | बेउस्वेक्कारसग उब्बलियं १।२।२।३४ |
| पलियरुससंख भाग | | समथाहिथावलीए आऊण |
| अंतमुहुत्तेण | ७।।।१।६३ | जहणणजोग १।६।२।८३ |
| पिडपगर्दूण जा उदयसंगया | ८।।।१।६४ | समयाहियहत्यवणा |
| पुसंजव्वन्नतिगाण | | बंधावलिया १।६।२।७० |
| जहणणजोगिस्स | १।।।१।२।४४ | सममहिटी न हणइ |
| पुसंजलणाण ठिई | | सुभाषूभाग' ६।।।१।४० |
| जहन्नया | ४।।।१।१३ | समसीसाई मिल्लो |
| पूरिसु भोगभूमीमु जीविय | ६।।।२।०७ | सुरदुग्वे ७।।।१।७३ |
| बउझंतियागु द्वयरा ताओवि | १।।।३ | रव्वघाइ दुठाणो |
| बहिय अहापवत्त | | मीसायवमण् ५।।।१।८८ |
| सहेजाहो | ७।।।१।८३ | साइयवज्जो अजहण्णसंक्षमो ६।।।१।४५ |
| बायरतसकालमेवं वसितु | ८।।।१।६५ | साइयवज्जो |
| बायरतसकालूण कम्माठिइ | ८।।।१।६५ | वेशणिमनामगोयाण ६।।।१।४८ |
| बाबीसे गुणवीसे | | सात्तणजसदुविहकसाय सेस ६।।।१ |
| पन्नरसेकारसे मु | ८।।।१।५६ | साब्राहा बाउठिई आवलिगुणा ४।।।१।०३ |

| | | |
|-------------------------|----------|------------------------|
| सुभधुवचउवीसाए होइ | ६७।१५२ | संजोयणाण |
| सुहुमेसु निगोएसु | | चउरिवसमित्तु |
| कम्मठिति | १०।३।२२१ | ११।०।२।३१ |
| सेसाण असुभाण केवलिणो | ६०।१।३८ | संतटाणसमाइ संकामडा |
| सेसं साइ अधुवं चन्द्राल | ८४।१।६३ | ११।२।३ |
| संकमइ जासु दलियं ताथो | २।६ | संसारतथा जीवा |
| संकमइ नन्न पगइं पगईओ | ३।३।८।१ | मन्दसालोगणा |
| संकमण पडिभगह्या पढम | १।३।४४ | ७६।१।७।६ |
| संकामेति न आउं उवसंतं | ४।७ | हस्सं कालं वधिय |
| संछोमणाए दोष्हं मोहाण | ६२।६।०४ | विरओ |
| संजलणलोभ नाणंतराय | | ११।१।२।३२ |
| दंसण | ४६।१।०८ | हस्सगुणद्वं पूरिय सम्भ |
| | | हासदुभयकुच्छाणं |
| | | खीणताण |
| | | १०।६।२।२५ |

[]

परिशिष्ट : ३] प्रकृतिसंकर्म की अपेक्षा आयु व नाभकर्म के अतिरिक्त ज्ञानावरणादि [पंचसंग्रह चाग : ७ | ३०२
छह कर्मों के संकर्म स्थानों की साद्यादि प्रकृतपणा

| कर्मप्रकृति | संकर्मस्थान | सादि | अध्रुव | अनावि | ध्रुव |
|----------------------|---------------------------|---------------------------------|----------------------------------|------------------------------------|--------------|
| ज्ञानावरण | ५ प्रकृतिक | उपशांतमोह गुण- से गिरने पर | भव्यापेक्षा | उपशांतमोह गुण- अप्राप्तापेक्षा | अभव्यापेक्षा |
| अन्तराय दर्शनावरण | ५ प्रकृतिक ६ प्रकृतिक | " " | " " | " अत्यक्त मिथ्या- त्वापेक्षा | " " |
| असातावेदनीय | ६ प्रकृतिक | कादाचित्क होने से | कादाचित्क होने से | × | × |
| | १ प्रकृतिक | परावर्तमान प्रकृति होने से | परावर्तमान प्रकृति होने से | × | × |
| सातावेदनीय मोहनीय | १ प्रकृतिक २७ प्रकृतिक | " अमुककाल पर्यन्त होने से | " अमुक काल पर्यन्त होने से | × | × |
| " | २६ " | " | " | × | × |

| | | | | | |
|-----------|--|---|---------------------------------------|--------------------------------------|-------------------|
| मोहनीय | रत्र प्रहृतिक रूप, रूप, रूप, रूप, १६, १८, १४, १३, १२, ११, १०, ८, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक १ प्रकृतिक | सम्बन्धित सिवा मोहू की उद्वलना होने पर होने से कादाचित्क होने से | मध्याह्नेश्वा कादाचित्क होने से | अनादि भिथ्याहृष्टि की व्येक्षा | अभव्यापेक्षा X |
| " | " | " | " | " | X |
| उच्चगोत्र | " | परावर्तमान बंधी होने से | परावर्तमान बंधी होने से | " | X |
| नीचगोत्र | १ प्रकृतिक | " | " | " | X |

नोट—आयुकर्म में परस्पर संक्रम नहीं होने से संक्रमस्थान नहीं होते हैं।

नामकर्म के संक्रमस्थानों की सादादि प्रलृपणा का प्रारूप आगे देखिये।

**प्रकृति संक्षम की अपेक्षा आयु और नामकर्म के अतिरिक्त ज्ञानावरणादि लह कर्मों के पतद्ग्रह
स्थानों की साच्चादि प्रकृत्याणा**

| कर्मनाम | पतद्ग्रह स्थान | सादि | अध्रुव | अनादि | छुब |
|-------------|----------------|---------------------------|-----------------------|------------------------------------|--------|
| ज्ञानावरण | ५ प्रकृतिक | उपशातमीहगृण से गिरने पर | भव्यापेक्षा | उपशातमीहगृण स्थान अप्राप्तापेक्षा- | अभव्या |
| दर्शनावरण | ६ प्रकृतिक | लह के बंध सेनी बंधापेक्षा | " | अत्यक्तमिद्यात्मी के | पेक्षा |
| " | ६ प्रकृतिक | कादाचित्क होने से | कादाचित्क होने से | × | × |
| " | ४ प्रकृतिक | " | " | × | × |
| सातावेदनीय | १ प्रकृतिक | अध्रुवबंधित्वा-पेक्षा | अध्रुवबंधित्वा-पेक्षा | × | × |
| असातावेदनीय | १ प्रकृतिक | " | " | × | × |
| मोहनीय | २२ प्रकृतिक | कादाचित्क होने से | कादाचित्क होने से | × | × |

| मोहनीय | २१ प्रकृतिक | मिश्र, सम्यकत्व की उद्वेलना करने वाले सादिमिथ्यात्मी की अपेक्षा १६, १८, १७, १५, १४, १३, ११, १०, ६, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक | भव्यापेक्षा कादाचित्क होने की अपेक्षा | अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा | अभव्या पेक्षा |
|-----------------|--------------------------|---|---------------------------------------|---|---------------|
| उच्चगोत्र | १ प्रकृतिक | अधुबवंधि होने की अपेक्षा .. | अधुबवंधि होने की अपेक्षा | × | × |
| नीचगोत्र अंतराय | १ प्रकृतिक ५ प्रकृतिक | उपशात्तमोहगुण स्थान से गिरने वाले की अपेक्षा | भव्यापेक्षा | उपशात्तमोहगुण-स्थान अप्राप्त की अपेक्षा | अभव्यापेक्षा |

नोट—१ आयुकर्म में संक्रम और पतद्वयहत्व का अभाव है।

२ नामकर्म के पतद्वयह स्थानों की साद्यादि प्ररूपणा का प्रारूप आगे देखिये।

| संक्रम स्थान | पतद्वय ह स्थान | सत्ता | काल | गुणस्थान | स्वामी |
|--------------|----------------|---------|--|-------------|--|
| २७ प्र. | २२ प्र. | २८ प्र. | पल्यो० का असंख्या- तर्हाँ भाग | पहला | मिथ्यात्वी |
| १६ | " | " | साधिक तेतीस सागर | चौथा | उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्वी |
| १५ | " | " | देशोन पूर्व कोटि वर्ष | पांचवाँ | " " |
| ११ | " | " | " | छठा, सातवाँ | " " |
| २६ प्र. | २२ | २७ | पल्यो० का असं० भाग | पहला | मिथ्याइष्टि |
| १६ | " | २८ | आवलिका | चौथा | उपशम सम्यक्त्वी प्रथमा- वलिका |
| १५ | " | " | " | पांचवाँ | " " |
| ११ | " | " | " | छठा, सातवाँ | " " |
| २५ प्र. | २१ | २६ | अनादि-अनन्त, अनादि- सांत, सादि-सांत | पहला | मिथ्याइष्टि |
| २३ प्र. | १७ | २८ | छह आवलिका | दूसरा | सासादन सम्यक्त्वी |
| | २२ | २७/२८ | अन्तर्मूर्ति | तीसरा | मिथ्याइष्टि |
| | २२ | २८ | आवलिका | पहला | अनन्तानुवंधि की विस- योजना कर के आगत मिथ्याइष्टि |

| | | | | | | | |
|---------|----|---|-------|---|-------------------------|-----------------------|--|
| | १६ | " | २४/२८ | " | साधिक तेतीस सागर : चौथा | | अनन्ता चतुष्क की विसं- योजना करने वाला क्षणो० सम्यक्त्वी |
| | १५ | " | २४/२८ | " | देशोन पूर्व कोटि | पांचवा | " " " |
| | ११ | " | २४/२८ | " | " | छठा, सातवां, आठवाँ | " " " |
| | ७ | " | २४/२८ | " | अन्तमुहूर्त | नौवां | उप० सम्य० उप० श्रेणि अन्तरकरण करने तक क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता क्षायो० सम्यक्त्वी |
| २२ प्र. | १८ | " | २३ | " | " | चौथा | " " " |
| | १४ | " | २३ | " | " | पांचवा | " " " |
| | १९ | " | २३ | " | " | छठा, सातवां | " " " |
| | ७ | " | २४/२८ | " | " | नौवां | उप० श्रेणि उप० सम्य- क्त्वी अन्तरकरणबल्ली नपु० वेद का उपशमन होने तक |
| २१ प्र. | १७ | " | २२ | " | " | चौथा | वेदक सम्यक्त्वी |
| | | | २१ | " | साधिक तेतीस सागर | " | क्षायिक .. |
| | १३ | " | २२ | " | अन्तमुहूर्त | पांचवा | वेदक .. |
| | | | २१ | " | देशोन पूर्व कोटि | " | क्षायिक .. |

प्रकृति संक्षमापेक्षा मोहनीय शर्न के संक्षय रथानों दें पद्मपद्म रथान

| संक्ष स्थान | पद्मपद्म स्थान | सत्ता | काल | गुणस्थान | स्वामी |
|----------------|-------------------|------------|------------------|-------------|---|
| ६ | " | २२ " | अन्तर्मुहूर्त | छठा, सातवां | वैदिक सम्यक्त्वी |
| | | २३ " | देशीन पूर्व कोटि | " " | शायिक " |
| | | २१ " | अन्तर्मुहूर्त | प्राठवा | शायिक " |
| ७ | " | २४/२५ " | " | नीवां | उप० श्रेणि, उप० सम्य- क्त्वा नपु० वैद उपशांत होने पर |
| ८ | " | २६ " | " | " | उप० श्रेणि शायिक सम्यक्त्वी अन्तर्कारण न करने तक क्षपक्षश्रेणि क्षपाया- टक का क्षय न होने तक |
| २० प्र. | ७ | २४/२५ प्र. | अन्तर्मुहूर्त | नीवां | उप० श्रेणि उप० सम्य- क्त्वा नपु० वैद उपशांत होने पर |

| | | | | | | | | |
|---------|-----|------------|-----------------|-------|---|---|----------------------|---|
| १० प्र. | ५ " | २४/२८ प्र. | समयोन दो आवलिका | नौवां | " | " | " | " |
| | ५ " | २१ " | अन्तर्मुहूर्त | " | " | क्षायिक सम्य. | अन्तरकरणवर्ती | |
| ११ प्र. | ५ " | २१ " | | " | " | उप. श्रेणि क्षायिक सम्य. | नपुंसकवेद | |
| १२ प्र. | ५ " | २१ " | | " | " | उपशांत होने पर | | |
| १३ प्र. | ५ " | २१ " | समयोन आवलिका | " | " | " | स्त्रीवेद उपशांत | |
| | | | द्विक | " | " | | होने पर | |
| १४ प्र. | ५ " | २४/२८ " | " | " | " | उप. सम्यक्त्वी हास्यपट्टक | उपशांत | |
| १५ प्र. | ५ " | २४/२८ " | अन्तर्मुहूर्त | " | " | होने पर | | |
| | | | | " | " | " | पुरुषवेद उपशांत होने | |
| | | | समयोन आवलिका | " | " | | पर | |
| | | | द्विक | " | " | | | |
| १६ प्र. | ५ " | १३ प्र. | अन्तर्मुहूर्त | नौवां | " | क्षपकश्रेणि कपायाट्टक | क्षय होने पर | |
| १७ प्र. | ५ " | १३ " | " | " | " | अन्तरकरण करने वाला | | |
| | | | समयोन आवलिका | " | " | उप. श्रेणि क्षायिक सम्यक्त्वी हास्यपट्टक | | |
| | | | द्विक | " | " | उपशांत होने पर | | |
| १८ प्र. | ५ " | २८/२४ प्र. | समयोन आवलिका | " | " | उप. श्रेणी, उप. सम्यक्त्वी अप्र. प्रत्या- | | |
| | | | द्विक | " | " | क्रोध उपशांत होने पर | | |

परिशिष्ट : ५

पंचसंग्रह भाग : ७ | ३०६

परिशिष्ट : ५

| | | | | | |
|---------|---------|---------|-----------------------|--------|---|
| ५ प्र. | १२ | प्र. | अन्तमुहूर्त | | क्षपक श्रेणि नमु वद का दाय होते हैं। १८ उप. श्रेणि क्षायिक सम्यक्तवी पु. वेद उपशांत होने पर |
| ४ " | २१ | " | " | | " " " |
| ३ " | २१ | " | समयोन आवलिका द्विक | | " उप. सम्यक्तवी संज्व. क्रोध उपशांत होने पर |
| १० प्र. | ५ " | २८/२४ " | अन्तमुहूर्त | " | क्षपक श्रेणि स्त्रीवेद के रहते |
| ५ " | ११ | " | | " | " " |
| ४ " | ११ | " | समयोन आवलिका द्विक | " | उप. श्रेणि, क्षायिक सम्यक्तवी अप्र. प्रत्या क्रोध उपशांत होने पर |
| ६ प्र. | ३ प्र. | २१ | " | " | उप. सम्यक्तवी अप्र. प्रत्या. मान |
| ८ प्र. | ४ " | २८/२४ " | " | " | उपशांत होने पर |
| ३ " | २१ प्र. | | अन्तमुहूर्त | तीव्रा | " उप० श्रेणी, क्षायिक सम्यक्तवी संज्व. क्रोध उपशांत होने पर |
| २ " | २१ | " | समयोन आवलिका द्विक | " | " " " |
| ७ प्र. | ४ " | २४/२८ " | अन्तमुहूर्त | " | उप. सम्यक्तवी संज्व. मान के रहते |
| ३ " | २४/२८ " | " | समयोन आवलिका द्विक | " | " " |

| | | | | | |
|--------|--------|------------|--------------------|---------|--|
| ६ प्र. | २ प्र. | २१ प्र. | समयोन आवलिका द्विक | नौवा | उपश्रेणी क्षायिक सम्यकत्वी अप्र. प्रत्या- मान उपशांत होने पर |
| ५ प्र. | ३ " | २४/२८ " | " | " | उप. सम्यकत्वी अप्र. प्रत्या. माया उपशांत होने पर |
| " | " | २४/२८ " | अन्तर्मुहूर्त | " | " क्षायिक सम्यकत्वी संज्व. मान उपशांत होने पर |
| " | " | २१ " | समयोन आवलिका द्विक | " | " " " |
| ४ प्र. | ४ " | ५ " | " | " | क्षपक श्रेणि ह्रास्यषट्क का क्षय होने पर |
| " | ३ " | २४/२८ " | अन्तर्मुहूर्त | " | उपशाम श्रेणि उप. सम्यकत्वी संज्व. माया के उपशांत होने पर |
| ३ प्र. | ३ प्र. | ४ प्र. | अन्तर्मुहूर्त | नौवा | क्षपक श्रेणि पुरुषवेद का क्षय होने पर |
| " | १ प्र. | २१ प्र. | समयोन आवलिका द्विक | " | उप. श्रेणि क्षायिक सम्यकत्वी अप्र. प्रत्या. माया उपशांत होने पर |
| २ प्र. | २ प्र. | ३ प्र. | अन्तर्मुहूर्त | नौवा | क्षपक श्रेणि संज्व. क्रोधका क्षय होने पर |
| " | २ प्र. | २८/२४ प्र. | " | दसवा | उप. श्रेणि उप. सम्यकत्वी अप्र. प्रत्या- लोभ उपशांत होने पर |
| " | " | " | " | रवारहवा | " |
| " | १ प्र. | २१ प्र. | " | नौवा | उप. श्रेणी क्षायिक सम्यकत्वी संज्व. माया उपशांत होने पर |
| १ प्र. | १ प्र. | २ प्र. | अन्तर्मुहूर्त | " | क्षपक श्रेणि संज्वलन मान का क्षय होने पर |

परिशिष्ट : ६] प्रकृतिसंक्रम की अपेक्षा पतद्वयह प्रकृतियों की सामान्य प्ररूपणा [पंचसंन्त्रह भाग : ७ | ३१२

| पतद्वयह प्रकृतियाँ | सादि | अध्रुव | अनादि | ध्रुव |
|----------------------------|--|------------------------------|--|--------------|
| ६३ अध्रुवबंधिनी प्रकृतियाँ | अपने बंधविच्छेद के अनन्तर पुनः बंध होने पर | भव्यापेक्षा | बंधविच्छेद स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा | अभव्यापेक्षा |
| ६४ अध्रुवबंधिनी प्रकृतियाँ | अध्रुवबंधिनी होने से | अध्रुवबंधिनी होने से | × | × |
| मिथ्यात्वमोह | पतद्वयहत्व कादाचित्क होने से | पतद्वयहत्व कादाचित्क होने से | × | × |
| मिथ्. सम्यक्त्व मोह. | कादाचित्क होने से | कादाचित्क होने से | × | × |

| संक्रम्यमाण प्रकृति नाम | स्वामित्व |
|--|--|
| ज्ञानावरणपञ्चक, दर्शनावरणनवक, नीचगोत्र, अन्तरायपञ्चक, असातावेदनीय तथा तीर्थकर व यशःकीर्ति को छोड़कर शेष नगरकर्म प्रकृति सातावेदनीय मिथ्यात्वमोहनीय | सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त के जीव |
| मिथ्यात्वमोहनीय | प्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त के जीव अविरत सम्यम्बृहित से लेकर उपशांतमोह गुणस्थान-पर्यन्त के जीव |
| सम्यक्त्वमोहनीय अनन्तानुबंधिकषायचतुर्षक | मिथ्यात्व एवं अविरतसम्यम्बृहित से लेकर उपशांतमोह गुणस्थान पर्यन्त के जीव मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव |
| अप्रत्याख्यानावरण आदि शेष वारह कपाय, नवनोकषाय यशःकीर्तिनाम तीर्थकर नाम | अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीव। आदि के दो गुणस्थानों में निश्चित, शेष में भजनीय औनिदृतिवादरसंपराय गुणस्थान तक के जीव |
| उच्चगोत्र | अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग तक के जीव दूसरे और तीसरे को छोड़कर पहले और चौथे से दसवें गुणस्थान तक के जीव आदि के दो गुणस्थानवर्ती के जीव |

परिशिष्ट : ८] प्रकृतिसंकलन की अपेक्षा १५४ प्रकृतियों के संकलन की साचादि प्रृष्ठणा [पंचसंग्रह भाग : ७ | ३१४

| संक्रम्य प्रकृतियाँ | सादि | अध्रुव | अनांद | छूब |
|----------------------------------|---|---|--|--------------|
| १२६ अध्रुवसत्ताका | पतद्वय्ह रूप प्रकृति के बंधविच्छेद के अनन्तर पुनः बंध होने पर | भव्यापेक्षा | बंधविच्छेद स्थान को प्राप्त नहीं करने वालों की अपेक्षा | अभव्यापेक्षा |
| २४ अध्रुवसत्ताका | अध्रुव सत्ता वाली होने से परावर्तमान प्रकृति होने से विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के संक्रम्यमाण होने से और सम्यग्दृष्टित्व कादाचित्क होने से | अध्रुवसत्ता वाली होने से परावर्तमान प्रकृति होने से सादि होने में | × | × |
| वेदनीयद्विक, नीच गोव्र मिथ्यात्व | | | ^ | × |
| | | | × | × |

नोट—आयुचतुष्क का परस्पर संकलन नहीं होने से, उनमें साचादि भंग नहीं होते हैं। इसलिये शेष १५४ प्रकृतियों में सम्पर्क भंग नहीं है।

प्रकृति संक्रमापेक्षा मोहनीय कर्म सम्बन्धी

(क) अध्येणिगत पत्रदृश्य-

| पत्रदृश्य थान | पत्रदृश्य प्रकृतियाँ | संक्रमस्थान | संक्रम प्रकृतियाँ |
|------------------|---|---------------------|---|
| २२ प्रकृतिक | मिथ्यात्व, १६ कषाय, १ वेद, १ युगल, भय, जुगुप्सा | २७ प्रकृ. २६ , २३ , | मिथ्यात्व विना मिथ्यात्व, सभ्य, मोह विना मिथ्यात्व, असंतानुवंशि विना |
| २५ प्रकृ. | मिथ्यात्व रहित पूर्वोक्त | २५ , २५ | दर्शनत्रिक विना , |
| १६ प्रकृ- | १२ कषाय, पुर्वेद, भय, जुगुप्सा, एक युगल, सभ्य, मोह, मिथ्यमोह, | २६ २७ २३ | २५ कषाय, मिथ्यात्व २५ कषाय मिथ्र, मिथ्या, अनं. रहित २१ कषाय, मिथ्र मोह, मिथ्यात्व |
| १८ प्रकृ. | १२ कषाय, पुर्वेद, भय, जुगुप्सा, १ युगल, सभ्य. | २२ | २५ कषाय, मिथ्र, |
| १७ प्रकृ. | १२ कषाय, पुर्वेद, भय, जुगुप्सा, १ युगल | २५ २१ | २५ कषाय २१ कषाय (अन. रहित) |

पतद्वग्रहस्थानों में संक्रमस्थान

स्थानों में संक्रमस्थान

| प्रकृतिक स्तर | गुणस्थान | संक्रमकाल | स्थायी |
|------------------|----------|--|--|
| २८ | प्रथम | पल्योपमासंख्येयभाग | चिपुंजी मिथ्याहटि |
| २७ | " | " | उद्वलित सम्य. मोह- चिपुंजी |
| २६ | " | एक आवलिका | अनन्तानुबन्धी की प्रथम बंधावलिका में |
| २६ | " | अनादि अनन्तादि तीन भेंग | अनादि मिथ्यात्वी |
| २८ | द्वितीय | ६ आवलिका | सासदनी |
| २८ | चतुर्थ | एक आवलिका | उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका में |
| २८ | " | अन्तमूहूर्त | उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका बाद क्षायोपशमिक सम्यग्हटि |
| २४ | " | ४थे गुणस्थान में क्षयोप- शम रहने तक | अनन्ता. की विसंयोजना बाद उपशम सम्यक्त्वी |
| | " | अन्तमूहूर्त | अनन्ता. की विसंयोजना बाद वेदक सम्यक्त्वी |
| २३ | " | अन्तमूहूर्त | क्षयित अन. मिथ्यात्व, वेदक सम्यग्हटि |
| २८/२७ | तृतीय | अन्तमूहूर्त | मिथ्याहटि |
| २४ | " | " | " |

| पंचसप्तह स्थान | पंचसप्तह प्रकृतियाँ | संक्षमस्थान | संक्षम प्रकृतियाँ |
|----------------|---|-------------|--------------------------------------|
| | | २१ | २१ कषाय (अन.रहित) |
| | | २२ | ,, |
| १५ प्रकृ. | ८ कषाय, पु.वेद, भय, जुगुप्ता, १ युगल, सम्य. मिश्र. | २३ | २४ कषाय, मिथ्यात्व |
| | | २७ | ,, मिश्र मिथ्यात्व |
| | | २३ | २१ कषाय (अन.रहित) मिथ्यात्व मिश्र |
| | | | |
| १४ प्रकृ. | ८ कषाय, पु.वेद, भय, जुगुप्ता, १ युगल, सम्य. मोह. | २२ | २१ कषाय (अन.रहित) मिश्र मोह. |
| १३ प्रकृ. | सम्यक्त्व मोह. रहित पुर्वोक्त | २१ | २१ कषाय (अन. रहित) |
| १२ प्रकृ. | संज्वलन चतुर्पक, पु.वेद, भय, जुगुप्ता, १ युगल, सम्यक्त्व मिश्र मोह. | २६ | २५ कषाय, मिथ्यात्व |
| | | २७ | ,, मिश्र मिथ्यात्व |
| | | २३ | २१ ,,, ,, |

| प्रकृतिक सत्ता | गुणस्थान | संकलनात्मक | स्वामी |
|----------------|----------|----------------------|--|
| २२ | चतुर्थ | अन्तर्मुहूर्त | क्षणित मिथ्या, अन. मिश्रमो. वेदक सम्यक्त्वात् क्षायिक सम्यक्त्वी |
| २१ | „ | साधिक ३३ सामरोपम | उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका |
| २८ | पचम | १ आवलिका | उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका बाद |
| २९ | „ | अन्तर्मुहूर्त | देशोन पूर्वकोटि वर्ष |
| २८ | „ | देशोन पूर्वकोटि वर्ष | अन्तर्मुहूर्त |
| २७ | „ | देशोन पूर्वकोटि वर्ष | देशोन पूर्वकोटि वर्ष |
| २६ | „ | अन्तर्मुहूर्त | क्षणित मिथ्यात्व वेदक सम्यक्त्वी |
| २२ | „ | „ | क्षणित मिथ्या, मोह, वेदक सम्यक्त्वी |
| २१ | „ | देशोन पूर्वकोटि वर्ष | क्षायिक सम्यक्त्वी |
| २८ | ६, ७ | एक आवलिका | उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका |
| २८ | „ | अन्तर्मुहूर्त | उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आवलिका बाद |
| २४ | „ | „ | क्षणित अन. उपशम सम्यक्त्वी |
| २५ | „ | „ | क्षणित अन. वेदक सम्यक्त्वी |

| पतद्वयह स्थान | पतद्वयह प्रकृतियाँ | संक्रमस्थान | संक्रम प्रकृतियाँ |
|---------------|--|-------------|--------------------|
| १० प्रकृ. | संज्वलन चतुष्क, पु. वेद भय, जृगुणा, १ युगल, सम्य, मोह. | २२ | २१ कषाय, मिथ मोह- |
| ६ प्रकृ. | सम्यवत्क भोहरहित पूर्वोक्त | २१ २१ | २१ कषाय २१ कपाय |

परिणिष्ट : १०

(ख) उपराम अंगिकर्ता

| पतद्वयह स्थान | पतद्वयह प्रकृतियाँ | संक्रमस्थान | संक्रम प्रकृतियाँ |
|---------------|--|----------------------|--|
| ११ प्रकृ. | संज्वलन चतुष्क, पु. वेद भय, जृगुणा, हास्य, रति, सम्य, मोह, मिथ मोह. | २३ | २१ वाषाय (अन.रहित) मिथ्यास्य मिथ मोह- |
| ७ प्रकृ. | संज्व, चतुष्क, पु. वेद सम्य, मिथ मोह. | २३ २४ २५ २० | संज्व, लोभरहित पूर्वोक्त मपु.वेदरहित पूर्वोक्त स्त्रीवेदरहित पूर्वोक्त |
| ५ प्रकृ. | संज्व, चतुष्क सम्य, मिथ. | २० | " |

| प्रकृतिक सत्ता | गुणस्थान | संक्षमकाल | स्वामी |
|----------------|----------|-----------------|------------------------------------|
| २३ | ६, ७ | अन्नमुहूर्ती | क्षणित मिथ्यात्व वेदक सम्प्रभवी |
| २२ | " | " | क्षणित मिथ्या मोह, वेदक सम्यक्त्वी |
| २१ | " | देशीन पूर्वकोटि | आधिक सम्यक्त्वी |

उपशम सम्यन्हण्ठि

| प्रकृतिक सत्ता | गुणस्थान | संक्षम काल | स्वामी |
|----------------|----------|----------------|------------------|
| २४ | अष्टम | अन्तमुहूर्ती | अनुवेकरण |
| २५ | नवम | " | अन्तरकरण पूर्व |
| | " | " | अन्तरकरण में |
| | " | " | अन्तरकरण पश्चात् |
| | " | " | " |
| | " | समयोन आधिकाडिक | " |

| पत्रपत्रह स्थान | पत्रपत्रह प्रकृतियाँ | संक्षमस्थान | संक्षम प्रकृतियाँ |
|-----------------|------------------------------------|----------------|---|
| ६ प्रकृ. | संज्व. चतुष्क सम्य. मिथ्र मोह. | २० १४ १३ | स्त्रीकेदरहित पूर्वोक्त हास्यषट्करहित पूर्वोक्त पुरुषे रहित पूर्वोक्त |
| ५ प्रकृ. | संज्व. माया, लोभ सम्य. मिथ्र मोह. | १६ ११ १० | " अप्र. प्रत्या. क्लोधरहित पूर्वोक्त संज्व. क्लोधरहित पूर्वोक्त |
| ४ प्रकृ. | संज्व. माया, लोभ, सम्य. मिथ्र मोह. | १० ८ ७ | " अप्र. प्रत्या. मानरहित " संज्व. मानरहित " |
| ३ प्रकृ. | संज्व. लोभ, सम्य. मिथ्र मोह. | ७ ५ ४ | " अप्र. प्रत्या. लोभ संज्व. माया, मिथ्र, मिथ्या. मोह. संज्व. मायारहित पूर्वोक्त |
| २ प्रकृ. | सम्य. मोह. मिथ्र मोह. | २ | मिथ्र मोह. सम्य. मोह |

| प्रकृतिक सत्ता | गुणस्थान | संक्षमकाल | स्थासो |
|----------------|----------|-------------------|--|
| २४ | नवम | समयोन आवलिकाद्विक | आवलिकारण पापबाद् |
| " | " | " | " |
| " | " | अन्तमुहूर्त | " |
| " | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| " | " | " | " |
| " | " | अन्तमुहूर्त | " |
| " | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| " | " | " | " |
| " | " | अन्तमुहूर्त | " |
| " | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| " | " | " | " |
| " | " | अन्तमुहूर्त | " |
| " | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| " | " | " | " |
| " | " | अन्तमुहूर्त | नीवें गुणस्थान की दो आवलिका रहने तक |
| " | ६-१०-११ | " | नीवें गुणस्थान की दो आवलिका १०-११ गुण. |

(ग) उपशम शेणिवरी

| पत्रप्रह स्थान | पत्रप्रह प्रकृतियाँ | संक्रमस्थान | संक्रम प्रकृतियाँ |
|----------------|--|----------------------|--|
| ६ प्रकृ. | संज्वलन चतुष्क, पुर्वेद हास्य, रति, भय, जुगुसा | २१ | १२ कषाय, नव नोकषाय |
| ५ प्रकृ. | पुर्वेद, संज्वलनचतुष्क, | २१ २० १६ १८ | संज्व, लोभरहित पूर्वोक्त ११ कषाय, नपुर्वेदरहित न नोकषाय |
| ४ प्रकृ. | संज्वलन चतुष्क | १८ १२ ११ | ११ कषाय, हास्यषट्क, पुर्वेद |
| ३ प्रकृ. | संज्व, मान, माया, लोभ | ११ ६ . ८ | ११ कषाय, पुरुषवेद अप्र. प्रत्या. क्रोधरहित पूर्वोक्त |
| २ प्रकृ. | संज्व. माया, लोभ | ८ ६ ५ | संज्व. क्रोधरहित पूर्वोक्त |
| १ प्रकृ. | संज्वलन लोभ | ५ ३ २ | अप्र. प्रत्या. मानरहित पूर्वोक्त संज्व. मानरहित पूर्वोक्त |

कार्यिक सम्पर्कहिंदि

| प्रकृतिक सत्ता | गुणस्थान | संक्षेप काल | स्वामी |
|-------------------|----------|-------------------|----------------------------|
| २१ | अष्टम | अन्तमुहूर्ते | अपूर्वकरण गुणस्थान वाला |
| २१ | नवम | " | अन्तरेकरण पूर्व |
| २१ | " | " | अन्तरकरण में |
| २१ | " | " | अन्तरकरण पश्चात् |
| २१ | " | " | " |
| २१ | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| २१ | " | " | " |
| २१ | " | अन्तमुहूर्ते | " |
| २१ | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| २१ | " | " | " |
| २१ | " | अन्तमुहूर्ते | " |
| २१ | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| २१ | " | " | " |
| २१ | " | अन्तमुहूर्ते | " |
| २१ | " | समयोन आवलिकाद्विक | " |
| २१ | " | " | " |
| २१ | " | अन्तमुहूर्ते | " |

(घ) संषक

| पतदण्ड स्थान | पतदण्ड प्रकृतियाँ | संक्रमणान | संक्रम प्रकृतियाँ |
|--------------|--|-----------|--|
| ६ प्रकृ. | संज्व. चतुष्क, पु. वेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्ता | २१ | १२ कषाय ६ नोकषाय |
| ५ प्रकृ. | संज्व. चतुष्क, पु. वेद | २१ | " |
| | | १३ | संज्व. चतुष्क, ६ नोकषाय |
| | | १२ | संज्व. क्रोधादि ३, |
| | | ११ | ६ नोकषाय |
| | | १० | संज्व. क्रोधादि ३, नपु. वेदरहित आठ नोकषाय |
| | | | संज्व. क्रोधादि ३, स्त्री- वेदरहित ७ नोकषाय |
| ४ प्रकृ. | संज्वलन चतुष्क | १० | संज्व. क्रोधादि ३, पु. वेद |
| | | ४ | " |
| ३ प्रकृ. | संज्वलन मानादि ३ | ३ | संज्व. क्रोधादि ३ |
| २ प्रकृ. | संज्वलन मायादि २ | २ | संज्व. माया, लोभ |
| १ प्रकृ. | संज्वलन लोभ | १ | संज्वलन माया |

श्रेणि

| सत्तास्थान | गुणस्थान | संक्षमकाल | स्थायी |
|------------|----------|-------------------------------------|---------------------------------------|
| २१ | अष्टम | अन्तर्मूहूर्ते | अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती |
| २१ | नवम | " | नौवें गुणस्थान के द्वासरे भाग पर्यन्त |
| १३ | " | " | नौवें गुणस्थान के तीसरे भाग में |
| १३ | " | " | अन्तरकरण में |
| १२ | " | " | नौवें गुणस्थान के चौथे भाग में |
| ११ | " | " | नौवें गुणस्थान के पांचवें भाग में |
| ५ | " | समयोन आवलिकाद्विक अन्तर्मूहूर्ते | " नौवें गुणस्थान के छठे भाग में |
| ४ | " | " | नौवें गुणस्थान के सातवें भाग में |
| ३ | " | " | नौवें गुणस्थान के आठवें भाग में |
| २ | " | " | नौवें गुणस्थान के नौवें भाग में |

प्रकृति संक्रम की अपेक्षा नामकर्म के पतद्वय स्थानों में संक्रमस्थान

४५

| पतद्वय | प्रायोग्य | संक्रम | कुल | काल | गुणस्थान | स्थानी |
|---------|---|--|--|---|--------------------------------------|----------------------|
| २३ प्र. | अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय | १०२ प्र. ६५ " ६३ " ६४ " ६२ " | १०२ प्र. ६५ " ११ ६३ " ११ ६४ " ११ ६२ " ११ | अन्तर्भूत " ११ " ११ " ११ " ११ | पहला " ११ " ११ " ११ " ११ | तिर्यक् मनुष्य |
| २५ प्र. | पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय | १०२ प्र. ६५ " ६३ " ६४ " ६२ " | १०२ प्र. ६५ " ११ ६३ " ११ ६४ " ११ ६२ " ११ | ११ ११ ११ ११ | ११ ११ ११ ११ | तिर्यक्, मनुष्य, देव |
| २५ प्र. | अप. विकले. , तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय | १०२ प्र. ६५ " ६३ " ६४ " ६२ " | १०२ प्र. ६५ " ११ ६३ " ११ ६४ " ११ ६२ " ११ | ११ ११ ११ ११ | ११ ११ ११ ११ | तिर्यक्, मनुष्य |

| पत्रप्रह | प्रायोग्य | संक्षम | सत्ता | काल | गुणस्थान | स्वामी |
|----------|------------------------|----------------------------------|-----------------------------|---------------------------------|--------------------------|---|
| २५ प्र. | अपर्याप्त मनुष्य | १०२ प्र. ६५ ६३ ६४ ६२ | १०२ ६५ ६३ ६४ ६४ | अन्तमुहूर्त ॥ ॥ ॥ ॥ | पहला ॥ ॥ ॥ ॥ | तिर्यक्, मनुष्य |
| २६ प्र. | पर्याप्त एकेन्द्रिय | १०२ ६५ ६३ ६४ ६२ | १०२ ६५ ६३ ६४ ६२ | अन्तमुहूर्त ॥ ॥ ॥ ॥ | ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ | देव |
| २८ प्र. | नारक | १०२ ६६ ६५ ६३ | १०२ ६६ ६५ ६५ | ॥ ॥ ॥ ॥ | ॥ ॥ ॥ ॥ | तिर्यक्, मनुष्य सीष्कर नाम की सत्ता वाला नरकाभिमुख मनुष्य, अन्तिम अन्तमुहूर्त में तिर्यक्, मनुष्य नरकद्विक की वंधावसिका में वर्तमान तिर्यक्, मनुष्य |

| पत्रहर | आयोग | संक्षेप | सत्रा | काल | गुणस्थान | स्वामी |
|---------|------|-------------------|-------------------|---|--------------|---|
| १८ प्र. | देव | ६३ | ६३ | अन्तमूहूर्त | पहला | नरकट्रिक, वैक्रिय सप्तक की बंधावलिका बीतने के बाद मनुष्य, तिर्यंच |
| | | ६४ | ६३ | आवलिका | " | नरकट्रिक, वैक्रिय सप्तक की बंधावलिका में वर्तमान तिर्यंच, मनुष्य |
| | | १०२ प्र. ६५ ,, | १०२ प्र. ६५ ,, | पल्य का असं. भाग अन्तर त्यून पूर्व- कोडि का तीसरा भाग अधिक दे पल्य | १ से ८/९ भाग | मनुष्य, तिर्यंच |
| | | ६५ ,, | ६५ ,, | आवलिका | पहला | " " |
| | | ६३ ,, | ६३ ,, | अन्तमूहूर्त | " | देवट्रिक की बंधावलिका में वर्तमान मनुष्य, तिर्यंच |
| | | ६३ ,, | ६३ ,, | आवलिका | " | देवट्रिक, वैक्रिय सप्तक की बंधावलिका बीतने के बाद देवट्रिक, वैक्रियसप्तक की बंधावलिका में वर्तमान मनुष्य, तिर्यंच |

| प्रतिशेष | प्रायोगिक | संक्षम | सत्ता | काल | गुणश्यान | स्वामी |
|----------|-----------|----------|----------|-----------------------------------|--------------|--|
| २६ प्र. | देव | १०३ प्र. | १०३ प्र. | देशोन पूर्वकोटि | ४ से ८/९ भाग | मनुष्य |
| | | १०२ ,, | १०३ ,, | आवलिका | " | मनुष्य तीर्थकर नाम की बंधा- वलिका में वर्तमान |
| | | ६६ ,, | ६६ ,, | देशोन पूर्वकोटि | " | मनुष्य |
| | | ६५ ,, | ६६ ,, | आवलिका | " | मनुष्य तीर्थकर नाम की बंधा- वलिका में वर्तमान |
| २६ प्र. | मनुष्य | १०२ प्र. | १०२ प्र. | ३३ सागर अथवा परस्य का असं. भाग | १ से ४ | चारों गति के जीव |
| | | ६६ ,, | ६६ ,, | अन्तर्मुहूर्त | पहला | जिन नाम की सत्ता वाला नारक अपर्याप्तावस्था में (सम्यक्ल प्राप्त न करने तक) |
| | | ६५ ,, | ६५ ,, | ३३ सागर | १ से ४ | चारों गति के जीव |
| | | ६३ ,, | ६३ ,, | अन्तर्मुहूर्त | पहला | मनुष्य, तिर्यक |
| २४ | | ६४ ,, | ६४ ,, | " | " | मनुष्य द्वितीय की बंधावलिका में वर्तमान तिर्यक |
| | | ६२ ,, | ६४ ,, | आवलिका | " | |

| पत्रदृश्य | प्रादोष | संक्षम | सत्ता | काल | पुणस्थान | स्वामी |
|-----------|------------------------|--|--|---|--------------------------------------|---|
| २६ प्र. | विकलेन्द्रिय | १०२ प्र. ६५ , ६३ , ६४ , ६२ , | १०२ प्र. ६५ , ६३ , ६४ , ६२ , | अन्तर्मुहूर्ते ,, ,, ,, ,, | पहला ,, ,, ,, ,, | मनुष्य तिर्यच ,, ,, ,, ,, |
| २६ प्र. | तिर्यच पञ्चेन्द्रिय | १०२ प्र. ६५ , ६३ , ६४ , ६२ , | १०२ प्र. ६५ , ६३ , ६४ , ६२ , | पल्यो, असं, भाग ३३ सागर + अंत. अन्तर्मुहूर्ते ,, ,, | १, २ १, २ १, २ १, २ १, २ | मनुष्य, तिर्यच, देव, नारक मनुष्य, तिर्यच ,, ,, तिर्यच |
| ३० प्र. | देव | १०२ प्र. ६५ , | १०२ प्र. १०२ , | , आदलिका | ७ से ८/९ भाग ,, | यति यति आहारक सप्तक की बधाविका में |
| ३० प्र. | मनुष्य | १०३ , ६६ , | १०३ , ६६ , | ३३ सागर अथवा पल्य का असं-भाग ३३ सागर | चीथा ,, | देव देव, नारक |

| पत्रप्राप्ति | श्रावण | संक्षेप | लक्षा | काल | गुणस्थान | स्थानों |
|--------------|---------------|------------------|------------------|---------------|--------------|---|
| ३० प्र. | विकलेन्द्रिय | १०२ प्र. ६५ " | १०२ प्र. ६५ " | अन्तर्मूहूर्त | पहला | मनुष्य, तिर्यक् |
| | | ६३ " | ६३ " | " | " | " " |
| | | ६४ " | ६४ " | " | " | " " |
| | | ६२ " | ६२ " | " | " | " " |
| ३० प्र. | पंचे. तिर्यक् | १०२ " | १०२ " | " | १, २ | तिर्यक्, मनुष्य, देव, नारक |
| | | ६५ " | ६५ " | " | " " | " " |
| | | ६३ " | ६३ " | " | " " | " " |
| | | ६४ " | ६४ " | " | " " | " " |
| | | ६२ " | ६२ " | " | " " | " " |
| ३१ प्र. | देव | १०३ " | १०३ " | " | ७ से ८/९ भाग | यति, जिननाम, आहारक सप्तक की बंधावलिका वीतने के बाद यति, जिननाम की बंधावलिका में |
| | | १०३ " | १०३ " | आवलिका | " | |
| | | ६६ " | १०३ " | " | " | यति आहारक सप्तक की बंधावलिका में |

| पत्रदण्ड | प्रायोगिक | संक्षम | सत्ता | काल | गुणस्थान | स्वामी |
|----------|-----------|----------|--------------|--|---|--------|
| १ प्र. | १०५ प्र. | १०३ प्र. | आवलिका | ६ से ८/६ भाग | यति, जिनाम, आहारक सप्तक ८/८ वंशवलिका में | |
| | १०२ .. | १०२ .. | अन्तर्मिहर्त | उप श्रे. । क्ष. श्रे. ८/७ से ८/७ से | यति, उभय श्रेणिगत | |
| | १०१ .. | १०२ .. | " | १० । ६/१ भा. | " " " | |
| | ८५ .. | ८२ .. | " | " " | " " " | |
| | ८४ .. | ८५ .. | " | " " | " " " | |
| | ८६ .. | ८० .. | " | अप. श्रे ८/२ से १० | यति अपक श्रेणिगत | |
| | ८८ .. | ८८ .. | " | " " | " " " | |
| | ८८ .. | ८८ .. | " | " " | " " " | |
| | ८१ .. | ८२ .. | " | " " | " " " | |

प्रकृति संक्रमापेक्षा नामकर्म के संक्रमस्थानों में पतदग्रहस्थान

| संक्रम | पतदग्रह | सत्ता | प्रायोगिक | काल | गुणस्थान | स्वानी |
|----------|-------------|----------|---------------|------------------|-----------|----------------------------|
| १०३ प्र. | २६ प्र. | १०३ प्र. | देव | देशोन पूर्वकोटि | ४ से ८ | मनुष्य |
| | ३० प्र. | १०३ प्र. | मनुष्य | पल्य का असं. भाग | चौथा | देव |
| | ३१ प्र. | १०३ प्र. | देव | अन्तर्मुहूर्त | ७ से १५ | मनुष्य (यक्ष) |
| १०२ प्र. | २३ प्र. | १०२ प्र. | अप. एके. | " | पहला | मनुष्य, तिर्यंच |
| | २५ प्र. | १०२ प्र. | पर्वा. एके. | " | " | देव मनुष्य, तिर्यंच |
| | २५ प्र. | १०२ प्र. | अप. त्रिस | " | " | मनुष्य, तिर्यंच |
| | २६ प्र. | १०२ प्र. | पर्वा. एके. | " | " | " " देव |
| | २८ प्र. | १०२ प्र. | देव | पल्य का असं. भाग | १ से ८ | " " |
| | २८ प्र. | १०२ प्र. | नारक | अन्तर्मुहूर्त | पहला | " " |
| | २९ प्र. | १०२ प्र. | देव | आवलिका | ४ से ८/६ | मनुष्य |
| | २९ प्र. | १०२ प्र. | मनुष्य | पल्य का असं. भाग | १ से ४ | देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच |
| | २९, ३० प्र. | १०२ प्र. | विकलेभित्र | अन्तर्मुहूर्त | पहला | तिर्यंच, मनुष्य |
| | २९, ३० प्र. | १०२ प्र. | पंचे. तिर्यंच | " | १, २ | देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच |
| | ३० प्र. | १०२ | देव | " | ७, ८ | मनुष्य |
| | ३१ प्र. | १०३ | देव | आवलिका | ७ से ८/६ | " |
| | १ प्र. | १०३ | बप्रायोग्य | अन्तर्मुहूर्त | ८/७ से १० | उभय श्रेणि वाला यति |

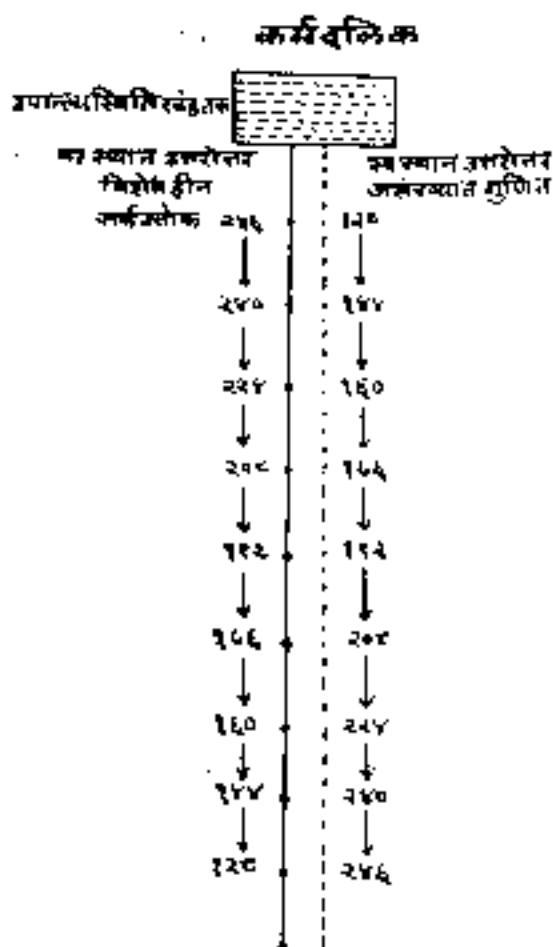
| संक्षिप्त | पत्रपत्र | संख्या | प्रायोगिक | लाल | पुण्यस्थान | स्वामी |
|-----------|----------|------------|---|---------------|-----------------|-------------------|
| १०१ प्र. | १ प्र. | १०२ | अग्रायोग्य | अन्तर्मुहूर्त | ८/३ से १० | उभय शेषि बाला यति |
| ११६ प्र. | १८ प्र. | ६६ | नारक | " | पहला | मनुष्य |
| २६ प्र. | ६६ | देव | देवोन् पूर्वकोटि | " | ४ से ८ | " |
| २६ प्र. | ६६ | मनुष्य | अन्तर्मुहूर्त | पहला | अपर्याप्त नारक | |
| ३० प्र. | ६६ | " | ३३ सागर | चौथा | देव, नारक | |
| ३१ प्र. | १०३ | देव | आवलिका | ७ से ८/९ | मनुष्य (यति) | |
| ४५ प्र. | २३ | ६५ | अप. एके. | अन्तर्मुहूर्त | पहला | तिर्यक्, मनुष्य |
| २५ | ६५ | अग. अस | " | " | " | " |
| २५ | ६५ | पर्या एके. | " | " | " | " |
| २६ | ६५ | " | " | " | " | देव |
| २८ | ६५ | देव | अन्तर्मुहूर्त न्यून पूर्व- कोटि का तीसरा भाग अधिक तीन पल्लोयम् | १ से ८/९ | मनुष्य, तिर्यक् | " |
| २८ प्र. | ६५ प्र. | नारक | अन्तर्मुहूर्त | पहला | " | " |
| २९ प्र. | ६६ प्र. | देव | आवलिका | ४ से ८/९ भाग | मनुष्य | " |

| संक्षेप | पत्रदृश्य | संखा | प्रायोग्य | काल | गुणस्थान | स्वामी |
|---------|-----------|----------|----------------|---------------|--------------|------------------|
| ६५ प्र. | २६ प्र. | ६५ | मनुष्य | ३३ सागर | १ से ४ | चारों गति के जीव |
| | २६ प्र. | ६५ | पर्याय, विकले. | अन्तर्मुहूर्त | पहला | तिर्यक, मनुष्य |
| | २६ प्र. | ६५ | पर्याय, तिर्यक | " | १, २ | चारों गति के जीव |
| | ३० प्र. | १०२ प्र. | देव | आवलिका | ७ से ८/९ भाग | यति (मनुष्य) |
| | ३० प्र. | ६५ | प. विकले. | अन्तर्मुहूर्त | पहला | तिर्यक, मनुष्य |
| | ३० प्र. | ६५ | प. पंचे, ति. | " | १, २ | चारों गति के जीव |
| | ३१ प्र. | १०३ प्र. | देव | आवलिका | ७ से ८/९ भाग | मनुष्य (यति) |
| | १ प्र. | ६६ | अप्रायोग्य | अन्तर्मुहूर्त | ८/९ से १० | उभय अणि वाले यति |
| ६४ प्र. | १ प्र. | ६५ | , | " | " | " |
| ६३ प्र. | २३ प्र. | ६३ | अप. एके. | " | पहला | मनुष्य, तिर्यक |
| | २४ प्र. | ६३ | अप. अस | " | पहला | " " |
| | २५ प्र. | ६३ | पर्याय, एके. | " | पहला | " " |
| | २६ प्र. | ६३ | " | " | पहला | " " |
| | २८ प्र. | ६५ | देव | आवलिका | पहला | " " |
| | २८ प्र. | ६३ | " | अन्तर्मुहूर्त | पहला | " " |
| | २८ प्र. | ६५ | वारक | आवलिका | पहला | " " |

| संक्षम | पत्रांशु | सत्ता | प्रायोग्य | काल | प्रकाशनाम् | स्थानी |
|---------|----------|-------|------------------|-------------|------------|-----------------|
| | २८ प्र. | ६३ | नारक | अन्तमुहूर्त | पहला | मनुष्य, तिर्यक् |
| | २९ " | ६३ | मनुष्य | " | " | " " |
| | २१ " | ६३ | पर्याप्ति-विचेति | " | " | " " |
| | २६ " | ६३ | पर्याप्ति-विकले | " | " | " " |
| | ३० " | ६३ | पर्याप्ति-विचेति | " | " | " " |
| | ३० " | ६३ | पर्याप्ति-विकले | " | " | " " |
| २६ प्र | १ " | ६० | अप्रायोग्य | " | ६/२ से १० | अपक श्रेणि वाला |
| २८ प्र. | १ | ६४ | " | " | " | " |
| २४ प्र. | २३ | ६४ | अप. एके. | " | पहला | मनुष्य, तिर्यक् |
| | २४ | ६४ | अप. अस | " | " | " " |
| | २५ | ६४ | पर्याप्ति-एके. | " | " | " " |
| | २६ | ६४ | " | " | " | " " |
| | २८ | ६३ | देव | आवश्यिका | " | " " |
| | २८ | ६३ | नारक | " | " | " " |
| | २९ | ६४ | मनुष्य | अन्तमुहूर्त | " | " " |

| संक्रम | पतदण्डह | सत्ता | प्रायोग्य | काल | गुणस्थान | स्वामी |
|---------|---------|-------|--------------|-------------|-----------|-------------------|
| ८४ प्र. | ८६ प्र. | ८४ | प, पंचे, ति. | अन्तमुहूर्त | पहला | मनुष्य, तिर्यक |
| | ८६ " | ८४ | प, विकले, | " | " | " " |
| | ८० | ८४ | प, पंचे, ति. | " | " | " " |
| | ८० " | ८४ | प, विकले, | " | " | " " |
| ८८ प्र. | ८३ | ८२ | अप, एके, | " | " | तिर्यक |
| | ८५ | ८४ | अप मनुष्य | आवलिका | " | " |
| | ८५ | ८२ | अप, अस | अन्तमुहूर्त | " | " |
| | ८५ | ८२ | पयी, एके, | " | " | " |
| | ८६ | ८२ | " | " | " | " |
| | ८६ | ८४ | मनुष्य | आवलिका | " | " |
| | ८८ | ८२ | प, पंचे, ति. | अन्तमुहूर्त | " | " |
| | ८८ | ८२ | प, विकले, | " | " | " |
| | ९० | ८२ | प, पंचे, ति. | " | " | " |
| | ९१ | ८२ | प, विकले, | " | " | " |
| ८९ प्र. | १ | ८२ | अप्रायोग्य | " | ६/२ से १० | क्षपक श्रेणि वाला |
| | " | " | " | " | " | " |

स्थिति खंडों की उत्कीरण विधि का आरूप



उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति संक्रम गतिस्थिति प्रमाण एवं द्वारी दर्शक प्रारूप

| क्रम | प्रकृति नाम | उत्कृष्ट-स्थिति संक्रम प्रमाण | वर्णित संक्रम | जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण | वर्णित संक्रम | जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण | वर्णित संक्रम | जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण |
|------|------------------------|---------------------------------|------------------------------------|----------------------------|----------------------------|----------------------------|---------------|----------------------------|
| | | | | | स्थानों गुण | वर्णित संक्रम | स्थानों गुण | वर्णित संक्रम |
| १ | जानानंवरण पत्रक | २ आवलोहीन ३० को.को.सागरो. | पहला गुप्तस्थान | १ समय | समयाधिक आवलो | १२ वा | | |
| २ | दर्शनावरण चतुर्पक | " | " | " | आवलोलका संख्याभागाधिक | " | | |
| ३ | निराकृति | " | " | " | आवलो पत्त्यासंख्याभाग | ६ वा | | |
| ४ | स्वयं नीड्डिअक | " | " | " | अत्तमुहूत | १३ वा | | |
| ५ | असातावेदनीय | " | " | " | | " | | |
| ६ | मातावेदनीय | ३ आवलोहीन ३० को.को.सागरो. | आवलिकाद्वितहीन ३० को.को.सागरोपम | आवल इत्यादि | पहलोपमासंख्या | ४ ते ५वे | | |
| ७ | भिष्यार-मोहनीय | अन्तमुहूतहीन ३० को.को.सागरो. | आवलिकान्तमुहूतहीन ३० को.को.सागरोपम | आवल हीन पत्त्यासंख्या | पहलोपमासंख्या | ५ पृष्ठे | | |
| ८ | मिथ्याहोनीय | सावनिकाद्विकान्तमुहूतहीन | आवलिकान्तमुहूतहीन ३० को.को.सागरोपम | आवल हीन पत्त्यासंख्या | भाग | " | | |
| ९ | सम्प्रकर्ण मोहनीय | ३० को.को.सागरोपम | आवलिकान्तमुहूतहीन ३० को.को.सागरोपम | आवल हीन पत्त्यासंख्या | भाग | " | | |
| १० | अनन्तालुवयोगपत्रक | आवनिकाद्विकहीन ४० को.को.सागरोपम | पहला गुणस्थान | १ समय | समयाधिक आवलिका | " | | |
| ११ | अप्रत्याल्प्या चतुर्पक | " | आवलिकान्तमुहूतहीन ४० को.को.सागरोपम | पत्त्योपमा- | पत्त्योपमासंख्या | " | | |
| १२ | संज्ञला क्रीष्ण | " | " | संख्येय भाग | भाग | " | | |
| १३ | प्रत्याल्प्या चतुर्पक | " | " | " | अत्तमुहूतहीन ३ मास | २१ | | |
| १४ | मात | " | " | " | अन्तमुहूतहीन ३ मास | १२ | | |
| १५ | मातावेदनीय | आवलिकाद्वितहीन ४० को.को.सागरोपम | पहला गुणस्थान | अत्तमुहूतहीन ३ मास | आवलिकाद्वितहीन ३ मास | ११ | | |
| १६ | माया | " | " | " | | " | | |
| १७ | लोक | " | " | " | | " | | |
| १८ | हमस्य चतुर्पक | आवलिकाद्वितहीन ४० को.को.सागरोपम | एक समय | १ पत्ता | समयाधिक आवलिका | १० वा | | |
| १९ | स्वीकेद नां सक्षेत्र | " | संख्यात चतुर्पक | १ पत्ता | सातमुहूत संख्यात चतुर्प | ६ वा | | |
| २० | | " | " | " | सातमुहूत पत्त्यासंख्या भाग | " | | |

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट स्थिति संक्षम प्रभाव | दर्शकीय | जगत्य रिक्ति संक्षम प्रभाव | घटिक्षणि | न. संख्या |
|-------------|---|---|---|-------------------------------------|------------|
| १६ उत्तरवेद | आवलिकार्तिकहीन ४० को.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ४० को.को. सागरोपम | पहला गुणस्थान; अन्तमुद्दत्त हीन आठ चर्ष | आवलिकार्तिकहीन च चर्ष | ८ चर्ष |
| २० वैश्य | नरकायु तियंचायु मनुष्यायु देवायु | नरकायु तियंचायु मनुष्यायु देवायु | आवलिकार्तिकहीन ३३ सागरोपम | समवाईक आवलिका | १, २, ४, ५ |
| २१ वैश्य | " " पल्य | " " पल्य | आवलिकार्तिकहीन ३३ सागरोपम | " " | १, २, ४ |
| २२ वैश्य | " " " " " | " " " " " | आवलिकार्तिकहीन ३३ सागरोपम | " " | १, २, ४ |
| २३ वैश्य | नरक गति; आनुपर्वा २ | नरक गति; आनुपर्वा २ | आवलिकार्तिकहीन ३० को.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० को.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| २४ वैश्य | तियंच गति; आनुपर्वा २ | तियंच गति; आनुपर्वा २ | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| २५ वैश्य | मनुष्यगति आनुपर्वा २ | मनुष्यगति आनुपर्वा २ | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| २६ वैश्य | देवगति; आनुपर्वा २ | देवगति; आनुपर्वा २ | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| २७ वैश्य | एकनिधि जाति | एकनिधि जाति | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| २८ वैश्य | विकलेन्द्रियाचिक जाति ३ | विकलेन्द्रियाचिक जाति ३ | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| २९ वैश्य | ओटारिक सप्तक वैक्रिय सप्तक | ओटारिक सप्तक वैक्रिय सप्तक | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| ३० वैश्य | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| ३१ वैश्य | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| ३२ वैश्य | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | आवलिकार्तिकहीन ३० जो.को. सागरोपम | १, २, ४ |
| ३३ वैश्य | आवलिका— १. चिकहीन अन्तः जो.को. | आवलिका— १. चिकहीन अन्तः जो.को. | आ. हिक हीन अन्तः आ. हीन ३० | आ. हिक हीन अन्तः आ. हीन ३० | १, २, ४ |
| ३४ वैश्य | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आहारक सप्तक तीजाय सप्तक | आ. हिक हीन आ. हीन | आ. हिक हीन आ. हीन | १, २, ४ |
| ३५ वैश्य | तीजाय सप्तक तीजाय सप्तक | तीजाय सप्तक तीजाय सप्तक | आ. हिक हीन आ. हीन | आ. हिक हीन आ. हीन | १, २, ४ |
| ३६ वैश्य | बाह्य संस्थान पञ्चक | बाह्य संस्थान पञ्चक | आ. हिक हीन आ. हीन | आ. हिक हीन आ. हीन | १, २, ४ |
| ३७ वैश्य | हुक्कक संस्थान गुभवण्डि एकादश | हुक्कक संस्थान गुभवण्डि एकादश | आ. हिक हीन आ. हीन | आ. हिक हीन आ. हीन | १, २, ४ |
| ३८ वैश्य | नीलवर्ण-तिक्तरस पैष अमृत वर्णादि | नीलवर्ण-तिक्तरस पैष अमृत वर्णादि | आ. हीन आ. हीन | आ. हीन आ. हीन | १, २, ४ |
| ३९ वैश्य | सप्तक | सप्तक | आ. हीन आ. हीन | आ. हीन आ. हीन | १, २, ४ |

| क्रम | प्रकृति नाम | उत्कृष्ट रिचर्टि संज्ञा प्रयोग | वरिस्थिति | उ. रिचर्टि संज्ञा प्रयोग स्वामी गुण. | अधन्य रिचर्टि संज्ञा प्रयोग | श्रिस्थिति | ज. संज्ञा स्वामी गुण. |
|------|-----------------|---|----------------------------------|---|-----------------------------|----------------|--------------------------|
| ४२ | शुभ विहायोगति | आचलिकाद्विहीन २० को.को. सा. पहला गुणस्थान | उदयासमिल्हीनतत्त्वद्वृत्त | अन्तमुहूर्त | १३ वा | ११ | ११ |
| ४३ | अशुभ विहायोगति | आचलिकाद्विहीन २० को.को. सा. पहला गुणस्थान | आचलिकाद्विहीन | १० | १० | १० | १० |
| ४४ | वस्त चन्द्रक | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ४५ | स्थिथर घट्टक | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ४६ | स्थावर | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ४७ | सूक्ष्म | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ४८ | जन्मयर्णित | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ४९ | साश्चारण | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ५० | अस्थिरपट्टक | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ५१ | आनन्द-उच्चोते | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| ५२ | फलाघात, उच्छवाय | १० | १० | १० | १० | १० | १० |
| | अनुखलयु, निमणि, | | | | | | |
| | उपथापत | | | | | | |
| ५३ | तीर्थेकर नाम | १० त्रिकर्त्तेन ग्रन्त को.को.सा. | १० त्रिकर्त्तेन ग्रन्त को.को.सा. | १० गुण- | १० | १० | १० |
| ५४ | उद्गत गोच | १० २० को.को. सा. | १० २० को.को. सा. | पहला गुण. | १० | १० | १० |
| ५५ | नीच गोच | १० त्रिकर्त्तेन | १० त्रिकर्त्तेन | | | | |
| ५६ | अन्तराय घन्तक | १० ३० को.को. सा. | १० ३० को.को. सा. | १० | १० | १० | १० |
| | | | | एक समय | | समयाधिक आचलिका | |

| प्रकृति भास | उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम प्रमाण | जघन्य अनुभाग संक्रम प्रमाण | उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम स्वामित्व | जघन्य अनुभाग संक्रम स्वामित्व |
|---|-------------------------------|----------------------------|---|--|
| ज्ञानावरण पंचक दक्षनावरण चतुष्क अस्तुराय पंचक | चतुः स्था. और सर्वधाति | द्विस्थान और सर्वधाति | युगलिक और आनतादि देव विना चारों गति के मिथ्याद्विटि | समयाधिक आवलिका शेष बारहवें गुणस्थानतीर्ती |
| निद्राद्विक | " | " | " | अम्. भासाधिक दो आव. शेष बारहवें गुणस्थान वाले अपने चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुण. वाले |
| स्त्यानद्वित्रिक | " | " | " | हतशूत अनुभाग सता वाले एकेन्द्रियादि |
| असातावेदनीय | " | " | " | " |
| सातावेदनीय | " | " | सयोगि. गुण. के चरम समयवतीर्ती | " |
| मिथ्यात्वमोहनीय | " | " | युगलिक तथा आनतादिक देवों विना चारों गति के मिथ्याद्विटि | अपने चरम प्रक्षेप के समय चौथे से सातवें गुणस्थान तक के मनुष्य |
| मिथ्यमोहनीय | द्विस्थानक और सर्वधाति | द्विस्थान और सर्वधाति | " | " |
| मिथ्यात्वमोहनीय | द्विस्थानक और देशधाति | एकस्थान और देशधाति | " | समयाधिक आव. शेष द्वुतकरण वाले यथासम्भव चारों गति के जीव ४ से ७ गुण. वाले |
| अनन्ता. चतुष्क | चतुः स्थान. और सर्वधाति | द्विस्थान और सर्वधाति | " | अपने चरम प्रक्षेप के समय यथासम्भव चारों गति के ४ से ७ गुण. वाले जीव |
| भ्रष्यम कथायाद्विक | " | " | " | अपने चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौवें गुण. वाले |
| संज्वलन क्रोध, मान, माया | " | एकस्थान. और देशधाति | " | " |
| संज्वलन लोभ | " | " | " | ममयाधिक आव. शेष अपक सूक्ष्म संपरायी |

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट अनुभाग संक्षम प्रमाण | जघन्य अनुभाग संक्षम प्रमाण | उत्कृष्ट अनुभाग संक्षम स्वामित्व | जघन्य अनुभाग संक्षम स्वामित्व |
|---|----------------------------------|-------------------------------|---|--|
| हास्य, रति, अरति, गोक, भग, जुगुप्सा | चतुःस्थान और सर्वधाति | द्विस्थान और सर्वधाति | युगलिक और आनतादिक देवों के बिना चारों गति के मिथ्याहृष्टि | अपने चरम प्रक्षेप के समय शपक नीवें गुण, बाले |
| पुरुषवेद | " | एकस्थान और देणवाति | " | " |
| स्त्रीवेद नपुंसकवेद | " | द्विस्थान और सर्वधाति | " | " |
| देवायु | " | " | मनुष्य, अनुत्तरवासी देव | स्व जघन्य बढ़ायु नरक बिना तीन गति के जीव |
| मनुष्यायु तिर्यंचायु | द्विस्थान और सर्वधाति | " | मनुष्य और तिर्यंच | स्व जघन्य बढ़ायु मनुष्य तिर्यंच |
| नरकायु | चतुःस्थान और सर्वधाति | " | देव बिना तीन गति के जीव | स्व जघन्य बढ़ायु देव बिना तीन गति के जीव |
| देवहिति | " | " | क्षपक स्वर्वंध विच्छेद से संयोगि केवली तक के जीव | असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जघन्य अनुभाग बांधकर आवलिका के बाद |
| मनुष्यहिति | " | " | सम्यमहृष्टि मिथ्याहृष्टि चारों गति के जीव | सूक्ष्म लक्ष्मि अप, निगोद जघन्य अनुभाग बांधकर आवलिका के बाद |
| तिर्यंचहिति | " | " | युगलिक और आनतादि देव बजित चारों गति के मिथ्याहृष्टि | हत प्रभूत अनुभाग सत्ता बाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि |
| नरकहिति | " | " | " | असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त अनुभाग बांधकर आवलिका के बाद |
| एकेन्द्रियादि जाति चतुर्ष | " | " | " | हत प्रभूत अनुभाग सत्ता ऐ सूक्ष्म एकेन्द्रियादि |
| पंचेन्द्रिय जाति, ब्रह्म- चतुर्ष, पराघात, उच्छ्रवास | " | " | क्षपक स्वर्वंध विच्छेद से संयोगि केवली तक के जीव | " |
| धीदारिक सम्पत्क | " | " | सम्यकमिथ्याहृष्टि चारों पति के जीव | " |

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम प्रमाण | जघन्य अनुभाग संक्रम प्रमाण | उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम स्वाभित्र | जघन्य अनुभाग संक्रम स्वामित्र |
|---|----------------------------------|-------------------------------|---|---|
| वैक्रिय सप्तक | चतुर्स्थान और सर्वधाति | द्विस्थान और सर्वधाति | क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक के जीव | असंझी पञ्चलिंग पर्याप्त जघन्य अनुभाग बांध, आवलिका के बाद |
| आहारक सप्तक | " | " | " | अप्रमत्त यति जघन्य अनुभाग बांध, आवलिका के बाद |
| तैजस-कार्मण सप्तक, अगुरुलघु, निमीण | " | " | " | हतप्रभूत अनुभाग सत्ता बाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि |
| प्रथम संहनन | " | " | सम्पर्खित, मिथ्याहटित चतुर्गंति के जीव | " |
| प्रथम संस्थान, शुभ विहायोगति, तुभग्निक | " | " | क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक के जीव | " |
| अन्तिम संस्थान पंचक व संहनन पंचक, अशुभ वर्णादि नवक | " | " | युगलिक और आनतादि देव विना चतुर्गंति के जीव | " |
| शुभ वर्णादि एकादश | " | " | क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक के जीव | " |
| अशुभ विहायोगति | " | " | युगलिक और आनतादि देवों वर्जित शेष चतुर्गंति के जीव | " |
| आतप | द्विस्थान और सर्वधाति | " | सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी चतुर्गंति के जीव | " |
| जद्योत नाम | चतुर्स्थान और सर्वधाति | " | " | " |
| तीर्थकर नाम | " | " | क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयो.के. तक के तीर्थकर | मनुष्य जघन्य अनुभाग बांध. आवलिका के बाद |
| स्थिरद्विक, यशःकीर्ति | " | " | क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयो.के. तक के जीव | हतप्रभूत अनुभाग सत्ता बाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि |
| स्थावर, सूक्ष्मत्रिक, अस्थिरद्विक, अयशः- कीर्ति, दुर्भंगत्रिक, नीच गोत्र | " | " | युगलिक और आनतादि देव वर्जित चारों गति के मिथ्याहटित | " |
| उच्च गोत्र | " | " | क्षपक स्वबंध विच्छेद से सयोगिकेवली तक का जीव | मृद्धम लव्विध अप, निशोद, जघन्य अनुभाग बांध आवलिका के बाद |

प्रदेश संक्रम स्वामित्व दर्शक प्रारूप

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व | जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व |
|--|--|--|
| जनावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक | गुणित कमीश सप्तम चरक से निकल पजे. तिर्यक में प्रथम आव. के चरम समय में | आपित कर्मा दसवें गुण- स्थान के चरम समय में अवधिदिकावरण का अवधि- दिकारहित और शेष आवरण का अवधिदिक सहित |
| तिद्रादिक | अपक सूक्ष्म संपराय चरम समय | स्वब्रह्मविष्टेद चरम समय में क्षणक आठवें गुणस्थान |
| स्वान्तर्द्वित्तिक | अपक नौवां गुणस्थान | १३२ सागरोपम सम्यक्त्व का पालन कर अपक यथा- प्रवृत्तकरण के चरम समय |
| असातावेदनीय | अपक सूक्ष्मसंपराय चरम समय | अपक अप्रभातगुणस्थान यथा- प्रवृत्तकरण के चरम समय |
| सातावेदनीय | दीर्घकालीन साता का बंद्र- कर असाता की बंधावलिका के चरम समय | अनुपशांत मोह अपक असाता के चरम बंध समय में |
| मिथ्यात्मभोहनीय | स्वक्षय के चरम प्रथेप के समय ४ से ७ गुणस्थानवर्ती | १३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर स्व-अपक यथा- प्रवृत्तकरण के चरम समय |
| मिथ्यमोहनीय | " | १३२ सागरी. सम्यक्त्व का पालन कर हिन्दू चरम स्थिति- बंड के चरम समय मिथ्या. |

| प्रकृति नाम | उत्तरार्द्ध प्रदेश संक्रम स्वामित्व | जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व |
|-----------------------------|--|--|
| सम्यक्त्वमोहनीय | दीर्घकाल उप. सम्यक्त्व पालन कर मिथ्या. के प्रथम समय सातवीं पृ. का नारक | १३२ सागरो. सम्यक्त्व का पालन कर द्विवरम स्थिति-खंड के चरम समय मिथ्या. |
| अनन्ता. चतुष्क | अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर स्व चरम प्रक्षेप समय सातवीं तारक | अल्पकाल बांध. १३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर स्व-धारक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में |
| भृथम कषायार्द्धक | स्व चरम प्रक्षेप के समय नौवें गुणस्थान में क्षपक | दीर्घ क्षपक अप्रमत्त यथा-प्रवृत्तकरण चरम समय में |
| संज्वलन क्रीध, मान, माधा | " | जघन्य योग से स्वबंध विच्छेद समय बढ़े हुए के चरम संक्रम के समय क्षपक नौवां गुण-स्थानवर्ती |
| संज्वलन लोम | स्व संक्रम के अन्त में क्षपक नौवें गुणस्थान वाला | अनुपशांत मोह क्षपक अपूर्व-करण प्रथम आवलिका के चरम समय |
| हास्य, रति, भय, जुगुप्ता | " | क्षपक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद के समय |
| अरति, शोक | " | क्षपक अप्रमत्त गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय |
| पुरुषवेद | स्व चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नवम गुणस्थानवर्ती | संज्वलन क्रीधवत् क्षपक नवम गुणस्थानवर्ती |

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व | अधन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व |
|--------------|---|--|
| स्त्रीवेद | स्व चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नवम गुणस्थानवर्ती | १३२ सागर सम्प्रकृत्व का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्त- करण के चरम समय |
| नपुंसकवेद | " | स्त्रीवेदवत् किन्तु तीन पल्य युगलिक मनुष्य भव अधिक |
| वापुचतुष्क | " | जघन्य योग से बांधे, अपने भव में समयाधिक अवलिका- रेष हो तब स्वसंक्रम की अपेक्षा |
| देवद्विक | पूर्वकोटि पृथक्त्व बध से पूरित कर क्षपक आत्मेण्युण- स्थान स्वविच्छेद से आव- निका के अन्त में | अल्पकाल बांधकर ७वीं नरक में जाकर, बहाँ से निकल विना बांधे द्विचरम स्थिति खड़ के उद्वलना के चरम समय में |
| मनुष्यद्विक | अल्पमुहूर्तद्विक श्यून ३३ सागर ७वीं नरक में पूरित कर तिर्यंच गति के प्रथम समय | सुधम निगोद में अल्पकाल बांधकर सातवीं नरक पृथ्वी से निकल विना बांधे चिरो- द्वलना के चरम समय |
| तिर्यंचद्विक | स्वचरम प्रक्षेप के समय क्षपक नवम गुणस्थान में | चार पल्य अधिक १६३ सागर विना बांधे क्षपक यथा- प्रवृत्तकरण के चरम समय |
| नरकद्विक | पूर्वकोटिपृथक्त्व वर्यन्त बध से पूरित कर स्वचरम प्रक्षेप समय क्षपक नवम गुणस्थान में | देवद्विकवत् उद्वलना के द्विचरम स्थितिखड़ के चरम समय |

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम स्वामित्व | जघन्य प्रदेश संक्रम स्वामित्व |
|--|--|--|
| एकेन्द्रियादिजाति- वरुण | स्ववरम प्रक्षेप के भूमध्य श्लेषक नौवें गुणस्थान में | साधिक १८५ सामर नहीं बांधकर श्लेषक यथा प्रवृत्त- करण के चरम समय |
| पंचेन्द्रियजाति, असच्चतुष्टक, परा- वात, उच्छ्वास | १३२ सामर सम्यक्त्व के काल में पुरित कर श्लेषक स्ववंध विच्छेद से आवलिका बाद | अनुपशांत मोह क्षणित कर्माण अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अन्त समय |
| ओदारिक सप्तक | सातवीं नरक से निकल पर्याप्त तिर्थीच में प्रथम आवलिका के अन्त में | सर्वलिप प्रदेश सत्ता बाला तीन पल्य की आयु बाला युगलिक के अन्त में |
| वैक्षिय सप्तक | पूर्व कोटिपृथकात्म पर्यन्त बंध से पूरित कर श्लेषक आठवें गुणस्थान में स्व-विच्छेद से आवलिका के बाद | देवद्विकावत् एकेन्द्रिय उद्व- लना के द्वितीय स्थितिष्ठड के चरम समय |
| आहारक सप्तक | श्लेषक अपूर्व स्ववंध विच्छेद से आवलिका के बाद | अल्पकाल बांधकर अविरत- उद्वलना के द्वितीय स्थिति- ष्ठड के चरम समय में |
| तीजस-कामणि सप्तक, अगुहलवृ- निमणि | " | अनुपशांत मोह क्षणित कर्माण अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अंत्य समय |
| प्रथम संहनन | उत्कृष्ट बंधकाल तक पुरित कर मनुष्यभव में प्रथम आव- लिका के बाद | " |

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट प्रवेश संक्रम स्वामित्व | जथन्य प्रवेश संक्रम स्वामित्व |
|---|--|---|
| प्रथम संस्थान, शुभ विहायोगति, सुभगत्रिक | क्षपक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद से आवलिका के बाद | अनुपशांतमोह क्षणित कर्माण अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अन्त समय |
| अन्तिम पांच संस्थान, संहेनन | क्षपक सूक्ष्म. चरम समय में | युगलिक में प्रथम तीन पल्य नहीं बांध, १३२ सागर सम्बद्ध का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में |
| अशुभ वर्णनवक, उपधात | " | क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय |
| शुभ वर्णादि एकादश | क्षपक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद से आवलिका के बाद | अनुपशांतमोह क्षणित कर्माण अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अन्त में क्षपक |
| अशुभ विहायो- गति | क्षपक सूक्ष्म. चरम समय में | युगलिक में प्रथम तीन पल्य न बांध, १३२ सागर सम्बन्ध का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में |
| आतप | स्व-चरम प्रक्षेप के समय क्षपक नौके गुणस्थान में | साधिक १८५ सागर नहीं बांधकर क्षपक अप्रमत्त यथा- प्रवृत्तकरण के अन्त में |
| उद्घोत | " | साधिक १६३ सागर नहीं बांध क्षपक अप्रमत्त यथा- प्रवृत्तकरण के अन्त में |

| प्रकृति नाम | उत्कृष्ट प्रवेश संक्रम स्वामित्व | जघन्य प्रवेश संक्रम स्वामित्व |
|-------------------------|---|--|
| तीर्थकर नाम | देशोन पूर्वकोटिहिक अधिक इ३ सागर बांध, स्वबंध विच्छेद से आवलिका के बाद | जघन्य योग से बांधे जिननाम की बंधावलिका के बाद के प्रथम समय |
| स्थिरहिक | क्षणक अपूर्वकरण स्वबंध विच्छेद के बाद | अनुपशांत मोह क्षपित कर्माण अपक अपूर्वकरण प्रथम आवलिका के अन्त में |
| यथाकीर्ति | अपक अपूर्वकरण छठे भाग के चरम समय में | " |
| स्थावर, सूक्ष्म, साधारण | स्वचरम अक्षेप के समय अपक नीवें नुणत्वान में | साधिक १३२ सागर न बांध क्षपक अप्रस्तुत यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में |
| अपर्याप्ति | क्षणक सूक्ष्म, चरम समय में | " |
| अस्थिरहिक, अयथाकीर्ति | " | क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में |
| दुर्भगत्रिक, नीच गोत्र | " | सुगलिक मे तीन पत्थ न बांध १३२ सागर सम्यक्त्व का पालन कर क्षपक यथाप्रवृत्तकरण के अन्त में |
| उच्च गोत्र | चार बार मोह, का उपशम किये क्षपित कर्माण क्षपक नीच गोत्र के चरम बंध के चरम समय में | सूक्ष्म निगोद में अल्पकाल बांध सातवीं पृष्ठी से से निकल बिना बांधे सूक्ष्म त्रस्म में उद्वलना के द्विचरम स्थिति खंड के चरम समय |

विध्यात आदि पञ्च प्रदेश संक्रमों में संकलित प्रकृतियों की सूची

| अनुक्रम | प्रकृतियाँ | विधि | पञ्च | प्रदेश | गुण सं. | संबंध सं. | कुल |
|---------|--------------------------|------|------|--------|---------|-----------|-----|
| १ | मतिज्ञानावरणीय | ० | ० | २ | ० | ० | २ |
| २ | श्रुतज्ञानावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ३ | अवधिज्ञानावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ४ | मनःपर्यावरणावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ५ | केवलज्ञानावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ६ | चक्षुदर्शनावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ७ | अवधिदर्शनावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ८ | अवधिदर्शनावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ९ | केवलदर्शनावरणीय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| १० | निद्रा | | | | १ | २ | २ |
| ११ | निद्रा निद्रा | | १ | १ | १ | १ | ५ |
| १२ | प्रचला | | ० | ० | १ | ० | १ |
| १३ | प्रचला-प्रचला | | १ | १ | १ | १ | ५ |
| १४ | स्त्र्यानुद्धि | | १ | १ | १ | १ | ५ |
| १५ | सातादेशनीय | | ० | ० | १ | ० | १ |
| १६ | असातावेदनीय | | १ | ० | १ | ० | १ |
| १७ | सम्यक्त्वमोहनीय | | ० | १ | १ | ० | १ |
| १८ | मिथ्यमोहनीय | | १ | १ | १ | १ | ४ |
| १९ | मिथ्यात्मभोहनीय | | १ | १ | ० | १ | ३ |
| २० | अनन्तानुबंधी क्रोध | | १ | १ | १ | १ | ४ |
| २१ | " मान | | १ | १ | १ | १ | ४ |
| २२ | " माया | | १ | १ | १ | १ | ४ |
| २३ | " लोभ | | १ | १ | १ | १ | ४ |
| २४ | अप्रस्त्राक्षयानीय क्रोध | | १ | १ | १ | १ | ४ |
| २५ | " मान | | १ | १ | १ | १ | ४ |
| २६ | " माया | | १ | १ | १ | १ | ४ |

| अनुक्रम | प्रकृतिर्थी | विकास | उद्देश्य | प्रथा- | | गुण सं. | सर्व सं. | कुल |
|---------|----------------------|-------|----------|-----------|-----------|---------|----------|-----|
| | | | | प्रवृत्ति | प्रवृत्ति | | | |
| २७ | अप्रत्याख्यानीय लोभ | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| २८ | प्रत्याख्यानीय क्रोध | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| २९ | “ मान | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ३० | “ माया | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ३१ | “ लोभ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ३२ | संज्ञक्लन | ० | १ | १ | १ | १/० | १ | ४/३ |
| ३३ | “ मान | ० | १ | १ | १ | १/० | १ | ४/३ |
| ३४ | “ माया | ० | १ | १ | १ | १/० | १ | ४/३ |
| ३५ | “ लोभ | ० | ० | १ | १ | ० | ० | १ |
| ३६ | हास्य नोकदाय | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ३७ | रति | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ३८ | अररति | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ३९ | शोक | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ४० | भय | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ४१ | जुगुरसा | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ४२ | पुरुषवेद | ० | १ | १ | १ | १/० | १ | ४/३ |
| ४३ | स्त्रीवेद | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ४४ | नपुंसकवेद | ० | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ४५ | देवायु | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० |
| ४६ | मनुष्यायु | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० |
| ४७ | तिर्यंचायु | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० |
| ४८ | नरकायु | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० |
| ४९ | देवगति | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ५० | मनुष्यगति | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ५१ | तिर्यंचगति | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ५२ | नरकगति | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ५३ | एकेन्द्रिय | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ५४ | द्वीन्द्रिय | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |
| ५५ | त्रीन्द्रिय | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ |

| अनुक्रम | प्रकृतियाँ | विवरण | निर्देश | यथा- प्रवृत्ति | गुण सं. | संख्या सं. | कुल |
|---------|--------------------------|-------|---------|-------------------|---------|------------|-----|
| ५६ | चतुरिन्द्रिय | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ५७ | पञ्चन्द्रिय | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ५८ | जीदारिक अंगोपांग | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ५९ | वैक्षिय शरीर | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६० | आहारक शरीर | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६१ | तैजस शरीर | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६२ | कामण शरीर | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६३ | औदारिक अंगोपांग | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६४ | वैक्षिय " | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६५ | आहारक " | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६६ | वज्रऋषभनाराच संहनन | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६७ | ऋषभनाराच | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६८ | ताराच | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६९ | अर्ध-ताराच | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७० | कीलिका | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७१ | सेवात | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७२ | समवतुरक संस्थान | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७३ | न्यग्रोध परिमंडल संस्थान | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७४ | सादि संस्थान | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७५ | वामन " | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७६ | कुञ्ज " | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७७ | हुण्डक " | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७८ | षणी | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ७९ | रघु | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ८० | रस | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ८१ | स्पर्श | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ८२ | देवानुपूर्वी | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ८३ | मनुष्यानुपूर्वी | | १ | १ | १ | १ | १ |
| ८४ | तिर्वचानुपूर्वी | | १ | १ | १ | १ | १ |

| अनुक्रम | प्रकृतिगति | विद्युत | विद्युत उपयोग | यथा- प्रवृत्ति | गुण सं- सर्व सं- | कुल |
|---------|----------------|---------|------------------|-------------------|---------------------|-----|
| ८५ | तरकानुपूर्वी | १ | १ | १ | १ | १ |
| ८६ | शुभनिह्रयोगति | १ | ० | १ | ० | ० |
| ८७ | अशुभनिह्रयोगति | १ | ० | १ | ० | ० |
| ८८ | पराघात | १ | ० | १ | ० | ० |
| ८९ | उद्धवास | १ | ० | १ | ० | ० |
| ९० | आतप | १ | १ | १ | ० | १ |
| ९१ | उच्चोत | १ | १ | १ | ० | १ |
| ९२ | अगुच्छमृ | १ | ० | १ | ० | ० |
| ९३ | तीर्थकरनाम | १ | ० | १ | ० | ० |
| ९४ | निर्माण | १ | ० | १ | ० | ० |
| ९५ | उपघात | ० | ० | १ | १ | १ |
| ९६ | वस्त्र | १ | १ | १ | ० | ० |
| ९७ | बादर | १ | १ | १ | ० | ० |
| ९८ | प्रयत्नि | १ | ० | १ | ० | ० |
| ९९ | प्रत्येक | १ | ० | १ | ० | ० |
| १०० | स्थिर | १ | ० | १ | ० | ० |
| १०१ | शुभ | १ | ० | १ | ० | ० |
| १०२ | सौभाग्य | १ | ० | १ | ० | ० |
| १०३ | सुख्वर | १ | ० | १ | ० | ० |
| १०४ | आदेय | १ | ० | १ | ० | ० |
| १०५ | यज्ञकीति | ० | ० | १ | ० | ० |
| १०६ | स्थावर | १ | १ | १ | १ | १ |
| १०७ | सूक्ष्म | १ | १ | १ | १ | १ |
| १०८ | अप्रयत्नि | १ | १ | ० | १ | १ |
| १०९ | साधारण | १ | १ | १ | १ | १ |
| ११० | अस्थिर | १ | १ | ० | १ | १ |
| १११ | अण्ड | १ | १ | ० | १ | १ |
| ११२ | दुर्भाग्य | १ | १ | ० | १ | १ |
| ११३ | दुःख्वर | १ | १ | ० | १ | १ |

| अनुक्रम | प्रकृतियाँ | विद्यालय | विद्यालय | वथा- प्रबूत | गुण सं. | सर्व सं | कुल |
|---------|--------------|----------|----------|----------------|----------|---------|-----|
| ११४ | मनादेय | १ | ० | १ | २ | ० | ३ |
| ११५ | अयमःकीर्ति | १ | ० | १ | २ | ० | ३ |
| ११६ | उच्च गोप | १ | १ | १ | ० | १ | ३ |
| ११७ | नीच गोप | १ | ० | १ | १ | ० | ३ |
| ११८ | दानान्तराय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| ११९ | लाभान्तराय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| १२० | भोगान्तराय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| १२१ | उपधोगान्तराय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| १२२ | वीर्यान्तराय | ० | ० | १ | ० | ० | १ |
| कुल | | ८६ | ५२ | ११० | ६७ ६३ | ५३ | — |

□■□